ॐ # ब्रह्मगीता ॐ

(सूतसंहितांतर्गत)



ॐ ॐ

अथास्याः सूतसंहितायाश्चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे

ब्रह्मगीता

प्रथमोऽध्यायः

मुनय ऊचुः—भवता सर्वमाख्यातं संक्षेपाद्विस्तरादपि । इदानीं श्रोतुमिच्छामो ब्रह्मगीतामनुत्तमाम् ॥ १ ॥
सर्वविज्ञानरत्नानामाकरस्य महात्मनः । कृष्णद्वैपायनस्यैव भवाञ्शिष्यः सुशिक्षितः ॥ २ ॥
त्वयैवाविदितं किंचिन्नास्ति सत्यं प्रभाषितम् । यदि प्रसन्नो भगवांस्तन्नो वक्तुमिहार्हसि ॥ ३ ॥
सूत उवाच—वक्ष्ये तामादरेणैव ब्रह्मगीतामनुत्तमाम् । श्रद्धया सहिता यूयं शृणुत ब्रह्मवित्तमाः ॥ ४ ॥
पुरा कल्पान्तरे देवाः सर्वे संभूय सादरम् । विचार्य सुचिरं कालं वेदानामर्थमुत्तमम् ॥ ५ ॥
संशयाविष्टचित्तास्तु तपस्तप्त्वा महत्तरम् । अभिजग्मुर्विधातारं प्रष्टुं देवा मुनीश्वराः ॥ ६ ॥
यत्राऽऽस्ते जगतां नाथः सर्वज्ञः सर्ववित्प्रभुः । महाकारुणिकः श्रीमान्ब्रह्मा भक्तहिते रतः ॥ ७ ॥

नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने । सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे[1] ॥ १ ॥

एवमुपनिषदेकसमधिगम्यब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानस्य निःश्रेयससाधनत्वमुक्तम् । एतच्च सर्वशाखासंमतमिति दर्शयितुमैतरेय-तैत्तिरीयकादिसमस्तोपनिषदर्थस्य साकल्येन प्रतिपादिकां ब्रह्मगीतां वक्तुं मुनीनां प्रश्नमवतारयति—**भवतेति** ॥ १-४ ॥

अथ तां वक्तुं पुरावृत्तमुदाहरति—**पुरेति** ॥ ५ ॥ ६ ॥

सर्वज्ञः सर्वविदिति । सामान्यतः सर्वं जानातीति सर्वज्ञः । विशेषेणापि सर्वं वेत्तीति **सर्ववित्** । यद्वा सर्वश्चासौ ज्ञश्चेति सर्वज्ञः । सर्वजगदात्मकश्चिदेकरसशरीर इत्यर्थः । एवंरूपः परशिव एव हि रजोगुणोपहितः सन्निखिलजगत्सर्जनाय ब्रह्मा भवति । परशिवस्य चैवंरूपत्वमाम्नायते—'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' इति ॥ ७ ॥

चतुर्थ यज्ञवैभवखण्ड का उत्तरार्द्ध

ब्रह्मगीता (अ. १—१२)

ब्रह्मगीति नामक पहला अध्याय

मुनियों ने निवेदन किया—हे श्रीरोमहर्षण जी !आपने संक्षेप व विस्तार दोनों तरह से सारा विषय हमें समझा दिया है। (परमशिव को हमने आपके शब्दों में तो समझने की चेष्टा की है किन्तु क्या समस्त वेदान्तों के वे ही एकमात्र प्रतिपाद्य हैं ?—इस जिज्ञासा से) अब हम श्रेष्ठ ब्रह्मगीता सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥ समस्त विद्याओं के निधान महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन मुनि के आप सुशिक्षित शिष्य हैं अतः आप ही ऐसे हैं जिन्हें कुछ अज्ञात नहीं रह गया है। यदि हम पर प्रसन्न हों तो कृपाकर हमें आप ब्रह्मगीता सुनाइये ॥ २—३ ॥

सूत जी ने कहा—हे ब्रह्मज्ञो ! मैं वह गीता आपको सुनाता हूँ, श्रद्धासहित सुनिये ॥ ४ ॥ प्राचीन किसी कल्प में सब देवताओं ने मिलकर वेदार्थ का विचार किया किंतु बिना तत्त्ववेत्ता गुरु के वे किसी निर्णय पर न पहुँच पाने से संशयग्रस्त हो गये। उन्होंने उग्र तप किया और वेद का निःसन्दिग्ध अर्थ पूछने के लिये ब्रह्मा जी के पास गये ॥ ५—६ ॥ ब्रह्मा जी सामान्यतः व विशेषतः सब कुछ जानते हैं। (जो केवल विशेषतः जानता है वह यद्यपि सब बता तो सकता है तथापि क्योंकि अनन्त वस्तुओं को प्रथमतः ही तत्तद्व्यक्तित्वेन बताना प्रारंभ करेगा जिससे बोद्धा को स्पष्ट बोध होना असंभव हो जायेगा। पहले

---
१. ङ. ञ. °कधर्मिणे ।

मेरुशृङ्गे वरे[1] रम्ये सर्वयोगिसमावृते । यक्षराक्षसगन्धर्वसिद्धाद्यैश्च सुसेविते ॥ ८ ॥
नानारत्नसमाकीर्णे नानाधातुविचित्रिते । शकुन्तसंघसंघुष्टे[2] नानातीर्थसमावृते ॥ ९ ॥
गुहाकोटिसमायुक्ते गिरिप्रस्रवणैर्युते । मधुरादिरसैः षड्भिः समृद्धेऽतीव शोभने ॥ १० ॥
तत्र ब्रह्मवनं नाम शतयोजनमायतम्[3] । शतयोजनविस्तीर्णं दीर्घिकाभिः सुसंयुतम् ॥ ११ ॥
[4]नानापशुसमायुक्तं नानापक्षिसमाकुलम् । स्वादुपानीयसंयुक्तं फलमूलैश्च संयुतम् ॥ १२ ॥
भ्रमद्भ्रमरसंछन्नसुगन्धकुसुमद्रुमम् । मन्दानिलसमायुक्तं मन्दातपसमायुतम् ॥ १३ ॥
निशाकरकरैर्युक्तं वनमस्ति महत्तरम् । तत्र जाम्बूनदमयं तरुणादित्यसंनिभम् ॥ १४ ॥
नवप्राकारसंयुक्तमशीतिद्वारसंयुतम् । महाबलसमोपेतैर्द्वारपालैश्च कोटिभिः ॥ १५ ॥
खड्गतोमरचापादिशस्त्रयुक्तैश्च रक्षितम् । पुष्पप्रकरसंकीर्णं पूर्णकुम्भैश्च संयुतम् ॥ १६ ॥
ज्वलद्दीपैः समायुक्तं पुष्पमालाविराजितम् । विचित्रचित्रसंयुक्तभित्तिकोटिसुशोभितम् ॥ १७ ॥
मुक्तादामसमायुक्तं वितानैर्मौक्तिकैर्युतम् । अभ्रगामिध्वजैर्युक्तं प्रांशुतोरणसंयुतम् ॥ १८ ॥
नृत्यगीतादिभिर्युक्तमप्सरोगणसेवितम् । नानाविधमहावाद्यैर्नानातालैश्च संयुतम् ॥ १९ ॥
मृदुमध्योग्रशब्दाढ्यं नानाकाहलसंयुतम् । वेदघोषसमायुक्तं स्मृतिघोषसमन्वितम् ॥ २० ॥
पुराणघोषसंयुक्तमितिहासरवान्वितम् । सर्वविद्यारवैर्युक्तं सर्वज्ञैश्च समावृतम् ॥ २१ ॥
अगाधजलपर्यन्तमवरोधसमन्वितम् । रथकोटिसमायुक्तं कोटिकोटिगजावृतम् ॥ २२ ॥

॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

सामान्यतः वस्तुओं को बताकर तदनंतर उनकी विशेषतायें बताने से ही स्पष्ट ज्ञान होता है यह अनुभवसिद्ध है । अतः गुरु की उभयविध योग्यता अपेक्षित है ।) संसार के वे मालिक हैं । भक्तों का हित करने में तत्पर ब्रह्मा परम करुणामय हैं ॥ ७ ॥ मेरु पर्वत के शिखर पर वे विराजमान थे । योगियों ने उन्हें घेर रखा था । यक्ष, राक्षस, गंधर्व, सिद्ध आदि उसी पर्वत पर उनकी सेवा के लिये उपस्थित थे ॥ ८ ॥ विभिन्न स्वर्ण आदि धातुओं और रत्नों से वह स्थल सजा था । अनेक तीर्थों से घिरा वह स्थान पक्षियों के कलरव से गूँज रहा था ॥ ९ ॥ आस-पास करोड़ों गुफायें थीं । मधुरादि छहों रसों वाले पहाड़ी झरने वहाँ बह रहे थे ॥ १० ॥ मेरु शिखर पर सौ योजन लम्बा और इतना ही चौड़ा ब्रह्मवन है जिसमें लम्बे सरोवर हैं ॥ ११ ॥ विभिन्न पशु-पक्षी, कन्द-मूल तथा स्वादिष्ट जल की वहाँ भरमार है ॥ २ ॥ वहाँ वृक्षों के फूलों पर भौंरे मँडरा रहे थे, मन्द-मन्द बयार बह रही थी, उदयकालीन हल्की धूप थी ॥ १३ ॥ चाँद की भी किरणें अभी पड़ रही थीं । उस महान् वन में ब्रह्मा जी का उदीयमान सूर्य की तरह स्वर्णिम पुर है ॥ १४ ॥ उसके नौ परकोटे और अस्सी दरवाजे हैं । बलशाली करोड़ों द्वारपाल उन पर तैनात रहते हैं ॥ १५ ॥ तलवार, भाले, धनुष आदि शस्त्रों से वे लैस रहा करते हैं । नाना फूलों के गुलदस्तों से और मंगल कलशों से वह सजा रहता है ॥ १६ ॥ पुष्पमालायें उस पुर को शोभित करती हैं और जलते हुए दीपकों से वह जगमगाता रहता है । उस नगर की करोड़ों दीवारें विचित्र चित्रों से अंकित हैं ॥ १७ ॥ मोतियों की रस्सियों से मोतियों के ही शामियाने वहाँ तने हैं । लम्बे-लम्बे ध्वज फहराते रहते हैं और ऊँची-ऊँची तोरणें बँधी रहा करती हैं ॥ १८ ॥ नाचती गाती अप्सरायें वहाँ रहती हैं जिससे चारों ओर विविध वाद्यों की व तालों की गुंजन बसी रहती है ॥ १९ ॥ हल्की, स्पष्ट व ऊँची हर तरह की आवाजें आती रहती हैं तथा हँसी-खेल की शरारतभरी बातें भी सुनाई देती हैं । वेद, स्मृति, पुराण व इतिहास का पारायण ब्रह्मपुर में चलता ही रहता है । क्योंकि सर्वज्ञ लोग वहाँ रहा करते हैं इसलिये सभी विद्याओं की चर्चायें वहाँ सुनी जा सकती हैं ॥ २०—२१ ॥ वह पुर वहाँ तक फैला है जहाँ से आगे फिर अगाध जल है । नगर के चारों ओर किलाबन्दी है । करोड़ों रथ और उनसे भी अधिक हाथी घोड़े तथा अस्त्र-शस्त्रयुक्त बलिष्ट असंख्य

१. घ. °शृङ्गव° । २. ङ. °संघृष्टे । ३. घ. °म् ॥ दशयोजन° । ४. घ. झ. °नानापक्षिसमायुक्तं नानामृगस° ।

कोटिकोटिसहस्रैश्च महाश्वैश्च विराजितम् । अस्त्रशस्त्रादिसंयुक्तैरसंख्यातबलान्वितैः ॥ २३ ॥
असंख्यातैर्भटैर्नित्यं रक्षितं पुरमुत्तमम् । अस्ति पुण्यवतां प्राप्यमप्राप्यं पापकर्मणाम् ॥ २४ ॥
तस्मिन्नन्तःपुरे शुद्धे सहस्रस्थूलसंयुते । सर्वलक्षणसंयुक्ते सर्वालंकारसंयुते ॥ २५ ॥
मृदुतोरणसंयुक्ते कल्पवृक्षसमन्विते । कण्ठीरवमुखैर्युक्ते षट्पदस्वनसंयुते ॥ २६ ॥
मृदुतल्पसमोपेते रत्ननिर्मितमण्डपे । देव्या चापि सरस्वत्या वर्णविग्रहया सह ॥ २७ ॥
सर्वशब्दार्थभूतस्तु ब्रह्मा निवसति प्रभुः । तत्र देवा द्विजा गत्वा ददृशुर्लोकनायकम् ॥ २८ ॥
नानारत्नसमोपेतं विचित्रमुकुटोज्ज्वलम् । रत्नकुण्डलसंयुक्तं प्रसन्नवदनं शुभम् ॥ २९ ॥
नानारत्नसमोपेतहाराभरणभूषितम् । महार्हमणिसंयुक्तकेयूरकरसंयुतम् ॥ ३० ॥
विचित्रकटकोपेतमङ्गुलीयकशोभितम् । उत्तरीयकसंयुक्तं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ॥ ३१ ॥
नानारत्नसमोपेतं तुन्दबन्धविराजितम् । चन्दनागरुकर्पूरक्षोददिग्धतनूरुहम् ॥ ३२ ॥
सुगन्धकुसुमोत्पन्ननानामालाविभूषितम् । शुक्लवस्त्रपरीधानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥ ३३ ॥
स्वभासा सकलं नित्यं भासयन्तं परात्परम् । सुरासुरमुनीन्द्रैश्च वन्द्यमानपदाम्बुजम् ॥ ३४ ॥
तं दृष्ट्वा सर्वकर्तारं साक्षिणं तमसः परम् । महाप्रीतिसमोपेताः प्रसन्नवदनेक्षणाः ॥ ३५ ॥
संजातपुलकैर्युक्ता विवशा गद्गदस्वराः । प्रकाशितसुखाब्ध्यन्तर्निमग्ना निर्मलावृतम् ॥ ३६ ॥
निरस्तनिखिलध्वान्ताः प्रणम्य वसुधातले । शिरस्यञ्जलिमाधाय सर्वे देवाः समाहिताः ॥ ३७ ॥
तुष्टुवुर्ब्रह्मीशानं सर्वलोकपितामहम् । मुक्तिदं पुण्यनिष्ठानां दुःखदं पापकर्मणाम्[1] ॥ ३८ ॥

॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥
निर्मलावृतमिति । निर्मलैः सनकादिदिव्ययोगिभिः परिवृतमित्यर्थः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८॥

सैनिक उस उत्तम पुर की रक्षा के लिये उपस्थित रहते हैं । वहाँ वे ही जन पहुँच सकते हैं जिनके पास अर्जित पुण्य प्रभूत हो । पापशाली का वहाँ पहुँचना असंभव है ॥ २२—२४ ॥ उस शुद्ध पुर के अंदर रत्नमण्डप में देवी सरस्वती सहित ब्रह्मा जी विराजमान थे । मण्डप को सहारा देने के लिये छोटे-बड़े हजारों खम्बे-खूँटे थे । सब तरह से अलंकृत और शुभ वह मण्डप था ॥ २५ ॥ कल्पवृक्ष उस मण्डप में ही था । कोमल पत्तों के तोरणों से वह मण्डप सजा था । हाथी आदि वहाँ मौजूद थे तथा सजे फूलों पर भ्रमर गूँज रहे थे ॥ २६ ॥ वहाँ कोमल गद्देदार चौकी पर ब्रह्माजी देवी सरस्वती सहित बैठे थे ॥ २७ ॥ देवी शब्दरूप और ब्रह्मा शब्दार्थ रूप हैं । वहाँ उपस्थित उन ब्रह्माजी का दर्शन देवताओं ने किया ॥ २८ ॥ प्रसन्न मुख वाले ब्रह्मा जी अनेक रत्नों से, विभिन्न रंगों की मणियों से जटित मुकुट से, रत्नकुण्डलों से, रत्नमय हारों से, बहुत महँगी मणियों के बाजूबंदों से, विभिन्न प्रकार की अंगूठियों से विभूषित थे ॥ २९—३०½ ॥ सफेद यज्ञोपवीतधारी ब्रह्माजी ने उत्तरीय ओढ़ा हुआ था और कटि पर सुंदर करधनी बाँध रखी थी । उनके केश चंदन, अगरु, कर्पूर आदि से सुवासित थे । सुगन्धित फूलों की अनेक मालायें वे पहने हुए थे । वस्त्र उनके सफेद थे और उनका अपना रंग सोने की तरह था ॥ ३१—३३ ॥ परात्पर वे ब्रह्माजी अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित कर रहे थे । सुर, असुर, मुनीन्द्र आदि सभी प्रजायें उनकी चरणवंदना अवश्य करती हैं ॥ ३४ ॥ सर्वकर्ता, सर्वसाक्षी, अज्ञान से परे उन प्रजापति का दर्शन कर देवता बहुत प्रसन्न हुए और उनके चेहरे खिल उठे ॥ ३५ ॥ देवता पुलकित हो गये तथा आनंदवश उनके गले रुँध गये । ब्रह्माजी के दर्शन से जो अत्यधिक सुख स्फुटित हुआ था उसी का वे आस्वादन करने लगे । वहाँ पहुँचने से ही मानो उनका सारा अज्ञान निवृत्त हो गया । सनकादि से घिरे ब्रह्माजी को सबने दण्डवत् प्रणाम किया और सिर पर अंजलि बाँधकर एकाग्र हो उनकी स्तुति की । सारे संसार के उत्पादक, शासक, पुण्यात्माओं को मोक्ष देने वाले, पापात्माओं को दुःख देने वाले ब्रह्मा की देवताओं ने यों स्तुति की—॥ ३६—३८ ॥

१. च. °कर्मिणा° ।

देवा उचुः—ब्रह्मणे ब्रह्मविज्ञानदुग्धोदधिविधायिने । ब्रह्मतत्त्वदिदृक्षूणां ब्रह्मदाय नमो नमः ॥ ३९ ॥
कष्टसागरमग्नानां संसारोत्तारहेतवे । साक्षिणे सर्वभूतानां साक्ष्यहीनाय वै नमः ॥ ४० ॥
सर्वधात्रे विधात्रे च सर्वद्वंद्वापहारिणे । सर्वावस्थासु सर्वेषां साक्षिणे वै नमो नमः ॥ ४१ ॥
परात्परविहीनाय पराय परमेष्ठिने । परिज्ञानवतामात्मस्वरूपाय नमो नमः ॥ ४२ ॥
पद्मजाय पवित्राय पद्मनाभसुताय च । पद्मपुष्पेण पूज्याय नमः पद्मधराय च ॥ ४३ ॥
सुरज्येष्ठाय सूर्यादिदेवतातृप्तिकारिणे । सुरासुरनरादीनां सुखदाय नमो नमः ॥ ४४ ॥
वेधसे विश्वनेत्राय विशुद्धज्ञानरूपिणे । वेदवेद्याय वेदान्तविधये वै नमो नमः ॥ ४५ ॥
विधये विधिहीनाय विधिवाक्यविधायिने । विध्युक्तकर्मनिष्ठानां नमो विद्याप्रदायिने ॥ ४६ ॥
विरिञ्चाय विशिष्टाय विशिष्टार्तिहराय च । विषण्णानां विषादा[1]ब्धिविनाशाय नमो नमः ॥ ४७ ॥
नमो हिरण्यगर्भाय हिरण्यगिरिवर्तिने । हिरण्यदानलभ्याय हिरण्यातिप्रियाय च ॥ ४८ ॥
शतानन्दाय शान्ताय शांकरज्ञानदायिने । शमादिसहितस्यैव ज्ञानदाय नमो नमः ॥ ४९ ॥

ब्रह्मतत्त्वेति । ब्रह्मणः पारमार्थिकं निष्प्रपञ्चसच्चिदानन्दाखण्डैकरसरूपं साक्षात्कर्तुमिच्छतां मुमुक्षूणां प्रत्यगात्मन उक्तलक्षण-ब्रह्मरूपबोधकायेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

साक्षिण इति । सर्वदा सर्ववस्तूनां साक्षिणे साक्ष्याननुप्रविष्टेन स्वरूपचैतन्येन भासकायेत्यर्थः । **साक्ष्यहीनायेति** । परमार्थोपाधावज्ञान[2]तत्कार्यस्य साक्ष्यस्याभावात्तद्विहीनः ॥ ४० ॥

सर्वधात्र इति । सर्वस्य जगतो धारयित्रे । **विधात्रे** निर्मात्र इत्यर्थः । **सर्वावस्थास्विति** । सर्वेषां प्राणिनां जाग्रदादिसर्वावस्थासु साक्षिचैतन्यरूपेणावस्थितायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

परात्परविहीनायेति । महदादि भूतभौतिकादिकार्यापेक्षया परं तस्मादपि परमव्यक्तं मायापरपर्यायं तद्रहितायेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

विश्वनेत्रायेति । विश्वस्य सर्वस्य नेत्रवत्प्रकाशकायेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

विधिहीनायेति । विधिर्विधाताऽन्यो यस्य नास्ति स तथोक्तः ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

शतानन्दायेति । शतगुणित आनन्दो यस्य । यद्वा शतसंवत्सरं सुखेन जीवनं यस्य स तथोक्तः ॥ ४९-५६ ॥

देवता बोले—ब्रह्मविद्यारूप दूध का समुद्र बनाने वाले ब्रह्मा को नमस्कार है । ब्रह्मतत्त्व देखना चाहने वालों को ब्रह्मदर्शन कराने वाले आपको नमस्कार है ॥ ३९ ॥ कष्टों के सागर में डूबते प्राणियों को संसार से उबारने वाले, सब जीवों के साक्षी, सारे साक्ष्य से अस्पृष्ट आपको प्रणाम है ॥ ४० ॥ सारे जगत् का धारण करने वाले, सबका निर्माण करने वाले, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को निवृत्त करने वाले, जाग्रदादि सब अवस्थाओं में सबके साक्षी बने रहने वाले आपको बारम्बार प्रणाम है ॥ ४१ ॥ मायारहित, संसार से परे, सबसे परम तथा ज्ञानियों के आत्मरूप आपको नमस्कार है ॥ ४२ ॥ कमल में पैदा होने वाले, पवित्र, विष्णु के पुत्र, कमल के फूल से पूजनीय, कमल हाथ में धारण करने वाले आपको प्रणाम है ॥ ४३ ॥ देवताओं में श्रेष्ठ, सूर्यादि देवताओं को तृप्त करने वाले, सुर असुर मनुष्य आदि को सुख देने वाले आपको हम नमन करते हैं ॥ ४४ ॥ सारे संसार के प्रकाशक, विशुद्ध ज्ञानरूप, वेद से ज्ञेय, वेदान्तों में विधिमुख से कहे आप ब्रह्मा को नमस्कार है ॥ ४५ ॥ जिसका कोई अन्य विधाता नहीं, विधिवाक्यों का उपदेश करने वाले, विधियों में बताये कर्मों को श्रद्धापूर्वक निर्वर्तित करने वालों को ब्रह्मविद्या देने वाले आप विधि को प्रणाम है ॥ ४६ ॥ सबसे विशिष्ट, तीव्र कष्ट निवारक, दुःखी जिस दुःखसमुद्र में डूबते हों उसे नष्ट करने वाले, 'विरिंच' नामक आप सृष्टिरचयिता को नमन करते हैं ॥ ४७ ॥ स्वर्णपर्वत पर रहने वाले, स्वर्णदान करने से लभ्य, जिन्हें स्वर्ण अतिप्रिय है उन आप हिरण्यगर्भ को प्रणाम है ॥ ४८ ॥ जिन्हें अन्यों से सैकड़ों गुणा अधिक आनंद है उन शांत, शिवज्ञान को देने वाले, शमादि साधनों वालों को ही ज्ञान देने वाले आप प्रजापति को प्रणाम है ॥ ४९ ॥ शिवभक्त, देहधारियों का कल्याण करने वाले तथा शंकर के ज्ञान

---

१. च. °दार्तिवि° । २. झ. °नकार्य° ।

शंभवे शंभुभक्तानां शंकराय शरीरिणाम् । शांकरज्ञानहीनानां शत्रवे वै नमो नमः ॥ ५० ॥

नमः स्वयंभुवे नित्यं [1]स्वयंभुब्रह्मदायिने । स्वयं ब्रह्मस्वरूपाय स्वतन्त्राय परात्मने ॥ ५१ ॥

द्रुहिणाय दुराचारनिरतस्य दुरात्मनः । दुःखदायान्यजन्तूनामात्मदाय नमो नमः ॥ ५२ ॥

[2]वन्द्यहीनाय [3]वन्द्याय वरदाय परस्य च । वरिष्ठाय वरिष्ठानां चतुर्वक्त्राय वै नमः ॥ ५३ ॥

प्रजापतिसमाख्याय प्रजानां पतये सदा । प्राजापत्यविरक्तस्य नमः प्रज्ञानदायिने[4] ॥ ५४ ॥

पितामहाय पित्रादिकल्पनारहिताय च । पिशुनागम्यदेहाय पेशलाय नमो नमः ॥ ५५ ॥

जगत्कर्त्रे जगद्गोप्त्रे जगद्धन्त्रे परात्मने । जगद्दृश्यविहीनाय चिन्मात्रज्योतिषे नमः ॥ ५६ ॥

विश्वोत्तीर्णाय विश्वाय विश्वहीनाय साक्षिणे । स्वप्रकाशैकमानाय नमः पूर्णपरात्मने ॥ ५७ ॥

स्तुत्याय स्तुतिहीनाय स्तोत्ररूपाय तत्त्वतः । स्तोतॄणामपि सर्वेषां सुखदाय नमो नमः ॥ ५८ ॥

सूत उवाच—एवं ब्रह्माणमादित्याः स्तुत्वा भक्तिपुरःसरम् । पृष्टवन्तस्तु सर्वेषां वेदानामर्थमादरात् ॥ ५९ ॥

ब्रह्माऽपि ब्रह्मविन्मुख्यः[5] सर्वदेवैरभिष्टुतः । प्राह गम्भीरया वाचा वेदानामर्थमुत्तमम् ॥ ६० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मगीतिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

स्वप्रकाशैकमानायेति । स्वप्रकाशस्वरूपचैतन्यमेकमेव मानं यस्य स तथोक्तः । स्वरूपप्रकाशेनैव प्रकाशमानो न तु मानान्तरगम्य इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

स्तुतिहीनायेति । गुणिनिष्ठगुणाभिधानं हि स्तुतिः । सा च परमार्थतो निर्गुणस्य न भवतीति स्तुतिहीनः ॥ ५८ ॥

वेदानामर्थमिति । समस्तैर्वेदैस्तात्पर्येण प्रतिपादितो योऽर्थः स कीदृग्विध इति पृष्टवन्त इत्यर्थः ॥ ५९ ॥ ६० ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मगीतिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

से रहित लोगों के शत्रु आप कल्याणरूप ब्रह्मा को नमस्कार है ॥ ५० ॥ स्वयं होने वाले, वेद के उपदेष्टा, खुद ब्रह्मरूप स्वतंत्र आप परमात्मा को नमस्कार है ॥ ५१ ॥ जो व्यक्ति सदा दुराचार में तत्पर रहता है ऐसे दुरात्मा को दुःख देने वाले व अन्यों को आत्मदान करने वाले आप द्रुहिण को नमस्कार है । ('द्रुह्यति दुष्टेभ्यः' इस व्युत्पत्ति से दुष्टों पर क्रोध करने वाले को द्रुहिण कहते हैं । वैसे यह ब्रह्माजी का एक नाम है ।) ॥ ५२ ॥ जिनका कोई वंदनीय नहीं, जो स्वयं सबके वंदनीय हैं, अन्यों को वरदान देने वाले तथा वरिष्ठों में सबसे वरिष्ठ आप चतुर्मुख को प्रणाम है ॥ ५३ ॥ प्रजापतिपद से भी वैराग्य वाले को ब्रह्मज्ञान देने वाले, सब प्रजाओं के पालक, आप प्रजापति को सदा प्रणाम है ॥ ५४ ॥ जिनके पिता इत्यादि की कल्पना ही नहीं की जा सकती, चुगलखोर जिन्हें नहीं पा सकते उन सूक्ष्म आप पितामह को हम नमस्कार करते हैं ॥ ५५ ॥ जगत् बनाने वाले, उसकी रक्षा करने वाले, उसका संहार करने वाले, जगद्रूप दृश्य से अस्पृश्य, चिन्मात्र प्रकाशरूप आप परमात्मा को प्रणाम है ॥ ५६ ॥ सबसे परे, सर्वरूप, सर्वरहित, साक्षी, किसी प्रमाण के विषय न होते हुए स्वरूपभूत प्रकाश से प्रकाशमान आप पूर्ण परमात्मा को प्रणाम है ॥ ५७ ॥ स्तुति के योग्य, वस्तुतः निर्गुण होने से जिनकी स्तुति की नहीं जा सकती, सर्वरूप होने से जो स्वयं स्तोत्ररूप भी हैं, सभी स्तुतिकर्ताओं को सुख देने वाले आप तत्त्वभूत को (वास्तविक तत्त्व को) नमस्कार है ॥ ५८ ॥

सूत जी बोले—अदितिसुत देवताओं ने यों भक्तिपूर्वक ब्रह्माजी की स्तुतिकर उनसे श्रद्धासहित वेदों का अर्थ पूछा ॥ ५९ ॥ ब्रह्मवेत्ताओं में मुख्य ब्रह्माजी ने भी सब देवों से प्रशंसित होकर गंभीर वाणी से वेदों का सर्वोत्तम अर्थ उन्हें बताया ॥ ६० ॥

१. स्वयंभुपदं वेदपरं 'ब्रह्म स्वयंभु' इति श्रुतेः (बृ. २. ६. ३) । २. ङ. वन्धहीनाय । ३. ङ. वन्धाय । ४. घ. झ. °ज्ञाप्रदा° । ५. ङ. °न्मुख्याः स° ।

द्वितीयोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच—अवाच्य एव वेदार्थः सर्वथा सर्वचेतनैः । तथाऽपि वक्ष्ये भक्तानां युष्माकं शृणुताऽऽदरात् ॥ १ ॥

आत्मसंज्ञः शिवः शुद्ध एक एवाद्वयः सदा । अग्रे सर्वमिदं देवा आसीत्तन्मात्रमास्तिकाः ॥ २ ॥

ततो नान्यन्मिषत् किंचित्स पुनः कालपाकतः । प्राणिनां कर्मसंस्कारात्स्वशक्तिगतसत्त्वतः ॥

स ऐक्षत जगत्सर्वं नु सृजा इति शंकरः ॥ ३ ॥

अथ ब्रह्माऽपि पृष्टं सकलवेदानामर्थं वक्तुमारभमाणस्तस्य विवक्षितस्याद्वितीयनिर्गुणब्रह्मस्वरूपात्मकस्य वेदार्थस्याभिधावृत्त्यविषयत्वं तावदाह—**अवाच्य** इति । उक्तविधब्रह्मलक्षणो यो वेदार्थः सोऽयं शब्देन सर्वप्रकारेणाप्यभिधावृत्त्या प्रतिपादयितुमशक्य एव । तस्य निर्गुणत्वेन तत्र जातिगुणक्रियादीनां शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानामभावात् । अत एव श्रुतिस्तस्य वागगोचरत्वं दर्शयति—'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति । **तथाऽपीति** । एवमभिधावृत्त्यविषयत्वेऽपि लक्षणावृत्त्या प्रतिपादयिष्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

तत्र तावदृग्वेदस्य प्राथम्यात्तदीयोपनिषत्प्रतिपाद्यमर्थं वक्तुकाम 'एष पन्था' इत्यादिसगुणभागस्य चित्तैकाग्र्यादिजननद्वारा निर्गुणभागशेषत्वाद्, अनन्यशेषतया स्वातन्त्र्येण फलवद्ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानजनकस्य 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादिनिर्गुणभागस्यैवार्थं संगृह्णाति—**आत्मसंज्ञ** इत्यादिना । तत्र जलविकारस्य तरङ्गबुद्बुदादेर्वस्तुतः कारणजलस्वरूपानतिरेकवन्नामरूपविकारात्मककार्यप्रपञ्चस्यापि कारणभूतादद्वितीयात्परमेश्वरादव्यतिरिक्तत्वं साधयितुं तत्सकाशात्सृष्टिराम्नायते । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत' इत्यस्याः श्रुतेरर्थं ब्रूते—**आत्मेति** । आप्नोत्युपादानकारणतया स्वकार्यभूतं सर्वं जगदन्तर्बहिश्च व्याप्नोतीत्यात्मा । उक्तं हि—'यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते' ॥ इति । स चाऽऽत्मसंज्ञः सच्चिदानन्दलक्षणः परशिव एव न तु प्रधानं परमाण्वादिकं वा पराभिमतम् । तस्याचेतनत्वेनानात्मत्वात् । यतोऽयं शिवोऽत एव **शुद्धः** । अशुद्धेः कर्मसंवन्धहेतुकत्वाद्भगवति तस्मिंस्तत्संवन्धस्य च प्रागेव निरस्तत्वात् । उक्तं हि—'ब्रह्मणः कर्मसंवन्धाभावं चाऽऽह परा श्रुतिः' इति (४. पूर्व. ४७.५०) । **तस्याद्वय** इति विशेषणेन विजातीयभेदनिरासः । **एवकारेण** सजातीयान्तरनिरासः **एक** इति स्वगतभेदनिरासः । सृष्टिप्राक्कालवत्सृष्ट्युत्तरकालमपि निर्विकारतया तस्य परमेश्वरस्येदृग्रूपत्वमिति द्योतयितुं **सदेति** विशेषणम् । **अग्रे** सृष्टेः प्राक्काल इदं परिदृश्यमानं नामरूपात्मकं **सर्वं** जगदुक्तलक्षणात्मस्वरूपमेवा**ऽऽसीत्** । अव्याकृतात्मना तत्स्वरूप एव लीनमासीदित्यर्थः ॥ २ ॥

मात्रचो व्यवच्छेद्यं दर्शयति—**तत** इति । **ततस्**तस्मादात्मस्वरूपादन्य**न्ना**मरूपात्मना पृथग्भूतं **मिषत्**स्फुरत्प्रकाशमानं **किमपि**[1] वस्तु नाऽऽसीदित्यर्थः । एवं कारणात्मना सद्भावप्रतिपादनादसदेव कार्यमुत्पद्यत इति पक्षो निरस्तः । नन्वेवमसङ्गोदासीनस्य स्व-

वेदार्थ का विचार नामक दूसरा अध्याय

ब्रह्माजी ने कहा—वेद का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ किसी भी चेतन द्वारा सर्वथा अवाच्य ही है, तथापि क्योंकि आप भक्त हैं अतः मैं उसे बताता हूँ, श्रद्धासहित सुनिये। (वेदार्थ है शिव जो जात्यादि प्रवृत्तिनिमित्त वाले न होने से शब्दशक्ति के विषय नहीं। लक्षणा से ही उन्हें समझा जा सकता है। वस्तुतः लक्ष्य होने पर भी लक्ष्यतावच्छेदक की संभावना हो सकती है जो व्यक्तिलक्षणा स्थलों के दृष्टान्त से हटाई जा सकती है कि संभावना उठे ही नहीं, ऐसी व्यवस्था के लिये आचार्यों ने बताया है कि शब्दों से अशिव की व्यावृत्ति ही होती है, आगे शिव स्वयंप्रकाश होने से भासते हैं। महावाक्यों की भी यों ही योजना है। साहस्त्री में (१८.१९७) कहा है 'तच्छब्दः प्रत्यगात्मार्थस्तच्छब्दार्थस्त्वमस्तथा । दुःखित्वाप्रत्यगात्मत्वं वारयेतामुभावपि ॥ एवं च नेति नेत्यर्थं गमयेतां परस्परम् ॥' इस प्रकार अवाच्य होने पर भी शास्त्रप्रवृत्ति का साफल्य है।) ॥ १ ॥

सृष्टि के पूर्व यह सारा दृश्य प्रपंच हमेशा अद्वितीय रहने वाला, अकेला, शुद्ध, आत्मा नामक शिव ही था ॥ २ ॥ उससे अन्य कोई भी जड-चेतन वस्तु नहीं थी। कालवश जब प्राणियों के पूर्वार्जित कर्म फलोन्मुख हुए तब शंकर की अपनी

---

१. मिषद्व्यापारवदितरद्वेति भाष्यं संग्रहीतुमस्वप्रकाशमानमपि नान्यदासीदित्याह—किमपीति ।

स पुनः सकलानेतााँल्लोकानात्मीयशक्तितः । यथापूर्वं क्रमेणैव सुरा असृजत प्रभुः ॥ ४ ॥

तं हरं केचिदिच्छन्ति केचिद्विष्णुं सुरोत्तमाः ॥ ५ ॥

केचिन्मामेव चेच्छन्ति केचिदिन्द्रादिदेवताः । केचित्प्रधानं त्रिगुणं स्वतन्त्रं केवलं जडम् ॥ ६ ॥

प्रतिष्ठस्याद्वितीयस्याशरीरस्याऽऽत्मनः स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपमीक्षणं कथं संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह–**स पुनरिति**[1] । अतीतकल्पसंचितानि प्राणिकर्माणि स्वकारणभूतमायया सह संहृतिसमये परशिवस्वरूपे वासनाशेषतया प्रलीनानि कालवशात्पच्यन्ते स्वफलप्रदानोन्मुखलक्षणमतिशयं प्राप्नुवन्ति । तस्माच्च कालकृतात्पाकात्स्रष्टुः परमेश्वरस्य सिसृक्षाहेतुभूतः कर्मजनितोऽपूर्वावान्तरपर्यायः संस्कार उद्बुध्यते । उद्बुद्धाच्च तस्मात्स्वस्य परशिवस्य या शक्तिस्त्रिगुणा माया तत्र रजस्तमोभ्यामसंस्पृष्टं यद्विशुद्धं सत्त्वं तस्माद्धेतोस्तदुपाधिवलात्सिसृक्षारूपमीक्षणं जायत इत्यर्थः । कथमीक्षितवानिति ? तदुच्यते–नामरूपात्मकं यदिदं सर्वं जगदेतावन्तं कालं विलीनमासीत्तन्नु सृजा इति । नुशब्दो वितर्के । तत्सृजा इति किमित्येवंरूपेणेक्षितवानित्यर्थः[2] । अत्र सर्वं जगदिति वदता लोकान्नु सृजा इति भौतिकलोकसृष्टिप्रतिपादिकायाः श्रुतेराकाशादिभूतसृष्टिरपि विवक्षिता । सा तूपसंहारन्यायेन सिद्धेति प्रयोजनाभावान्न पृथ[3]गुक्तेत्यभिप्रायो वर्णितः ॥ ३ ॥

एवमीक्षणानन्तरं किं कृतवानिति तत्राऽऽह–**स पुनरिति** । 'अम्भो मरीचीर्मरमापः' इति ये लोकाः श्रुत्याऽनुक्रान्तास्तानेतान्सर्वाँल्लोकान्स परमेश्वरः प्रभुः स्वतन्त्रोऽपि 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति श्रुतेरतीतकल्पक्रमानुसारेणैवाऽऽत्मीय **शक्तित** आत्मनश्च स्वसंबन्धिनी जगदाकारेण विवर्तमाना या त्रिगुणा मायाशक्तिस्तद्बलात्सम्यक्सृष्टवानित्यर्थः । अम्भःप्रभृतीनां निर्वचनं च श्रुत्यैव प्रतिपादितम् 'अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः' इति । स्वर्लोकादिसत्यलोकान्ता अम्भःशब्दवाच्या, मरीचय इत्यन्तरिक्षलोकाः, मर इति मर्त्याश्रितो भूलोकः, तस्याधस्तादतलाद्याः सप्ताप्शब्दवाच्या इति तस्याः श्रुतेरर्थः । अत्र स्रष्टुरात्मनः परमेश्वरत्वमुक्तम् । तथात्वं च भगवद्भाष्यकारैरपि 'आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्' इत्यधिकरणस्य प्रथमवर्णके[4] निर्णीतम् । तथा हि–किमत्र स्रष्टृत्वेनोक्त आत्मा विराडुत परमेश्वरः ? इति विशये 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति परमेश्वरकर्तृकसृष्टेराकाशादिमहाभूतविषयत्वादत्र च 'स इमाँल्लोकानसृजत' इति भूतसृष्टिव्यतिरेकेण विराट्कर्तृकलोकसृष्टेरेवोपादानात्ताभ्यो गामानयत्ताभ्योऽश्वमानयदिति गवानयनादिशरीरधारिव्यवहारदर्शनादेक एवेत्यद्वितीयत्वावधारणस्य च स्वविकारप्रपञ्चापेक्षया व्युत्पत्तेर्विराडेवात्र स्रष्टृत्वेनोक्त आत्मेति प्राप्तेऽभिधीयते–उपरिष्टाद्धि 'पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषी'त्यादिना महाभूतैः सह सर्वं कार्यजातमनुक्रम्य 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रमि'ति प्रज्ञाब्रह्मपरत्वश्रवणादुपक्रमेऽपि महाभूतसृष्टिरुपसंहर्तव्या । तथा च भूतसृष्टिविषयत्वात्परमेश्वर एवात्र स्रष्टा । एवं चैकत्वावधारणमपि न कदर्थितं भवति । गवाद्यानयनं तु विद्यास्तुत्यर्थत्वान्न विरुध्यते । तथा चोक्तम्–'आत्मा वा इदमित्यत्र विराट्स्यादथवेश्वरः । भूतसृष्टेर्नेश्वरः स्याद्गवाद्यानयनाद्विराट् ॥ भूतोपसंहृतेरीशः स्यादद्वैतावधारणात् । अर्थवादो गवाद्युक्तिर्ब्रह्मात्मत्वं विवक्षितम्' इति ॥ ४ ॥

एवं लोकसृष्टिप्रतिपादनेन परमेश्वरस्वरूपं ताटस्थ्येन लक्षयित्वा श्रुत्युक्तलोकपालादिसृष्टेरपि स्रष्टुर्लक्षकत्वरूपस्य प्रयोजनस्यैकत्वेन गतार्थत्वादन्यस्य च सर्वस्य 'स एतमेव सीमानं विदार्ये'त्यादेः 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्मे'ति ब्रह्मात्मैकत्वलक्षण-

मायाशक्ति में पड़े संस्कार उद्बुद्ध हो जाने से माया की सात्त्विकवृत्ति द्वारा उस अद्वितीय शिव ने ही मानो विचार किया 'मैं सारे जगत् को उत्पन्न करूँ' । (वस्तुतः सृष्टि हुई नहीं अतः इन प्रश्नों का अवसर नहीं कि काल क्या था और तद्वशात् कर्मपाक किंरूप था, ईश्वरेच्छारूप मानने पर इच्छा क्षेत्रधर्म होने से कारणसापेक्ष होने से अनवस्थादि होगा–इत्यादि । प्रवाह-नित्यत्व कहकर भी इन शंकाओं का समाधान कर दिया जाता है पर वह हेतुफलावेश वालों को संतुष्ट करने के लिये ही है । अजाति ही परम उत्तर है ।) ॥ ३ ॥ उस स्वतन्त्र प्रभु ने अपने अधीन स्थित शक्ति से इन सब लोकों को उसी तरह बना दिया जिस तरह ये पूर्वकल्प में थे ॥ ४ ॥ सृष्टि के इस उत्पादक को कुछ लोग हर मानते हैं, कुछ लोग विष्णु ॥ ५ ॥ कुछ लोग मुझ ब्रह्मा को ही जगत् का स्रष्टा मान लेते हैं व अन्य भक्त इन्द्रादि देवताओं को वैसा स्वीकारते हैं । कुछेक विचारक तीन गुणों

---

१. स ऐक्षतेत्यन्वयः । तत्पदस्य पुनरादानं त्वन्वयार्थम् । २. वस्तुतस्तु नैव चिन्तितवानपीति भावः । ३. ङ. °थक्त्वेनेत्य° । ४. वर्णकान्तरे तु वाक्यान्तरमधिकृत्याधिकरणं रचयामासेत्यस्य वाक्यस्यार्थे न विप्रतिपत्तिः ।

अणवः केचिदिच्छन्ति शब्दं केचन मोहिताः । क्षणप्रध्वंसिविज्ञानं केचन भ्रान्तचेतसः ॥ ७ ॥

शून्यसंज्ञं सुराः केचिन्निरुपाख्यं विमोहिताः । केचिद्भूतानि चेच्छन्ति निसर्गं केचन भ्रमात् ॥ ८ ॥

तत्र तत्रैव तर्कांश्च प्रवदन्ति यथाबलम् । सर्वे वादाः श्रुतिस्मृत्योर्विरुद्धा इति मे मतिः ॥ ९ ॥

प्रतिपादकवाक्यशेषत्वात्सर्वं परित्यज्य कोऽयमात्मेत्यादिवाक्यसंदर्भप्रतिपादितमर्थं वक्तुकामः 'तं प्रपदाग्राभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषं स एतमेव सीमानं विदार्येतया द्वारा प्राप[1]द्यत' इति श्रुतिबलात्पादाग्राभ्यां ब्रह्मरन्ध्राच्च प्रविष्टयोः क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिलक्षणयोर्ब्रह्मणोर्मध्ये 'कतरः स आत्मे'ति जायमानसंशयवद्वादिविप्रतिपत्तेरपि तद्धेतुत्वात्समुदाहरति—**तं हरमित्यादिना** । यः स्रष्टृत्वेनोक्त आत्मा तमित्यर्थः । **केचित्प्रधानमिति** । सांख्या हि चेतनोपादानत्वे जगतो जडत्वानुपपत्तेस्तदनुरूपमचेतनं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रधानमेव जगदुपादानमिति तस्यैव स्रष्टृत्वमिच्छन्ति । वेदान्त्यभिमतमायातो वैलक्षण्यमाह—**स्वतन्त्रमिति** । सा हि परमेश्वराश्रिततया[2] तत्परतन्त्रा ॥ ५ ॥ ६ ॥

अणवः केचिदिति । न्यूनपरिमाणैर्मृदवयवैरधिकपरिमाणस्य घटादेरारम्भदर्शनात्पार्थिवादिपरमाणव एव द्व्यणुकादिप्रक्रियया प्राण्यदृष्टवशात्सर्वं जगदारभन्त इति तार्किकाः । **शब्दं केचनेति** । वैयाकरणास्तु शब्दब्रह्मैवार्थप्रपञ्चात्मना विवर्तत इति शब्दस्यैव कारणत्वं वर्णयन्ति । उक्तं हि—'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः' इति ॥ ७ ॥

भूतानि चेच्छन्तीति । भूतेभ्य एव भौतिकस्य सर्वस्योत्पत्तिदर्शनात्तेषामेव स्रष्टृत्वं न तु तद्व्यतिरिक्तः कश्चित्स्रष्टा विद्यत इति केषांचित्पक्षः । अपरे[3] तु भ्रान्ता न कदाचिदनीदृशं जगदिति सर्ग एव नास्तीति मन्यन्ते । तथा च श्रुतावपि जगत्कारणे वादिविप्रतिपत्तिर्दर्शिता—'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इति । **श्रुतिस्मृत्योर्विरुद्धा इति** । 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति तदात्मानं स्वयमकुरुत' । 'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' ॥ इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां चेतनस्य परमेश्वरस्य जगदुपादा[4] नत्वनिमित्तत्वयोः श्रवणात्तद्विरुद्धतया वादिविप्रतिपत्तेरप्रामाणिकत्वात्तद्धेतुकः संशयो जगत्कारणे नास्तीति सिद्धमात्मसंज्ञः शिव इति प्रतिज्ञातम् ॥ ८ ॥ ९ ॥

वाले स्वतंत्र जड प्रधान को (प्रकृति को) ही जगत् का उत्पादक बताया करते हैं ॥ ६ ॥ अन्य वादी अणुओं को संसार-आरंभक कहते हैं । कुछ के मत में शब्द ही प्रपंच का कारण है । कुछ अत्यधिक भ्रान्तचित्त वाले प्रतिक्षण नष्ट होने वाले विज्ञान को जगत् का उत्पादक माना करते हैं ॥ ७ ॥ अन्य मुग्ध वादी निरुपाख्य शून्य को ही मानते हैं । (निरुपाख्य अर्थात् निःस्वरूप । शून्य नामक किसी तत्त्व को वे वादी मानते हों ऐसी बात नहीं । उनकी इतनी ही मान्यता है कि विज्ञान—अनुभव—सहित सभी कुछ मिथ्या है । अत एव वे शून्य मानने वाले कहे जाते हैं । गौडस्वामी ने रत्नावली में (पृ. २१८ प्र. द्वा.) यह स्पष्ट किया है । इसी को व्यक्त करने के लिये यहाँ निरुपाख्य पद दिया है । अपने ढंग से वे वादी इसे यों कहते हैं—शून्य है भी नहीं और नहीं भी नहीं है, है-नहीं है—ऐसा नहीं और अनिर्वाच्य भी नहीं । यही उनके चतुष्कोटिविनिर्मुक्त का अर्थ है । अतः जगत्कारण शून्य है ऐसी उनकी मान्यता नहीं हो सकती किंतु पुराण का अभिप्राय है कि उनके मत में जगत् का कोई सत्य कारण नहीं है । मीमांसक की तरह जगत् को नित्य मानने वाले न होने से इनका स्वतंत्र उल्लेख आवश्यक है । मीमांसक भी मानता है कि जगत् का कोई सत्य कारण नहीं किंतु इसलिये कि जगत् सनातन है—है, किंतु उत्पन्न नहीं हुआ । उक्त वादी भी यह तो मानते हैं कि जगत् का कोई सत्य कारण नहीं किन्तु इसलिये कि वस्तुतः जगत् पैदा हुआ नहीं और सत्य कुछ है नहीं । अतः जगत् के कारण के प्रसंग में इनकी कल्पना को स्थान देना उचित है ।) कुछ अन्य विचारक महाभूतों को ही जगत् का कारण मानते हैं । कुछेक की मान्यता है कि जगत् सदा ऐसा ही है, सृष्टि कभी हुई नहीं । स्वभाव से ही जगत् विद्यमान है यह उनका अभिप्राय है । (इससे यह पक्ष भी सूच्य है कि यदि उत्पत्ति माननी ही हो तो परिणामात्मिका ही मान्य होगी क्योंकि आरंभ तो शशशृंगादि के आरंभ की अतिप्रसक्ति से अस्वीकार्य है । जगत् का अपना ही स्वभाव है कि विभिन्न रूपों में बनता रहता है । अतः जगत् से अतिरिक्त उसका कोई उत्पादक मानने की आवश्यकता नहीं । जैसे दूध आदि स्वभाववश ही खट्टे आदि हो जाते हैं वैसे माना जा सकता है । जगदन्तःपाती शक्ति, गति आदि को कारण मानने वाले इसी कोटि में समझ लेने चाहिये ।) ॥ ८ ॥ अपनी-अपनी कल्पनाओं को तर्कों से उपोद्बलित करने में ये सभी वादी अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं । किंतु मेरा निर्णय है कि ये सभी पक्ष श्रुति-स्मृति से विरुद्ध हैं । (अतः अमान्य हैं ।) ॥ ९ ॥

१. झ. प्रतिपद्यत । २. परमात्मसत्ताधीनसत्त्वं तस्याः पारतन्त्र्यम् । ३. मीमांसकमतमाह—अपर इत्यादिना । ४. घ. °ननि° ।

पापिष्ठानां तु जन्तूनां तत्र तत्र सुरर्षभाः । प्राक्संसारवशादेव जायते रुचिरास्तिकाः ॥ १० ॥
तेऽपि कालविपाकेन श्रद्धया पूतयाऽपि च । पुरातनेन पुण्येन देवतानां प्रसादतः ॥ ११ ॥
कालेन महता देवाः सोपानक्रमतः[१] पुनः । वेदमार्गमिमं मुख्यं प्राप्नुवन्ति चिरंतनम् ॥ १२ ॥
प्राक्संसारवशादेव ये विचिन्त्य बलाबले । विवशा वेदमापन्नास्तेऽपि कैवल्यभागिनः ॥ १३ ॥
वेदमार्गमिमं मुक्त्वा मार्गमन्यं समाश्रितः । हस्तस्थं पायसं त्यक्त्वा लिहेत्कूर्परमात्मनः ॥ १४ ॥
विना वेदेन जन्तूनां मुक्तिर्मार्गान्तरेण चेत् । तमसाऽपि विनाऽऽलोकं ते पश्यन्ति घटादिकम् ॥ १५ ॥
तस्माद्वेदोदितो ह्यर्थः सत्यं सत्यं मयोदितम् । अन्येन वेदितो ह्यर्थो न सत्यः परमार्थतः ॥ १६ ॥
परमार्थो द्विधा प्रोक्तो मया हे स्वर्गवासिनः । एकः स्वभावतः साक्षात्परमार्थः सदैव तु ॥ १७ ॥
स शिवः सत्यचैतन्यसुखानन्तस्वलक्षणः । अपरः कल्पितः साक्षाद् ब्रह्मण्यध्यस्तमायया ॥ १८ ॥

नन्वेवं श्रुतिस्मृतिविरोधात्सांख्यादिशास्त्राणामप्रामाण्ये कथं तत्र [२]तीर्थकराणां प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य तत्र प्रवृत्तौ पापमेव कारणमित्याह–**पापिष्ठानामित्यादिना** । **सोपानक्रमत** इति । स्वस्वशास्त्रादात्मानात्मविवेकं सामान्येन जानानाः सांख्यादयस्तद्विशेषप्रतिपादकमुपनिषन्मार्गं परंपरया समाश्रयन्त इत्यर्थः ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

विचिन्त्य बलाबले इति । वेदमार्गमाश्रितास्ते स्वशास्त्रस्य वेदस्य च बलाबले विचार्य पुरुषबुद्धिप्रभवत्वेन स्वशास्त्रस्य दौर्बल्यमपौरुषेयत्वेन वेदस्य च निर्दुष्टं प्रामाण्यं निश्चिन्वानास्तत्परतन्त्राः स्वमार्गं परित्यज्य वेदमार्गमेव केवलमाश्रयन्ते । अतः सोपानक्रमेण तेषामपि वेदोदिता मुक्तिर्भूयसा कालेन सिध्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

तस्मादिति । यस्मादेवं मार्गान्तराणामपि वेदे पर्यवसानं तस्मादपौरुषेयत्वेन निर्दुष्टवेदवाक्यप्रतिपादित एव सत्यो न तु वेदव्यतिरिक्तेनेत्यर्थः ॥ १६ ॥

ननु वेदप्रतिपादितोऽर्थः सत्यश्चेत्क्रियाकारकादिभेदभिन्नस्य जगतोऽप्यात्मवद्वेदार्थतया सत्यत्वं स्यादित्याशङ्क्य तस्य व्यावहारिकसत्यत्वं प्रतिपादयितुं वेदार्थस्य द्वैविध्यमाह–**परमार्थ** इति । वेदे हि काण्डद्वयम् । तत्र ज्ञानकाण्डे सत्यज्ञानादिलक्षणो योऽर्थः प्रतिपादितः स एव साक्षात्परमार्थः । कर्मकाण्डप्रतिपादितस्तु [३]स्वर्गापूर्वादिदेवतालक्षणः प्रपञ्चः सत्यज्ञानादिलक्षणे परमात्मन्यध्यस्तमायया परिकल्पितः । तदेतत्काण्डद्वयस्य कल्पिताकल्पितविषयत्वं प्रागपि प्रपञ्चितम्–'सत्याद्वैतपरः कश्चिद्वेदभागः समासतः । कल्पितद्वैतनिष्ठस्तु वेदभागोऽपरस्तथा' इति ॥ १७ ॥ १८ ॥

जो जन्तु घोर पापों में मग्न होते हैं उन्हें ही पूर्वार्जित कुसंस्कारों के कारण इन मतों में रुचि होती है ॥ १० ॥ उन लोगों को भी सीढ़ी पर चढ़ने की तरह काफी समय बाद वैदिक धरातल की प्राप्ति हो ही जाती है । काल का परिवर्तन होने पर कभी न कभी पूर्वकृतसुकृत फलोन्मुख होता ही है । तब उनमें पवित्र श्रद्धा उत्पन्न होती है । उस स्थिति में देवताओं की कृपा से वे भी इस सनातन वेद मार्ग पर आरूढ हो जाते हैं जो कल्याण-प्राप्ति का अकेला उपाय है । (सीढ़ी की तरह विभिन्न मतों का गंतव्य से नैकट्यरूप श्रैष्ठ्य सर्वदर्शनसंग्रहादि से समझा जा सकता है । उक्त रत्नावली स्थल पर भी इसका विचार है । यहीं पूर्वखण्ड के बीसवें अध्याय में काफी विस्तार किया जा चुका है ।) ॥ ११–१२ ॥ जो लोग पूर्वपुण्यादि के कारण इन पक्षों की असंगति और वैदिक सिद्धान्त की सबलता का विचारकर अपने निर्णय का अनुसरण कर वेदमार्ग पर चल पड़ते हैं वे भी यथावसर मोक्ष पा जाते हैं ॥ १३ ॥ इस वेदपथ को छोड़ अन्य रास्ते पर चलना वैसी ही मूर्खता है जैसे हाथ पर रखी खीर फेंककर कोहनी चाटना । (हाथ से बहकर थोड़ी खीर कोहनी तक आ जाये तो उसे चाटे और हाथ वाली फेंक दे यह मूर्खता ही है ।) ॥ १४ ॥ जो लोग वेद के बिना अन्य मार्गों से मोक्ष संभव समझते हैं वे तो शायद प्रकाश के बिना अँधेरे से ही घड़ा इत्यादि भी देख लेंगे ! ॥ १५ ॥ अतः वेदोक्त बात ही सत्य है । अन्य ग्रन्थों की बातें वास्तविक सत्य नहीं हैं ॥ १६ ॥ सत्य भी वास्तविक और कल्पित भेद से दो प्रकार का है । वास्तविक सत्य तो सच्चिदानन्दस्वरूप शिव ही है । कल्पित सत्य वह है जो माया से ब्रह्म पर अध्यस्त है–भ्रमसिद्ध है ॥ १७–१८ ॥ कल्पित अनात्म-वस्तुओं में कुछ ऐसी हैं

१. अतो वार्तिकाचार्याअब्रुवत 'अपि वात्स्यायनादीनां शास्त्राणामुक्तहेतुतः । प्रामाण्यमविरुद्धं स्यादैकात्म्यज्ञानजन्मने ॥ ···अनित्यदुःखशून्यत्वं पदार्थानां ब्रुवन् स्फुटम् । बुद्धोपि रागाद्युच्छित्तौ यतते नात्मनिह्नुतौ' ॥ बृ. वा. १.४.४०८-१० ॥ इति । २. घ. ङ. तीर्थकाराणां । ३. ङ. च. °र्गापवर्गादि ।

कल्पितानामवस्तूनां मध्ये केचन मायया । परमार्थतया क्लृप्ता व्यवहारे सुरर्षभाः ॥ १९ ॥
व्यवहारे तु संक्लृप्ताः केचनापरमार्थतः । आकाशादि जगच्छुक्तिरूप्ये ते कथिते मया ॥ २० ॥
व्यावहारिकसत्यार्थं साक्षात्सत्यार्थचिद्घनम् । उभयं वक्ति वेदस्तु मार्गा नैवं वदन्ति हि ॥ २१ ॥
स्वप्नावस्थासु संक्लृप्तसत्यार्थेन समानिमान् । अर्थानेवाऽऽमनन्त्यन्ये मार्गा हे स्वर्गवासिनः ॥ २२ ॥
जाग्रत्काले तु संक्लृप्तसत्यार्थेन समानिमान् । मार्गा एवाऽऽमनन्त्यर्थान्का कथा सत्यचिद्घने ॥ २३ ॥
तस्मादेकैकया दृष्ट्या मार्गाः सत्यार्थभाषिणः । दृष्ट्यन्तरेण[1] ते भ्रान्ता इति सम्यङ्निरूपणम् ॥ २४ ॥
चैतन्यापेक्षया चेत्यं व्योमादि सकलं जगत् । असत्यं सत्यरूपं तत्कुम्भकुड्याद्यपेक्षया ॥ २५ ॥

यद्येवं कल्पितद्वैतपरः कर्मकाण्डस्तर्हि सर्वोऽपि वेदार्थः सत्य इति नियमो न स्यादित्यत आह—**कल्पितानामिति** । सर्वस्य मायापरिकल्पितत्वेनावस्तुत्वेऽप्याकाशादिकं व्यावहारिकसत्यत्वेनैव परिकल्प्यते । शुक्तिरूप्यादिकं तु व्यवहारेऽप्यसत्यत-येवेति ॥ १९ ॥ २० ॥

जगतोऽपि व्यावहारिकसत्यत्वाङ्गीकाराद्ध वेदार्थस्य सत्यत्वहानिरित्याह—**व्यावहारिकेति** । सति प्रमातर्यबाध्यमानं जगद्व्या-वहारिकसत्यम् । कदाचिदपि बाधविधुरं सत्यज्ञानानन्दैकरसं [2]ब्रह्म हि परमार्थतः सत्यम् । तदुभयं वेदः प्रतिपादयति । मार्गान्तरं तु नैवमित्यर्थः ॥ २१ ॥

किं तर्हि मार्गान्तरैः प्रतिपादितमिति ? तदाह—**स्वप्नेत्यादिना** । अन्ये सौगतनिर्मिता मार्गाः स्वप्नावस्थापरिकल्पितसत्यार्थ-सदृशाञ्जाग्रदर्थानेव केवलं प्रतिपादयन्ति न तूक्तविधं साक्षात्सत्यमात्मानम् । अन्ये तु वैशेषिकादिमार्गा जाग्रदवस्थायां व्यावहारिक-सत्यत्वेन मायापरिकल्पितो यो वेदान्त्यभिमतस्तत्सदृशान्द्रव्यगुणकर्मलक्षणानर्थानेव केवलं प्रतिपादयन्ति ॥ २२ ॥

अतो मार्गाणां सत्यचिद्घने पारमार्थिके वस्तुनि का कथा, प्रतिपादनप्रसक्तिरपि नास्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

तस्मादिति । व्यावहारिकसत्यस्य जगत एव प्रतिपादनात्पारमार्थिकसत्यचिद्घनवस्तुनोऽप्रतिपादनाच्चेत्यर्थः । **एकैकया दृष्ट्येति** व्यावहारिकदृष्ट्या । **दृष्ट्यन्तरेणेति** पारमार्थिकदृष्ट्येत्यर्थः । **भ्रान्ता** इति । व्यावहारिकसत्यस्याऽऽकाशादिजगतः पारमार्थिकसत्यत्वेनान्यथाग्रहणात्तेषां भ्रान्तत्वम् ॥ २४ ॥

ननु व्यावहारिकसत्यत्वमेव पारमार्थिकसत्यत्वम् । न ह्येकमेव वस्तु दृष्टिभेदमात्रेण सत्यमसत्यं च भवतीत्यत आह—**चैतन्येति** । मृल्लोहादिकारणेषु सत्सु तत्र घटादिकार्यलयदर्शनात्कारणमात्रस्य सत्यत्वं कार्यस्य चासत्यत्वं प्रसिद्धम् । तथा च कारणभूतं परशिवचैतन्यमपेक्ष्य तत्कार्यं चेत्यं वियदादिभूतजातमसत्यम् । तच्च घटकुड्यादिलक्षणस्वकार्यस्य कारणभूतं सत्तदपेक्षया सत्यम् ॥ २५ ॥

जो व्यवहार में वस्तुतः सत्य मानी जाती हैं और कुछ ऐसी हैं जो व्यवहार में भी अवास्तविक ही मानी जाती हैं । उदाहरणार्थ आकाश आदि संसार वास्तविक और सीप में दिखने वाली चाँदी अवास्तविक मानी जाती हैं ॥ १९–२० ॥ वेद दोनों सत्यों का उपदेश देता है किन्तु अन्य ग्रन्थ पारमार्थिक वास्तविक चैतन्यरूप सत्य का ज्ञान नहीं दे पाते ॥ २१ ॥ वेदेतर शास्त्र तो वैसे सत्यों का बोध कराते हैं जैसी सत्य स्वप्न की वस्तुएँ होती हैं ॥ २२ ॥ वेद का आंशिक अनुसरण करने वाले शास्त्र भी उसी प्रकार के सत्यों का उपदेश किया करते हैं जिस प्रकार की सत्य जाग्रत् की वस्तुएँ हुआ करती हैं । अतः वेद से भिन्न और वेद का सर्वांगपूर्ण अनुकरण करने वाले वेदान्त शास्त्रों से भिन्न ग्रन्थ चिद्घन परम सत्य के विषय में बतायें यह सम्भव ही नहीं है । (असंभवता का बीज है अबुद्धिगम्यता । बुद्धि की सूक्ष्मतम पकड़ सांख्यमत में क्षीण हो जाती है । किन्तु अपना शिवाभेद हम किसी तरह कल्पित भी नहीं कर सकते ।) ॥ २३ ॥ इसलिये व्यावहारिक क्षेत्र की किसी किसी दृष्टि से वेदेतर मार्ग सत्य के उपदेष्टा हैं तथा व्यावहारिक ही अन्य दृष्टियों से वे भ्रान्त हैं । पारमार्थिक दृष्टि से तो वे भ्रांत हैं ही इसमें कहना क्या ? ॥ २४ ॥ ज्ञानका विषयभूत आकाशादि सारा प्रपंच चैतन्य की अपेक्षा से असत्य है यद्यपि घड़ा दीवार आदि की दृष्टि से सत्य ही है ॥ २५ ॥ घड़ा आदि भी आकाशादि की अपेक्षा असत्य ही हैं किन्तु सीप में दीखने वाली चाँदी आदि

---

१. व्यावहारिकदृष्ट्यन्तरेणैव यदा ते भ्रान्तास्तदा परमार्थदृष्ट्या तेषां तथात्वं किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः । आचार्या अपि 'स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु' इत्यादिना श्लोकद्वयेन (मा. का. ३.१७-१८) सूचयामासुरमुमर्थम् । २. च. झ. °ब्रह्मापि प° ।

कुम्भकुड्यादयो भावा अपि व्योमाद्यपेक्षया । असत्याः सत्यरूपास्ते शुक्तिरूप्याद्यपेक्षया ॥ २६ ॥
जाग्रदित्युदितावस्थामपेक्ष्य स्वपनाभिधा । अवस्थाऽसत्यरूपा हि न सत्या हि दिवौकसः ॥ २७ ॥
तथाऽपि स्वप्नदृष्टं तु वस्तु स्वर्गनिवासिनः । सूचकं हि भवत्येव जाग्रत्सत्यार्थसिद्धये ॥ २८ ॥
तथैव मार्गाः [1]सुभ्रान्ता अपि वेदोदितस्य तु । अर्थस्य प्राप्तिसिद्ध्यर्था भवन्त्येव न संशयः ॥ २९ ॥
तस्माद्वेदेतरा मार्गा नैव त्याज्या निरूपणे । वेदनिष्ठस्तु तान्मार्गान्कदाचिदपि न स्पृशेत् ॥ ३० ॥
वेदनिष्ठस्तु मार्गांस्तान्मोहेनापि स्पृशेद्यदि । प्रायश्चित्ती भवत्येव नात्र कार्या विचारणा ॥ ३१ ॥
एकस्यामपि तैः सार्धं पङ्क्तौ वेदैकसंस्थितः । मोहेनापि न भुञ्जीत भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ ३२ ॥
इज्यादानविवाहादिकार्यमध्ययनं श्रुतेः । यदि तैर्मोहतः कुर्यात्कुर्याच्चान्द्रायणत्रयम् ॥ ३३ ॥
धर्माधर्मादिविज्ञानं नाऽऽददीत[2] श्रुतौ स्थितः । तेभ्यो मोहादपि प्राज्ञः श्रेयस्कामी कदाचन ॥ ३४ ॥
वेदबाह्येषु मार्गेषु संस्कृता ये नराः सुराः । ते हि पाषण्डिनः साक्षात्तथा तैः सहवासिनः ॥ ३५ ॥

कुम्भकुड्यादयोऽपि स्वकार[3]णभूतवियदादि[4]महाभूतापेक्षयाऽसत्यास्तेऽपि सत्येव प्रमातरि बाध्यमानं शुक्तिरजतादिकमपेक्ष्य सत्याः सति प्रमातर्यबाध्यमानत्वात् ॥ २६ ॥

तथा जाग्रदवस्था स्वकारणमपेक्ष्यासत्याऽपि सति प्रमातरि बाधविरहरू[5]पात्स्वप्नावस्थावैलक्षण्यात्सत्या तामपेक्ष्य स्वप्नावस्थाऽपि सत्येव प्रमातरि बाधितत्वादसत्यैव । एवमेकस्यैव वस्तुनो व्यवहारदृष्ट्या सत्यत्वं परमार्थोपाधावसत्यत्वं च न विरुध्यत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

यद्येवं परमार्थदृष्ट्याऽसत्यस्यैव सत्यतयाऽध्यवसायान्मार्गा भ्रान्तास्तर्हि मिथ्याभूतानां तेषां परम्परयाऽपि कथं वेदमार्गावाप्तिद्वारा परमार्थसत्यचि[6]द्घनपरशिवस्वरूपावाप्तिहेतुत्वमित्याशङ्क्य सदृष्टान्तमुपपादयति–तथाऽपीति । यद्यपि स्वप्नावस्था मिथ्याभूता तथाऽपि स्वप्नदृष्टं वस्तु भाविनः सत्यस्य फलस्य सूचकं भवति । सूचकत्वं भगवता व्यासेनापि सूचितम्–'सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः' इति । सा च श्रुतिरेवमाम्नाता–'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' इति ॥ २८ ॥

यथाचैवं तथैव मिथ्याभूता अपि मार्गा वेदप्रतिपादितस्य सच्चिदानन्दाखण्डैकरसस्य परमार्थसत्यवस्तुनः सोपानक्रमेण प्राप्तिहेतवो भवन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

की अपेक्षा सत्य हैं। (यद्यपि घटादि व आकाशादि समान सत्ता वाले प्रसिद्ध हैं तथापि तात्पर्य है कि सूक्ष्म चिन्तक यहाँ तक समझ लेते हैं कि कार्य वस्तुतः कारण से अतिरिक्त नहीं है अतः घड़ा आदि का बाध होकर आकाशादि ही सत्य हैं ऐसा निश्चय कथंचित् संभव है। किंच सत्य नित्य होता है और घड़ा आदि अनित्य हैं जबकि आकाशादि नित्य हैं, इससे भी विचारशील उन्हें उनकी अपेक्षा न्यून सत्य मान सकते हैं।) ॥ २६ ॥ जाग्रदवस्था की अपेक्षा स्वप्नावस्था असत्त्य है ॥ २७ ॥ फिर भी स्वप्न में दीखी वस्तु जाग्रात् के सत्य पदार्थ की सिद्धि की सूचक तो बन ही जाती है। इसी तरह भ्रान्त होने पर भी अन्य मार्ग वेदोक्त अर्थ को समझने में दूर या पास से सहायक बन ही जाते हैं ॥ २८–२९ ॥ अतः वे मार्ग भी सर्वथा हेय नहीं हैं। हाँ, जो वेद में निष्ठा वाला हो उसे उनका स्पर्श भी नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥ वेदनिष्ठ भ्रम से भी उनका अनुसरण कर ले तो उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३१ ॥ मार्गान्तर-अनुगन्ताओं के साथ वेदनिष्ठ को समान पंक्ति में भोजन नहीं करना चाहिये। यदि करे तो चान्द्रायण व्रत द्वारा प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये ॥ ३२ ॥ उनके साथ भ्रमवश भी यदि यज्ञ, दान, विवाहादि कार्य या वेद का अध्ययन कर लें तो प्रायश्चित्तस्वरूप तीन चान्द्रायण करने पड़ेंगे ॥ ३३ ॥ श्रौत पथ पर स्थित कल्याणेच्छुक व्यक्ति धर्म-अधर्म आदि के विषय में उनसे कुछ न सीखे यही उचित है ॥ ३४ ॥ वेदबाह्य मार्गों पर चलने वाले और उनका साथ करने वाले दोनों ही पाखण्डी हैं ॥ ३५ ॥ पाखण्ड से अनुविद्ध लोग ही कलिकाल में जगदुत्पादक सत्यादिरूप

---

१. ङ. संभ्रान्ता । २. अतएव भट्टाचार्यः '...धर्माभासमध्यपतितं सन्मूलमप्यहिंसादि श्वदृतिनिक्षिप्तक्षीरवदनुपयोग्यविश्रम्भणीयं चे'ति तन्त्रवार्तिके (१.३.सू. ७. श्लो. ३२३ तमादनन्तरम्) लिलेख । ३. झ. °रणीभू° । ४. घ. °दिभू° । ५. च. °पाव° । ६. झ. °चिदानन्दप° ।

कलौ जगद्विधातारं शिवं सत्यादिलक्षणम् । नार्चयिष्यन्ति वेदेन [1] पाषण्डोपहता जनाः ॥ ३६ ॥

वेदसिद्धं महादेवं साम्बं चन्द्रार्धशेखरम् । नार्चयिष्यन्ति वेदेन पाषण्डोपहता जनाः ॥ ३७ ॥

वेदोक्तेनैव मार्गेण भस्मनैव त्रिपुण्ड्रकम् । धूलनं नाऽऽचरिष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ३८ ॥

रुद्राक्षधारणं भक्त्या वेदोक्तेनैव वर्त्मना । न करिष्यन्ति मोहेन पाषण्डोपहता जनाः ॥ ३९ ॥

लिङ्गे दिने दिने देवं शिवरुद्रादिसंज्ञितम् । नार्चयिष्यन्ति वेदेन पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४० ॥

देवकार्यं न कुर्वन्ति पितृकार्यं विशेषतः । औपासनं न कुर्वन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४१ ॥

पञ्चयज्ञं न कुर्वन्ति तथैवातिथिपूजनम् । वैश्वदेवं न कुर्वन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४२ ॥

वेदबाह्येन मार्गेण पूजयन्ति जनार्दनम् । निन्दन्ति शंकरं मोहात्पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४३ ॥

ब्रह्माणं केशवं रुद्रं भेदभावेन मोहिताः । पश्यन्त्येकं न जानन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४४ ॥

अदक्षिणमनभ्यङ्गमधौतचरणं तथा । कुर्वन्त्यनग्निकं श्राद्धं पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४५ ॥

एकादश्यामथाष्टम्यां चतुर्दश्यां विशेषतः । उपवासं न कुर्वन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४६ ॥

शतरुद्रीयचमकैस्तथा पौरुषसूक्तकैः । नाभिषिञ्चन्ति देवेशं पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४७ ॥

चिरंतनानि स्थानानि शिवस्य परमात्मनः । न द्रक्ष्यन्ति महाभक्त्या पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४८ ॥

श्रीमद्दक्षिणकैलासे वर्तनं श्रद्धया सह । वत्सरं न करिष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ४९ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरे पुण्ये वर्तनं भुक्तिमुक्तिदम् । वत्सरं न करिष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५० ॥

अन्येषु च विशिष्टेषु शिवस्थानेषु वर्तनम् । वत्सरं न करिष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५१ ॥

दिने दिने तु वेदान्तमहावाक्यार्थनिर्णयम् । आचार्यात्र करिष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५२ ॥

संन्यासं परहंसाख्यं नाङ्गीकुर्वन्ति मोहिताः । प्रद्वेषं [2] च करिष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५३ ॥

अन्यानि यानि कर्माणि वेदेनैवोदितानि तु । नाऽऽचरिष्यन्ति तान्येव पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५४ ॥

॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

शिव की अर्चना वेदघोष पूर्वक नहीं करेंगे । वेदप्रतिपाद्य चन्द्रमौलि साम्ब सदाशिव की समंत्र अर्चना वे नहीं करेंगे । वैदिक रीति से भस्मोद्धूलन और त्रिपुण्ड्र नहीं लगायेंगे । ऐसे लोग रुद्राक्ष नहीं पहनेंगे । प्रतिदिन लिंगपूजन उनसे नहीं बन पड़ेगा । देवकार्य, पितृकार्य व उपासना से वे दूर रहेंगे । पंचयज्ञ, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव-बलि से वे विमुख होंगे ॥ ३६-४२ ॥ (वेद का परित्याग करेंगे इतना ही नहीं) वेद से बहिर्भूत ढंगों से जनार्दन विष्णु की पूजा किया करेंगे । साथ ही शंकर की निंदा करेंगे (और शिवनिंदा को साधना मानेंगे) ॥ ४३ ॥ पाखण्डियों को निश्चय होगा कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र पृथक् पृथक् हैं ॥ ४४ ॥ वे लोग नहाये बिना, पैर भी धोये बिना यों श्राद्ध करेंगे कि उसमें न दक्षिणा दी जाये न अग्निकर्म किया जाये ॥ ४५ ॥ पाखण्डी लोग एकादशी अष्टमी और चतुर्दशी को कभी व्रत नहीं रखेंगे ॥ ४६ ॥ शतरुद्रीय चमकाध्याय और पुरुषसूक्त के मंत्रों का उच्चारण करते हुए शिवाभिषेक ऐसे लोग नहीं करेंगे ॥ ४७ ॥ भक्ति पूर्वक प्राचीन शिवस्थानों का वे दर्शन नहीं करेंगे ॥ ४८ ॥ वर्ष पर्यंत श्रद्धापूर्वक दक्षिणकैलास में वे निवास नहीं करेंगे ॥ ४९ ॥ भोग व मोक्ष देने वाले व्याघ्रपुर में भी वे लोग सालभर तक नहीं रहेंगे ॥ ५० ॥ अन्य भी विशिष्ट शैवतीर्थों में वर्षभर रहना उनके लिये असंभव होगा ॥ ५१ ॥ पाखंडी लोग प्रतिदिन गुरु से वेदांतश्रवण नहीं करेंगे ॥ ५२ ॥ वे परमहंस संन्यास ग्रहण भी नहीं करेंगे और उससे द्वेष करेंगे ॥ ५३ ॥ अन्य वैदिक कर्मों से भी वे उपरत रहेंगे ॥ ५४ ॥ श्रौत ही नहीं, स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान भी उनसे होना

१. ङ. पाखण्डो° । २. परमहंसेनापि तर्पणादि कार्यमित्यादिरीत्या कर्मानुवेधः संन्यासद्वेषः ।

स्मार्तान्यपि च कर्माणि यानि यानि सुरोत्तमाः । नाऽऽचरिष्यन्ति तान्येव पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५५ ॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रं ललाटे तु वर्तुलं चार्धचन्द्रकम् । धारयिष्यन्ति मोहेन पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५६ ॥
शङ्खचक्रगदावज्रैरङ्कनं विग्रहे स्वके । मोहेनैव करिष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५७ ॥
मनुष्याणां च नाम्ना तु तेषामाकारतोऽपि च । लाञ्छिताश्च भविष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५८ ॥
बहुनोक्तेन किं वेदमर्यादाभेदनं सुराः । श्रद्धयैव करिष्यन्ति पाषण्डोपहता जनाः ॥ ५९ ॥
धीरा विशिष्टाश्च महेश्वरस्य प्रसादयुक्ताश्च महत्तमाश्च ।
वेदोदितं केवलमेव देवा मुदा करिष्यन्ति विमुक्तिसिद्ध्यै ॥ ६० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु वेदार्थविचारो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच–सर्वात्मा शंकरो नाम साक्ष्येव सकलस्य तु[1] । साक्ष्यभावे जगत्साक्ष्यं कथं भाति सुरोत्तमाः ॥ १ ॥

॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

इति सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु वेदार्थविचारो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

'तं हरं केचिद'त्यादिना वादिविप्रतिपत्तिं निराकृत्य श्रुतिप्रसिद्ध एवाऽऽत्मा[2] स्रष्टृत्वेनोक्त इत्ययमर्थः प्रतिपादितः । स एव स्वसृष्टदेहेषु क्रियाशक्त्यात्मना प्राणरूपेणावस्थितः 'तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्' इति श्रुतेः । तथा चिच्छक्तिरूपेण च ब्रह्मरन्ध्रात्प्रविष्टः 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' इति श्रुतेः । अनयोर्मध्ये कतरः स आत्मा यः प्रत्यगात्मस्वरूपत्वेन ज्ञातव्यः । स किं प्राणरूप उत चिच्छक्त्यात्मक इति हि प्रश्नः श्रुताववतारितस्तस्योत्तरभूता 'येन वा पश्यति येन वा शृणोति' इत्यादिका श्रुतिः । अथ तस्याः श्रुतेरर्थं वक्तुमात्मनः सर्वसाक्षित्वं साधयति-**सर्वात्मेति** । सर्वेषु शरीरेष्वात्मत्वेनावस्थितो यः परमेश्वरोऽसौ सर्वस्य जडप्रपञ्चस्य भासकः साक्षी चिन्मात्रस्वरूप एवैष्टव्यः । विपक्षे बाधकमाह–**साक्ष्यभाव** इति । यद्यसौ चिन्मात्रस्वरूपः साक्षी न स्यात्केन तर्हि प्रकाशेन साक्ष्यं जग[3]द्भासे[4]त ? अतः साक्षिरूपं भानमङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

नहीं ॥ ५५ ॥ पाखण्डी लोग माथे पर ऊर्ध्वपुण्ड्र, गोल या अर्धचंद्राकार तिलक धारण करेंगे ॥ ५६ ॥ शंख, चक्र, गदा और वज्र के चिह्न वे लोग अपने देहों पर दगवाया करेंगे ॥ ५७ ॥ मनुष्यों के नाम व मनुष्यों के चित्रादि का अपने शरीरों पर अंकन पाखण्डी लोग करायेंगे ॥ ५८ ॥ हे देवताओ ! अधिक क्या कहूँ ? वे लोग श्रद्धापूर्वक एक ही काम करेंगे–वैदिक मर्यादाओं का विरोध ॥ ५९ ॥ शिवकृपा से युक्त धैर्यवान् विशिष्ट महात्मा ही मोक्षप्राप्ति के लिये केवल वेदोक्त धर्मों का पालन करेंगे ॥ ६० ॥

साक्षिशिवका स्वरूपकथन नामक तीसरा अध्याय

(प्रथम तीस श्लोकों द्वारा पूर्वाध्यायोक्त ऐतरेयोपनिषत् का विवरण करते हुए) ब्रह्माजी बोले–सबका आत्मा, सबका साक्षी शंकर ही है । साक्षी न होने पर साक्ष्य जगत् का भान कैसे हो सकता है ॥ १ ॥ सारा चराचर जगत् अपने से भिन्न

---

१. सर्वात्मेत्यत्रत्यात्मपदव्याख्यानं साक्षीति । एवकारः साक्षिभेदव्यावर्तकः । एतेन बहवो जीवसाक्षिणोऽपरश्चेश्वरसाक्षीति मतमस्वरसमित्युक्तम् । तुना साक्षिणः शिवस्य भेदो निराकृतः । ततो व्यतिहाराधिकरणन्यायेन (३.३.२३.३७) अत्यन्ताभेदोक्तिः । २. झ. °त्माऽऽत्मशब्देनो° । ३. झ. °गद्भायादतः । ४. ङ. °सेदतः ।

स्वतो भानविहीनं हि जगत्सर्वं चराचरम् । [१] *जडताऽजडता चास्य जगतो भानवत्तया ॥ २ ॥*

भानं विज्ञानतो जन्यमिति [२] *केश्चिदुदीर्यते । तन्न संगतमेव स्याज्जन्यं चेज्जडमेव तत् ।*

जडानामेव जन्यत्वं कुम्भादीनां हि संमतम् ॥ ३ ॥

विज्ञानं चापि भानस्य नैवोत्पादकमिष्यते । ज्ञानस्य भानरूपेण परिणामो न सिध्यति ॥ ४ ॥

अविक्रियत्वाज्ज्ञानस्य यदि तस्यापि विक्रिया । तर्हि क्षीरादिवच्चेत्यं भवेत्तन्नैव वेदनम् [३] *॥ ५ ॥*

तथा भानस्य विज्ञानं नैवाऽऽरम्भकमिष्यते । अद्रव्यत्वाद्गुणत्वेन परैरङ्गीकृतत्वतः ॥ ६ ॥

साक्षिस्वरूपवत्साक्ष्यस्यापि स्वत एव भानं कस्मान्न भवतीत्यत आह–**स्वत** इति । जडं हि जगत्स्वाभाविकस्फुरणरहितम् । अतः साक्षिस्फुरणाभावे तस्य भानं न स्यादित्यर्थः । ननु साक्षिणोऽभावेऽपि जडं जगदजडेन ज्ञानाधारेणाऽऽत्मना ज्ञायत एवेत्यत आह–**जडतेति** । अनात्मनो जडत्वमात्मनश्चाजडत्वमित्येतदुभयमप्यस्य जगतो भानवत्तयैवाधिगन्तव्यम् । यदि हि जगद् भानविषयं स्यात्तदा तस्य चिद्भास्यत्वाज्जडत्वम् । यस्तु तादृशभानाश्रयः सोऽजड इति जडत्वाजडत्वे उभे अपि भाना[४]धीननिरूपणे इत्यवश्यं साक्षिरूपं भानमङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

नन्वस्तु भानं, तत्तु चक्षुरादिव[५]दप्रकाशमानेन[६] निलीनेन विज्ञानेन स्वविषये जन्यत इति भाट्टमतमाशङ्कते–**भानमिति** । तन्निरस्यति–**तन्नेति** । यदि हि विषयस्फुरणरूपं भानं जन्यं स्यात्तर्हि मृज्जन्यघटादिवज्जन्यत्वहेतुना जडमेव स्यात् । अतो विषयवज्ज्ञानस्यापि जडत्वाविशेषात्तद्बलान्न तस्य स्फूर्तिसंभव इत्यर्थः ॥ ३ ॥

यत्तावदुक्तं विज्ञानेन भानं विषये जन्यत इति, न तद्युज्यत इत्याह–**विज्ञानं चेति** । भानस्य विज्ञानं जनकमिति वदन्वादी प्रष्टव्यः–किं विज्ञानं भानरूपेण परिण[७]तमुत भानस्याऽऽरम्भकमिति ? नाऽऽद्य इत्याह–**ज्ञानस्येति** । विकारिण एव क्षीरादेर्दध्यादिरूपेण परिणामो दृष्टः, स त्वविक्रियत्वाज्ज्ञानस्य न संभवति । यदि ज्ञानस्यापि विक्रिया स्यात्तर्हि क्षीरादिवदेव चेत्यं भवेत् । अतो विक्रियावत्त्वे सति तस्य ज्ञानत्वमेव हीयेतेत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

आरम्भकत्वमपि निराकरोति–**तथेति** । द्रव्यं हि द्रव्यान्तरारम्भकम् । तन्तुपटादौ तथा दृष्टत्वात् । विज्ञानं तु न द्रव्यम् । गुणत्वेन परैरङ्गीकारात् । अतो भानद्रव्यस्याद्रव्येण सता ज्ञानेनाऽऽरम्भो न युक्तः ॥ ६ ॥

आत्मा के बिना स्वयं प्रकाशित होने वाला है नहीं । अतः संसार का भान होने से ही संसार की जडता तथा जिससे इसका भान हो रहा है उसकी चेतनता मालूम पड़ जाती है ॥ २ ॥ कुछ लोग कहते हैं कि भान अर्थात् ज्ञान, विज्ञान अर्थात् अनुभव से उत्पन्न होता है । किन्तु उनका कहना गलत इसलिये है कि जन्य होने पर भान भी दीवालादि जन्य वस्तुओं की तरह जड ही स्वीकारना पड़ेगा (और तब उसकी सिद्धि भानान्तर से माननी होगी जिससे अनवस्थादि दोष होगा । उन वादियों की मान्यता है कि अनुभव अप्रकाशमान उत्पन्न होता है किन्तु स्वविषयक ज्ञान उत्पन्न करता है जिससे अनुभव का पता चलता है । परन्तु पुनः उस ज्ञान को प्रकाशमान ही उत्पन्न होने वाला माने विना अनवस्थादि से वच नहीं सकते । अतः अनुभव और ज्ञान दो वस्तुएँ नहीं यही स्वीकारना उचित है । तथा उसे स्वप्रकाश भी मानना चाहिये ।).॥ ३ ॥ किंच विज्ञान भान का उत्पादक हो भी नहीं सकता । यदि परिणामवाद मानकर कहो कि विज्ञान का भानरूप से परिणाम होता है तो परिणत होने वाला होने से भान दही आदि की तरह जड मानना होगा । भान को अविक्रिय–परिणाम से असंबद्ध–ही मानना अनिवार्य है । साथ ही जिसका परिणाम मानोगे उस विज्ञान को भी दूध आदि की तरह जड मानना होगा, फलतः जड का परिणाम भी जड होगा और पूर्ववत् दोष हो जायेगा ॥ ४–५ ॥ इसी प्रकार विज्ञान भान का आरंभक कारण हो यह भी उचित नहीं । आरंभक कारण मानने वालों के मत में द्रव्य ही आरंभक हुआ करता है और उन्हीं के मत में ज्ञान गुण है, द्रव्य नहीं । (अनुभवात्मकज्ञान भानात्मक ज्ञान का आरंभक मानने वाले यदि दोनों को गुण मानें तव तो आरंभ का असंभव स्पष्ट है । यदि विज्ञान को द्रव्य मानें तो उनके शास्त्र का ही विरोध है । भान को द्रव्य मानने से उनकी अभीष्ट सिद्धि में कोई लाभ होगा नहीं यह भाव है ।) ॥ ६ ॥

---

१. ङ. °डत्वाज्जड° । २. 'बुद्धिजन्मे'ति सूत्रम् (१.१.४.) । ३. ननु मे वेद्यमेव वेदःमनुव्यवसायेनानुमानेन वा तद्वेदनस्वीकारादिति चेद्बाढं, वेदनं वेद्यं चेत्तत्परिणामो भानमपि तथा स्यादेवं च ततो भानान्तरं स्वीकार्यं भवेदित्यनवस्था स्यादिति दोषात्तवमतमसाध्वितीह विदक्ष्मइत्यदोषः । ४. झ. °नाधारनि° । ५. घ. °वन्निली° । ६. झ. °न विज्ञाने° । ७. घ. च. °णमत उत ।

असद्रूपस्य भानस्य ज्ञानं नाऽऽरम्भकं भवेत् । वन्ध्यासूनोरपि ज्ञानं तदा ह्यारम्भकं भवेत् ॥ ७ ॥
प्रागसद्रूपभानस्य ज्ञानं नाऽऽरम्भकं भवेत् । असतः प्राक्त्वपूर्वाणां विशेषाणामभावतः ॥ ८ ॥
अतो विज्ञानजन्यत्वं नास्ति भानस्य सर्वदा ॥ ९ ॥
ज्ञानस्यापि न जन्यत्वमस्ति हे स्वर्गवासिनः । उक्तन्यायेन जन्यत्वप्रतीतिर्भ्रान्तिरेव हि ॥ १० ॥
भानस्यापि तथा भ्रान्तिर्जन्यत्वप्रतिभा सुराः । भावत्वे सत्यजन्यत्वाद्भानं नित्यं सुरोत्तमाः ॥ ११ ॥
यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः सुराः । स एव जगतः साक्षी सर्वात्मा शंकराभिधः ॥ १२ ॥

असद्रूपस्येति । आरम्भवादे ह्यसदेव कार्यमुत्पद्यत इति स्थितिः । तथा चासद्रूपस्य भानस्य ज्ञानमारम्भकमिति न युक्तम् । यदि ह्यसदपि ज्ञानमारभते तर्हि तज्ज्ञानं वन्ध्यापुत्रादेरप्यारम्भकं स्यात् । असत्त्वाविशेषादित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु प्रागसतः सत्तासंबन्ध उत्पत्तिरित्यङ्गीकाराद्वन्ध्यासुतादेश्चात्यन्तासत्त्वात्कथं तदारम्भकप्रसक्तिरित्यत आह–**असतः प्राक्त्वपूर्वाणामिति** । प्राक्त्वमत्यन्तासत्त्वमित्येवमादिभावरूपधर्मविशेषाश्रयत्वाभावात्तदाश्रयत्वे च भावत्वप्रसङ्गादसतस्तत्कृतो भेदो न युक्त इत्यर्थः । परिणामारम्भकत्वव्यतिरेकेणोत्पादकत्वानिरूपणाद्विज्ञानं भानस्य जनकमित्युपसंहरति–**अत** इति ॥ ८ ॥ ९ ॥

उक्तमर्थमन्यत्राप्यतिदिशति–**ज्ञानस्येति** । **उक्तन्यायेनेति** । यदि हि ज्ञानं जन्यं स्यात्तर्हि [1]जन्यत्वहेतुना घटवज्जडमेव स्यादित्यनेन न्यायेनेत्यर्थः । ननु रूपादिविषयैश्चक्षुरादीन्द्रियसंप्रयोगानन्तरं रूपादिविषयज्ञानं जायमानं दृश्यते का तर्हि तस्य गतिरित्यत आह–**जन्यत्वेति** । विषयाकारपरिणताऽन्तःकरणवृत्तिर्हि तत्र जन्यते । अतस्तदीयं जन्यत्वं तदवच्छिन्नचैतन्येऽपि स्फटिके लौहित्यादिवदवभासते । अतो भ्रान्तिरेव ज्ञाने जन्यत्वप्रतीतिरित्यर्थः ॥ १० ॥

भानस्यापीति । घटादिविषयस्फुरणरूपस्य भानस्यापि जन्यत्वप्रतीतिर्भ्रान्तिरेव तस्याप्युत्पत्तिमद्वृत्तिज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन तस्यैव जन्यत्वस्य तत्राध्यवसानात् । एवं भानस्याजन्यत्वं प्रसाध्य नित्यत्वं साधयति–**भावत्व** इति । अजन्यस्यापि प्रागभावस्यानित्यत्वदर्शनात्तद्व्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि–**भावत्वे सतीति** । विमतं नित्यं भावत्वे सत्यजन्यत्वादात्मवदित्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

एवं भानस्य नित्यत्वं प्रसाध्य तदभेदात्परमेश्वरस्य प्रतिज्ञातं साक्षिचिन्मात्ररूपत्वं निगमयति–**यज्जगदिति** । यदेतत्सर्वं जगतो भासकं नित्यं भानं स्वभावतो भानान्तरनैरपेक्ष्येण भाति स एव सर्वस्य जगतः साक्षी द्रष्टा सर्वदेहेष्वात्मभावेनावस्थितः परमेश्वरः । यद्भानमित्युद्देश्यस्य नपुंसकलिङ्गत्वेऽपि स एवेति पुंलिङ्गनिर्देशो विधेयापेक्षया । उक्तं हि–'निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकतामापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गतामुपाददते' इति[2] । तादृशभानात्मको यः स एव साक्षिरूपेणावस्थितः परशिवो न तु जडरूप इत्यर्थः ॥ १२ ॥

असदात्मक भान का (अर्थात् जो है ही नहीं ऐसे भान का) आरंभक विज्ञान नहीं बन सकता क्योंकि यदि असद् उत्पन्न करने की उसमें सामर्थ्य हो तब तो वन्ध्यापुत्र को भी उत्पन्न कर ले ! ॥ ७ ॥ यदि कहो कि भान और वंध्यासुत दोनों नहीं हैं इतनी समानता होने पर भी उनमें वैषम्य है कि भान तो पहले न होते हुए बाद में सत्ता से सम्बद्ध अर्थात् उत्पन्न हो जाता है जबकि वंध्यासुत सदा नहीं ही रहता है, तो वैसा कहना असंगत है क्योंकि 'पहले', 'बाद में' इत्यादि विशेषतायें उसकी नहीं हो सकती जो है ही नहीं । अतः जो है ही नहीं वह पहले नहीं रहता आदि कथन बनता नहीं । (सत्ता से सम्बन्ध भी स्थापित करने वाला वही होगा जो है, जो है ही नहीं वह सम्बन्ध क्या स्थापित करेगा ? आदि अन्य दोष भी समझ लेने चाहिये ।) इसलिये यह कभी नहीं हो सकता कि भान विज्ञानजन्य हो ॥ ८–९ ॥ पराभिमत भान की तरह विज्ञान भी उत्पन्न होने वाला नहीं हो सकता । इसमें भी पूर्वोक्त युक्तियाँ समझ लेनी चाहिये । जो यह प्रतीति होती है कि ज्ञान पैदा हो गया वह केवल भ्रम से है । (दण्डी पैदा हो गया, दण्डी नष्ट हो गया इत्यादि की तरह उपाधि से अविवेक के कारण उपाधि के जन्म-नाश ज्ञान में प्रतीत होते हैं । ज्ञान रहित स्थिति तो प्रमाण क्या, कल्पना का भी विषय नहीं है ।) ॥ १० ॥ भान का पैदा होना भी भ्रांति से प्रतीतिमात्रसिद्ध है, वास्तविक नहीं । (यद्यपि स्वमत में ज्ञान व भान अपृथक् हैं तथापि परमत से दोनों का दृष्टान्तदार्ष्टान्ततया कथन है ।) भावरूप व जन्मरहित होने से भान नित्य है यह सिद्ध होता है ॥ ११ ॥ जगत् को प्रतीत कराने वाला जो भान सदा स्वतः भासता रहता है वही शंकर नामक जगत्साक्षी तथा सर्वरूप है ॥ १२ ॥ उस शंकर में कल्पित सम्बन्ध से स्थित

१. झ. जडत्व° । २. झ. °ति । ईदृ° ।

तेन [1]कल्पितसंबन्धादज्ञानं भाति न स्वतः । अज्ञानजन्यं चित्तं च रागद्वेषादयस्तथा ॥
[2]अज्ञानस्पृष्टचैतन्यादेव भान्ति न च स्वतः ॥ १३ ॥
प्राणश्चापि तथा बाह्यकरणानि वपुस्तथा । चित्तवृत्त्यभिसंबन्धद्वारेणैव दृगन्वयात् ॥ १४ ॥
विभान्ति न स्वतो बाह्यविषयाश्च तथैव च ॥ १५ ॥
अनुमानादिवृत्तिस्थं चैतन्यं सुरसत्तमाः । अर्थानामपि केषांचिद्भासकं तेन शंकरः ॥ १६ ॥
सर्वावभासकः प्रोक्तस्तेन[3] भातमिदं जगत् । अतो रूपाणि तेनैव पश्यतीशेन मानवः ॥ १७ ॥

तस्य च नित्यस्वप्रकाशभानमात्रस्वरूपस्याज्ञानतत्कार्यरूपसर्वजगत्साक्षित्वमुपपादयति—**तेन कल्पितसंबन्धादिति** । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यसङ्गश्रुतेर्भानमात्ररूपस्य परशिवस्य न केनचिदपि पारमार्थिकसंबन्धः शक्यते वक्तुम् । अतश्चाज्ञानवत्संबन्धोऽपि साक्षिणि परिकल्पितो विद्यत इति तत्संबन्धवशात्तेन साक्षिभावेन तत्स्वरूपेऽध्यस्तमज्ञानं भाति न तु स्वाभाविकेन प्रकाशेनेत्यर्थः । **अज्ञानजन्यमिति** । तेनाज्ञानेन जन्यं यत्सत्त्वपरिणामरूपमन्तःकरणं ये च रागादयस्तद्धर्मास्तत्सर्वं स्वोपादानभूताज्ञानसंबद्धचैतन्यादेव भाति न तु स्वभावतः ॥ १३ ॥

प्राणश्चापीति । प्राणेन्द्रियदेहादिकमप्युपादानभूताज्ञानसंबन्धद्वारा चित्संवलिता या चित्तवृत्तिस्तद्व्याप्ततया परम्परया दृग्रूपसाक्षिचैतन्यसंबन्धवशादेव भाति न तु स्वत इत्यर्थः । **बाह्यविषयाश्चेति** । बाह्यघटपटादिविषयजातमपि स्वसंप्रयुक्तचक्षुरादीन्द्रियसंबन्धाच्चित्संवलिततद्विषयाकारान्तःकरणवृत्तिव्याप्यतया परम्परया साक्षिचैतन्यसंबन्धादेव भाति ॥ १४ ॥ १५ ॥

अनुमानादिवृत्तिस्थमिति । **आदिशब्देनोपमानादिसंग्रहः** । धूमवत्त्वादिव्याप्तिहेतुजनिता याऽन्तःकरणवृत्तिस्तत्र प्रागुक्तरीत्या यदवस्थितं चैतन्यं तदपि स्वाश्रयभूतान्तःकरणवृत्तिजनकधूमवत्त्वादिहेतुव्यापकानामग्निमत्त्वादीनां केषांचिदर्थानां परम्परया संबन्धाद्भासकं भवति । अपरोक्षज्ञानविषयेषु ह्यधिष्ठानस्फुरणसंभवाद् वृत्तिव्याप्यत्ववत्फलव्याप्यत्वमप्यस्ति । अनुमानादिपरोक्षज्ञानविषयेषु नैतादृशं फलव्याप्यत्वमस्तीति **वृत्तिस्थमिति** वदतोऽभिप्रायः । भानमात्ररूपस्य परशिवस्योपपादितं सर्वसाक्षित्वं निगमयति—**तेनेति** । एवं जीवभावेन प्रविश्यावस्थितस्य परशिवस्य साक्षिचिन्मात्ररूपत्वं प्रसाधितम् । तथा च 'कतरः स आत्मे'ति श्रुत्या प्रागवतारितस्य प्रश्नस्य सर्वसाक्षी चिद्रूप एव स आत्मा न तु प्राण इति प्र[4]तिवचनं जातम् । इममेवार्थं श्रुतिरुत्तररूपेण प्रतिपादयति । 'येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च जानाती'त्यस्याः श्रुतेरर्थं संगृह्य प्रतिपादयति—**अतो रूपाणीत्यादिना** । यत उक्तयुक्तिबलात् 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेश्चाऽऽत्मा साक्षिरूपेण सर्ववस्त्ववभासकोऽतः कारणात्तेनैव सर्वावभासकपरशिवस्वरूपेणानेन सर्वसाक्षितया हृदयमध्येऽवस्थितेन चक्षुःसंप्रयुक्तरूपजनितमनोवृत्त्यभिव्यक्तेन चित्प्रकाशेनैव रूपाणि पश्यति ॥ १६ ॥ १७ ॥

अज्ञान प्रतीत होता है । अज्ञान स्वतः कभी प्रतीत नहीं होता । ('मुझे अज्ञान है' आदि ढंग से आत्मा से संबद्ध ही अज्ञानानुभव होता है । केवल 'अज्ञान' ऐसा अनुभव नहीं होता । अतः अपने में स्थित अज्ञान ही प्रतीत होता है । ज्ञानरूप आत्मा में अज्ञान की स्थिति कल्पनारूप ही संभव है ।) अज्ञान से उत्पन्न चित्त तथा उसके राग, द्वेष आदि व्यापार भी स्वतः नहीं भासा करते किंतु अज्ञानसम्बद्ध चैतन्य से ही भासते हैं ॥ १३ ॥ प्राण, बाह्य इंद्रियाँ तथा शरीर—ये भी चित्तवृत्ति द्वारा आत्मा से सम्बद्ध होने से ही भासते हैं, स्वतः नहीं । बाह्य विषयों का भान भी आत्मसम्बंध से ही होता है, उसके बिना नहीं ॥ १५ ॥ अनुमित्यादि वृत्तियों में स्थित चैतन्य भी कुछ पदार्थों का भासक होता है । (प्रत्यक्षस्थलों में इंद्रिय संहित मनोवृत्ति का विषयसम्बंध होने से तदविविक्त आत्मा का सम्बन्ध उपपन्न है किन्तु परोक्षस्थलों में विषय से मन का क्या सम्बन्ध ? सम्बन्ध के बिना ज्ञान मानने में अतिप्रसंग स्फुट है । अतः पुराण में इसका उत्तर सूचित किया है । इस विषय पर प्रकाशात्मश्रीचरण का कथन है कि परोक्ष वस्तुविषयक अज्ञान की निवृत्ति ही उनका सम्बंध मान सकते हैं । उनका वाक्य है 'विषयत्वं नाम अनुमेयेषु सुषुप्तिव्यावृत्तिः', तत्त्वदीपन में इसका व्याख्यान है 'सुषुप्तिव्यावृत्तिः—तद्विषयाज्ञाननिवृत्तिरित्यर्थः ।' (पृ. ४०३ कल.) । इसीलिये लघुचंद्रिका में आकाराख्यविषयता को भी वृत्ति का विषय से

१. कल्पनासम्बन्धादित्यर्थः । मायिकसम्बन्ध इत्यमुष्यापि मायैव सम्बन्धोपीत्यर्थो भवति । २. अतो बिन्दौ 'अज्ञानाध्यासविशिष्टचैतन्येऽहङ्काराध्यासस्तद्विशिष्टे कामसंकल्पादीनामहंकारधर्माणामिन्द्रियधर्माणां च काणत्वबधिरत्वक्लीबत्वादीनामध्यास' इत्याद्युक्तम् (पृ. २५० प्र. द्वा.) ॥ ३. घ. °न सर्वमि° । ४. झ. वचनं ।

शृणोत्यनेन शब्दांश्च गन्धानाजिघ्रति प्रियान् । अनेनैव सदा वाचं व्याकरोति तु मानवः ॥
अनेन स्वादु चास्वादु विजानाति च मानवः ॥ १८ ॥[1]
शंकराख्यं तु विज्ञानं[2] बहुधा शब्द्यते बुधैः । केचिद्धृदयमित्याहुर्ब्राह्मणा हे सुरोत्तमाः ॥ १९ ॥

तथा श्रोत्रसंप्रयुक्तशब्दजनितमनोवृत्त्यभिव्यक्तेनानेनैव चित्प्रकाशेन शब्दाञ्जानाति । **गन्धानाजिघ्रतीत्याद्यप्येवं योज्यम् । सदा वाचमिति** । व्याकर्तव्यशब्दविषयमनोवृत्त्यभिव्यक्तेनानेनैव चित्प्रकाशेन वागिन्द्रियद्वारा वाच्यं वाक्यं व्यवहरति । एतच्चान्यस्य पाणिपादादेरपि कर्मेन्द्रियस्योपलक्षणम् । **अनेन स्वादु चेति** । रसनेन्द्रियसंप्रयुक्तमधुरादिरसजनितमनोवृत्त्यभिव्यक्तेनानेनैव चित्प्रकाशेन स्वाद्वस्वादुविभागं जानाति । श्रुतिगतो वाशब्दश्चार्थे । एतदुक्तं भवति । चक्षुःश्रोत्रादिविभिन्नकरणजनितेषु रूपादिज्ञानेषु योऽयमनुगतश्चित्प्रकाशः स एव साक्षिरूप आत्मेति । 'न'न्वेष हि द्रष्टा श्रोते'त्यादिश्रुतेरसावेवोपलब्धा योऽनुगतश्चित्प्रकाशः प्रदर्शितस्तस्य च पश्यतीत्यादिकर्तृवाचितिङाऽभिहितत्वादनेनेति कथं तृतीयान्तनिर्देशः ? नैष दोषः । अन्तःकरणतद्वृत्तिपरिकल्पित-भेदोपजीवनेन करणत्वोपचारात् । अत एव कठवल्लीष्वप्याम्नातम्–'येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् । एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत्' इति । आचार्यास्तु 'प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति' इति कौषीतकिश्रुतेरेकस्यैव प्रज्ञाशब्दाभिधेयान्तःकरणस्य वाक्चक्षुरादिनानाविधकरणभावेनावस्थानात्तस्य चान्तःकरणस्य प्रपदाभ्यां प्रविष्टस्य प्राणस्य च 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः' इत्येकत्वश्रुतेरुपलब्धिकरणत्वेन गुणभूत-त्वात्प्राणोऽनात्मेति दर्शयितुं येन वा पश्यतीत्यादौ तृतीयान्तपदं चक्षुरादिभेदभिन्नान्तःकरणपरतया व्याख्याय[3] 'यदेतद्धृदयं मनश्चे'ति हृदयमनःशब्दाभ्यां निश्चयरूपं संकल्पविकल्पात्मकमन्तःकरणं सकलेन्द्रियसाधारणं प्रतिपाद्यत इति चक्षुरादिजनितमनोवृत्तिलक्षणोपाधिप्राधान्यविवक्षया व्याकार्षुः । यथाऽऽहुः–एतेनान्तःकरणेनैकेन चक्षुर्भूतेन रूपं पश्यति श्रोत्ररूपेण शृणोति घ्राणरूपेण जिघ्रति वाग्भूतेन च वदति जिह्वाभूतेन रसयति स्वेनैव कल्पनारूपेण मनसा संकल्पयति हृदयरूपेणाध्यवस्यति, तस्मात्सर्वविषयव्यापकमेकमिदमन्तःकरणमिति ॥ १८ ॥

अत्र तु हृदयमनःशब्दावपि संज्ञानादिशब्दवन्नामत्वेन प्रतिपाद्येते उपधेयचित्प्राधान्यविवक्षया तानि च नामान्येवमाम्नातानि–'यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जू[4]तिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति

सम्बंध माना गया है (पृ. ४७९ बंब.) । आश्रमस्वामी तो यहाँ माया की शरण लेते हैं । सम्बंध के बिना भी अघटितघटनापटी-यसी माया से ही आत्मप्रतिबिम्बाश्रयावच्छेदकत्व हो जाने से प्रमाता और विषय सम्बद्ध हो जाते हैं । (वेदान्ततत्त्वविवेक पृ. २७६) । अथवा चैतन्य एक तथा व्यापक होने से 'तदाकारवृत्त्युपहितचैतन्यतादात्म्य'–यह परोक्ष विषय का सम्बंध कहा जा सकता है । तदाकारता के लिये विषय कारण नहीं । पद्मपादाचार्य ने कहा है 'नानुमेयादिष्वपरोक्षत्वं, स्वज्ञानोत्पत्तावव्यापृतत्वात्, लिंगादीनामेव कुतश्चित् सम्बन्धविशेषाद् विशिष्टैकार्थज्ञानहेतुत्वात्, प्रमेयस्य च स्वज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे प्रमाणाभावात् ।' (पृ. ४०२-४०३ कल.) । अतः कार्यकारणभाव से ही परोक्ष स्थलों में तदाकारता मानकर उक्तरीत्या सम्बंध उपपन्न हो जाता है । शंका हो सकती है कि तब अपरोक्षस्थलों में विषय को क्यों कारण मानें ? परिहार यह है कि जैसे परोक्ष में लिंगादि को जनक माना है ऐसे प्रत्यक्ष में विषयेन्द्रिय संनिकर्ष को जनक माना जाता है और सम्बंध का कारण संबंधी हुआ करता है अतः प्रत्यक्ष में जनक मानना संगत है । जनकान्तर दुर्निरूप तथा गौरवग्रस्त भी होगा । यदि मायामयता से काम चलाने की अभिलाषा हो तब तो इष्टापत्ति भी समझ लेनी चाहिये । सारांश यही है कि विषयज्ञान भी आत्मसम्बन्ध से ही होता है, उसके बिना नहीं ।) अतः शंकर ही सबके अवभासक बताये गये हैं । उन्हीं से यह जगत् प्रतीत होता है । अतः मानव शंकर द्वारा ही रूपदर्शन करता है ॥ १६–१७ ॥ इन्हीं शंकर द्वारा मानव शब्द सुनता है, गंध सूँघता है, वाणी व्यक्त करता है तथा स्वादिष्ट व अस्वादिष्ट का ग्रहण करता है । (यद्यपि ग्रहणकर्ता भी आत्मा है और यहाँ उपाय भी उसे कहा है तथापि उपाधिभेद से द्वैविध्य उपपन्न है । देहस्थ अहंकार नामक जो अंतःकरणभाग है उससे उपहित हुआ आत्मा उपलब्धा एवं कर्ता है और अंतःकरण की वृत्ति नामक क्रियाभाग से उससे उपहित हुआ आत्मा उपलब्धि का साधन है तथा प्राणसहकृत इंद्रियों से उपहित हुआ आत्मा क्रिया का साधन है ।) ॥ १८ ॥ शंकर नाम के इस विज्ञान को विद्वान् विभिन्न नामों से कहते हैं । कुछ इसे हृदय कहते हैं । (एक के भी अनेक नाम विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्तों से हुआ ही करते हैं । एकरूप विज्ञान उपाधि-

---

१. अस्य संग्रहः 'येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च । स्वाद्वस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥' ५.१ ॥ इति पञ्च-दश्याम् । २. विज्ञानमिति स्वाभिप्रायेण, न तु प्रागुक्तभानजनकाभिप्रायेण, भानविज्ञानेऽपृथगासातेइति तात्पर्यम् । ३. झ. य तदे° । ४. घ. भूतिः° ।

मन इत्यपरे सन्तः संज्ञानमिति केचन । आज्ञानमिति विद्वांसः केचिद्वै स्वर्गवासिनः ॥ २० ॥
विज्ञानमिति चाप्यन्ये प्रज्ञानमिति केचन । मेधेति ब्राह्मणाः केचिद् दृष्टिरित्यपरे बुधाः ॥ २१ ॥

सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति' इति । एतानि च नामानि चिन्मात्रस्वरूपस्य परशिवस्य व्यवहर्तृपुरुषभेदापेक्षयैवैतावन्ति भवन्तीति तद्व्यवहर्तृपुरुषसंबन्धित्वयैव तानि नामानि संगृह्णाति—**शंकराख्यं तु विज्ञानमित्यादिना** । तुशब्दोऽवधारणे । यदनन्तमस्वप्रकाशसर्वचिदात्मकं सर्वदा सर्वसत्त्वावभासकं भानं शंकराख्यं प्रागुपन्यस्तं तदेव हृदयमनःसंज्ञानादिशब्दैस्तत्तदुपाधिसंबन्धवशात्तत्तन्नाम्ना बहुधा विद्वद्भिर्गीयते न त्वस्माच्चिदात्मनो हृदयमनःप्रभृतिकं तत्त्वान्तरमित्यर्थः । **हृदयमित्याहुरिति** । हृदयस इत व्युत्पत्त्या हृन्मध्यवर्त्यन्तःकरणं हृदयं तच्चात्राध्यवसायात्मकं विवक्षितम् । हृदयस्वरूपेणाध्यवस्यतीति तथात्वप्रतिपादकाचार्यभाष्यस्य च प्रागुदाहृतत्वादेवं निश्चयस्यान्तःकरणोपादानकत्वेन तदुपहितं प्रज्ञप्तिमात्रं ब्रह्मस्वरूपमपि हृदयशब्देन व्यवहरन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं मनःसंज्ञानादयोऽपि सत्त्वपरिणामरूपान्तःकरणस्य वृत्तिभेदाश्चिन्मात्रस्य साक्षिण उपाधिभूताः । अतस्तदुपादानवशात्तस्य तानि नामधेयानीति योजनीयम् । उक्तं ह्याचार्यैः—इत्येवमाद्या अन्तःकरणस्य वृत्तय उपलब्धुः शुद्धप्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपाधिभूतास्तदुपाधिजनितगुणनामधेयानि संज्ञानादीनि । तत्र चाऽऽदावन्तःकरणस्य संकल्पविकल्परूपा वृत्तिर्मनः । **संज्ञानं** संज्ञप्तिर्यद्योगादसौ चेतन इति व्यपदिश्यते । आज्ञानमाज्ञप्तिराज्ञाशक्तिरूपा वृत्तिः ॥ २० ॥

विज्ञानं लौकिकसूक्ष्मवस्तुविषया वृत्तिः । **प्रज्ञानं** प्रज्ञप्तिः प्रज्ञा । यथोक्तम्—'स्मृतिस्त्वतीतविषया मतिः रागादिगोचरा । बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता' ॥ इति । **मेधा** ग्रन्थधारणसामर्थ्यम् । **दृष्टिः**श्चक्षुरादीन्द्रियद्वारा घटपटादिविषयाकारपरिणता वृत्तिः ॥ २१ ॥

वैविध्य से विविधाकार प्रतीत होकर विविध नामों से कहा जाता है । यहाँ हृदयशब्द निश्चयात्मक चित्तवृत्ति को कहता है । निश्चय दो प्रकार का स्वीकार्य है । एक तो 'यह ऐसा ही है' इत्यादि रूप मनोवृत्ति जो पदार्थ के संशयादिशून्य ज्ञान के समय बनती है । एतादृश निश्चय से उपहित चेतन निश्चय का एक अर्थ है । निश्चय शब्द का दूसरा अर्थ है तद्विषयक संशय न रहते हुए तद्विषयक अज्ञाननिवृत्ति से उपलक्षित आत्मा (तत् = यद्विषयक निश्चय है ।) । इससे उन निश्चयों का संग्रह हो जाता है जो तादृश वृत्ति के बिना भी बने रहा करते हैं । नाना जीवों की दृष्टि से आत्मा का यह विशेषण समझना चाहिये—तद्विषयकाज्ञाननिवर्तकाश्रयविशिष्ट । तद्विषयक अज्ञान का निवर्तक होगी मनोवृत्ति जिसका आश्रय है मन, उससे विशिष्ट आत्मा ही जब तद्विषयक संशय न रहते हुए तद्विषयकाज्ञाननिवृत्ति से उपलक्षित है तब वही—आत्मा ही—तद्विषयक निश्चय रूप है । इससे सौषुप्तावस्था में निश्चय नहीं रहेगा—यह शंका इष्टापत्ति से परिहार्य है । 'सकले विलीने' आदि श्रुतियाँ इससे उपपन्न होंगी । उभयविध निश्चय यहाँ हृदय शब्द का अर्थ है ।) ॥ १९ ॥ अन्य सन्त उसे मन कहते हैं । (संशय के आकार की वृत्ति वाला अंतःकरण जब उपाधि हो तो उससे उपहित आत्मा मन कहा जाता है ।) कुछ उसे संज्ञान कहते हैं । (सारे शरीर में व्याप्त रहने वाली वह चित्तवृत्ति जिसके कारण कहा जाता है कि व्यक्ति अभी चेतन है—सजग है—जब उपाधिरूप से विवक्षित होती है तब तदुपहित आत्मा संज्ञान कहा जाता है । मन सांश वस्तु होने से संज्ञानात्मक वृत्ति रहते हुए ही दर्शनादि अन्यान्य वृत्तियाँ रहें तो कोई आपत्ति नहीं । संज्ञानवृत्ति का मुख्य आकार 'मैं जगा हूँ' ऐसा माना जा सकता है ।) कुछ विचारक इस आत्मा को आज्ञान भी कहा करते हैं । 'मैं आज्ञा दे सकता हूँ' ऐसी वृत्ति—ईश्वरभाव—से उपहित अवस्था में आत्मा आज्ञान नामक हो जाता है ॥ २० ॥ अन्य उसे विज्ञान कहते हैं । (कला आदि लौकिक सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान विज्ञान है ।) कभी उसे प्रज्ञान भी कहा जाता है । (भूत का स्मरण तथा भविष्य को दृष्टि में रखते हुए वर्तमान को समझना प्रज्ञान शब्द का अर्थ है । ऐसी वृत्ति से उपलक्षित चेतन भी प्रज्ञान शब्द से कहा जाता है ।) अन्य शंकर को मेधा कहते हैं । (ग्रंथ याद करने की मानस सामर्थ्य मेधा व तदुपलक्षित आत्मरूप शंकर मेधा शब्दार्थ है ।) अन्य बुद्धिमान् उन्हें दृष्टि कहते हैं । (दृष्टि से चक्षु आदि इंद्रियों द्वारा घट पट आदि विषयों के आकारों में परिणत बुद्धिवृत्तियों से उपलक्षित चित् समझनी चाहिये ।)

---

१. ध. हृदि° । २. अ. तत्क्ष° ।

धृतिरित्यपरे प्राज्ञा मतिरित्यपि केचन । मनीषेति महाप्राज्ञा[1] [2]जूतिरित्यपरे बुधाः ॥ २२ ॥
स्मृतिरित्यास्तिकाः केचित्संकल्प इति केचन । क्रतुरित्यपरे प्राज्ञाः काम इत्यपरे जनाः ॥ २३ ॥
वश इत्यास्तिकाः केचित्सर्वाण्येतानि संततम् । प्रज्ञानस्य शिवस्यास्य नामधेयान्यसंशयम् ॥ २४ ॥
एष ब्रह्मैष एवेन्द्र एष एव प्रजापतिः । एष एव हि देवाश्च भूतानि भुवनानि च ॥ २५ ॥
अण्डजा जारुजाश्चैव स्वेदजा उद्भिजा (ज्जा) अपि । अश्वा गावश्च मर्त्याश्च हस्तिपूर्वास्तथैव च ॥ २६ ॥

धृतिर्देहेन्द्रियादिधारणसामर्थ्यम् । मतिर्मननमागामिविषया वृत्तिः । मनीषा मनस ईषा । तत्र स्वातन्त्र्यमिति यावत् । जूती रोगादिभिश्चेतसो दुःखित्वभावना ॥ २२ ॥

स्मृतिरनुभूतिविषया[3] संस्कारजा वृत्तिः । संकल्प इदं शुक्लमिदं कृष्णमिति भेदेन सम्यक्कल्पनारूपः । क्रतुरिदमित्थमेवेत्यध्यवसायः । कामोऽसंनिहितविषयाकाङ्क्षा ॥ २३ ॥

वशः संनिहितस्रक्चन्दनस्त्र्यन्नपानादिविषयोऽभिलाषः । अत्रासुरिति श्रुत्युक्तं नाम प्राणवाचकतया प्रसिद्धत्वात्तदुपाधिकस्य प्रज्ञानब्रह्मणोऽप्रसिद्धमिति न पृथगुक्तम् ॥ २४ ॥

एवमन्तःकरणतद्वृत्त्युपहितं रूपशब्दादिसकलवस्त्ववभासकं नित्यस्वप्रकाशसाक्षिचैतन्यमेवाऽऽत्मेति प्रतिपादितम् । तस्यैव ब्रह्मादिस्तम्बान्ते स्थावरजङ्गमात्मके जगति जीवभावेनोपादानभावेन च सर्वत्रावस्थानाभिप्रायेण परिच्छेदभ्रमं व्युदसितुं श्रुतिः सार्वात्म्यं प्रतिपादयति–'एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्' इति । इमां श्रुतिं संगृह्णाति–**एष ब्रह्मेत्यादिना** । यः प्रागुक्तः स्वप्रकाशः साक्षी चिद्रूप आत्मैष एव ब्रह्मा । अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यलिङ्गशरीरसमष्ट्युपहितः सन्हिरण्यगर्भापरपर्यायो ब्रह्मा भवतीत्यर्थः । यद्वा ब्रह्मेति नपुंसकलिङ्गतया पदविभागः । यत्परं ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणं जलतरङ्गबुद्बुदादिष्वनुप्रविष्टसूर्यबिम्बवत्सर्वप्राण्यन्तःकरणोपाधिष्वनुप्रविष्ट एष एव तद्ब्रह्म नान्यदित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि योजना । परमैश्वर्ययोगादिन्द्रः । यद्वा इदंकारास्पदघटादिवदिदमित्यापरोक्ष्येण यः साक्षी स्वात्मभूतं ब्रह्म साक्षात्करोति स इन्द्रः । श्रूयते हि–'इदमदर्शमिती ३ । तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण' इति । यद्वा

कुछ लोग उसे धृति कहा करते हैं । (थके हुए भी शरीर आदि से काम लेने की सामर्थ्य से उपहित चित् धृति है ।) कुछ के मत में वह मति है । (आगामी विषय को सोचते हुए मन से उपहित चित् मति है ।) अन्य उसे मनीषा कहते हैं । (स्वतंत्रता से ऊहापोह की सामर्थ्योपलक्षित चित् मनीषा है ।) अन्यों ने उसे जूति कहा है । (रोगादि से चित्त का दुःखी होना अर्थात् रोगादि से दुःखी चित्त से उपलक्षित चित् जूतिशब्दार्थ है । यद्यपि भाषा में जूति कहते हैं तेजी को तथापि ऐतरेयभाष्य में उक्त अर्थ ही किया गया है ।) ॥ २२ ॥ कुछ उसे स्मृति कहते हैं । (संस्कारजन्य अनुभूतविषयक ज्ञानात्मिका वृत्ति से उपलक्षित चित् स्मृति है ।) कुछ संकल्प कहते हैं । (लाल, नीला आदि भेदों से ठीक ठीक समझना जब बुद्धि करे तब उससे उपलक्षित चित् संकल्प है । सामान्यतः 'मैं ऐसा करूँगा' आदि निश्चय संकल्प कहे जाते हैं किन्तु निश्चय यहाँ हृदय से कहे जा चुके हैं अतः ऐतरेय भाष्य में ऐसा अर्थ किया गया है ।) अन्यों की दृष्टि में वह क्रतु है । (यह ऐसा ही है ऐसा निश्चय क्रतु है । हृदय से वस्तुमात्र का निश्चय और क्रतु से उसके किसी विशेष का निश्चय समझना चाहिये ।) उसे ही इतर विचारक काम कहते हैं । (अनुपस्थित वस्तु की अभिलाषा से उपहित चित् काम है ।) ॥ २३ ॥ कुछेक उसे ही वश कहते हैं । (उपस्थित की अभिलाषा से उपहित चित् वश है ।) ये सभी शिव के ही नाम हैं ॥ २४ ॥ ब्रह्मा, इंद्र, प्रजापति (विराट्), सारे देवता, सब भूत, सब भुवन, अण्डज,

---

१. झ. °ज्ञा भूति° । २. अतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्चेति (३.३.९७) निपातनात् जुङ्गतौ धातोः क्तिन् दैर्घ्यं च । जुङ् गताविति क्षीरस्वामी नन्दिमते पठति । वृत्तिकृत्तु जुं सौत्रमाहेति तत्रोक्तम् । अतः 'जवने जूतिः' इत्यमरः (वेग इत्यर्थः) । ३. अनुभूतेर्यो विषयो बभूव स एव विषयोस्या इत्यर्थः ।

स्थावरं जङ्गमं चैव तथाऽन्यदपि[1] किंचन । सर्वमेतदयं शंभुः प्रज्ञानघनलक्षणः ॥ २७ ॥
प्रतिष्ठा सर्ववस्तूनां प्रज्ञैषा पारमेश्वरी । प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म शिवरुद्रादिसंज्ञितम् ॥ २८ ॥

देवानामधिपतिरिन्द्रस्तस्य हृदयेऽपि साक्षिरूपेणावस्थानादेष एव स इत्यर्थः । **प्रजापतिः** पञ्चीकृतस्थूलभूतारब्धब्रह्माण्डान्तर्वर्ती प्रथमशरीरी विराट् । **देवा** अग्न्यादयः । योऽयमन्तर्देहेऽवस्थितश्चिदात्मैष एव ब्रह्मेन्द्रादिदेहेष्वपि साक्षिरूपेणावस्थितः । चित्प्रकाशसाम्येनैक्यप्रतिसंधानात् । तद्भेदप्रतीतिस्तूपाधिकृतेत्यर्थः । **भूतानि भुवनानि** चेति । सर्वशरीरोपादानभूतानि यानीमानि पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि तत्कार्यरूपाणि यानि च भुवनानि लोकास्तन्मध्ये वर्तमाना येऽण्डजाः पक्ष्यादयः, ये च जारुजा जरायुजा मनुष्यादयः, ये च स्वेदजाः स्वेदबिन्दुपरिणामरूपा यूकाद्याः, ये चोद्भिज्जा भूमिमुद्भिद्य जायमानास्तरुगुल्मादयः । एवं सामान्यतश्चातुर्विध्येन सर्वं जगन्निर्दिश्य विशेषतोऽपि निर्दिशति–**अश्वा** इति । **हस्तिपूर्वा** इति । हस्तिप्रमुखाः प्राणिन इत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

स्थावरमचलं वृक्षादिकम् । **जङ्गमं** पादगमनशीलम् । **तथाऽन्यदपीति** । पक्षाभ्यामाकाशे पतनशीलं यत्पतत्रि चे'ति श्रुत्युक्तं तदन्य[2]शब्देन विवक्षितम् । एवं यदेतद्भूतभौतिकरूपं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्तत्सर्वं प्रज्ञानब्रह्मरूपं सर्वसाक्षिण्युत्पत्तिस्थितिलयाधिष्ठानेऽज्ञानपरिकल्पितत्वाद् दृग्रूपेण तेनैव प्रतीतिपथं नीयमानत्वाच्च वस्तुतस्तत्स्वरू[3]पानतिरिक्तत्वान्निरन्तरप्रज्ञान[4]घनलक्षणः परमेश्वर एव न तु ततोऽतिरिच्यत इत्यर्थः । 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रमि'ति[5] प्रतिज्ञातार्थस्य प्रतिपादनाय 'प्रज्ञानेत्रो लोक' इति वाक्यम् । यतः सर्वोऽपि लोकः प्रज्ञानेत्रश्चिदधीनप्रवृत्तिकत्वादुदीरितप्रज्ञप्तिरूपसाक्षिनेत्रक एव परिदृश्यते, अतस्तत्सर्वं जगत्प्रज्ञानेत्रमित्यर्थः ॥ २७ ॥

'प्रज्ञाने प्रतिष्ठितमि'ति यत्सर्वसाक्षिभूतं प्रज्ञानमाधेयप्राधान्येन गुणभूततयाऽधिकरणत्वेन निर्दिष्टं[6] तस्याऽऽधेयसकलजगदुपलक्षितस्य प्रज्ञानमात्रस्य मुख्यतया ज्ञेयत्वं द्योतयितुं पुनराधारप्राधान्येन निर्दिश्य तदनूद्य तस्य ब्रह्मात्मत्वं प्रतिपादयति श्रुतिः 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' इति । तदर्थं संगृह्णाति–**प्रतिष्ठेति** । **पारमेश्वरी** परमेश्वरस्यैव जीवभावेनावस्थानात्तत्संबन्धिनी या सर्वसाक्षिणी चित्सैषा प्रागुदीरितरीत्या **सर्ववस्तूनां प्रतिष्ठा**ऽऽश्रयः । स्वाज्ञानपरिकल्पितसकलजगदुत्पत्तिस्थितिलयाधिकरणत्वात् । अत एव तैत्तिरीयके समाम्नातम्–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति । एवं सकलकल्पनास्पदं सर्वदा सर्ववस्त्ववभासकं यत्साक्षिरूपं[7] प्रज्ञानं साधकस्य हृदयमध्य उपलभ्यत एतदेव[8] शिवरुद्रादिसंज्ञितं तज्जगत्कारणं ब्रह्म यत् 'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत्' इत्यात्मशब्देन निर्दिष्टम् । अयमर्थः–सोऽयं देवदत्त इत्यत्र परस्परविरुद्धतदेतद्देशकालसंबन्धवैशिष्ट्यं परित्यज्याविरुद्धस्य देवदत्तस्वरूपमात्रस्य यथैक्यप्रतिपत्तिस्तथैवात्र प्रत्यक्स्वप्रकाशसाक्षिचिद्वाचिना प्रज्ञानशब्देन जगत्कारणपरशिववाचिना ब्रह्मशब्देन च सामानाधिकरण्यान्यथानुपपत्त्या संसारसाक्षित्वजगत्कर्तृत्वादिविरुद्धधर्मवैशिष्ट्यत्यागेनोभयत्रानुगतं यच्चिदेकरसं प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिविशेषं प्रत्यग्ब्रह्मणोः पारमार्थिकं स्वरूपं तस्यैक्यं प्रतिपाद्यतेऽज्ञानपरिकल्पितभेदभ्रमनिरासायेति ॥ २८ ॥

जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, घोड़े, गायें, हाथी आदि सभी मरणधर्मा, स्थावर, जंगम तथा अन्य जो कुछ भी है वह सब यह प्रज्ञानघनरूप कल्याणरूप शंभु ही है ॥ २५–२७ ॥ यह परमेश्वरस्वरूपभूत प्रज्ञा ही सब वस्तुओं का आश्रय (अधिष्ठान) है । शिव, रुद्र आदि नामों वाला वह जगज्जन्मादि का कारण ब्रह्म ही वह प्रज्ञान है जो सब वस्तुओं के प्रकाशक रूप से सबके हृदय में साक्षी हुआ उपस्थित है ॥ २८ ॥ यों समझने से ही मरणधर्मा अमर हो सकता है । कर्म, पुत्र या अन्य किसी उपाय

---

१. अन्यदित्यभावोगृह्यते । भावानां भूतभुवनादिना ग्रहणात् । २. ङ. °न्यच्छब्दे° । ३. ङ. °रूपत्वान° । ४. ङ. °नल° । ५. घ. °तितत्प्रतिज्ञानार्थ° । ६. घ. तथाऽऽधे° । ७. ङ. °नं ज्ञानसा° । ८. केचित्तु भाष्ययोजनायां प्रज्ञानं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्येन प्रत्यगात्मनो निर्विशेषत्वादिकमेवोच्यते न तु प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यमिति व्याचक्षते । तत्रापि प्रतीचो निर्विशेषत्वं ब्रह्माभेद एव समाप्यत इत्यर्थतो न विशेषः । महावाक्यतया चेदं प्रसिद्धमिति भाष्यार्थोऽपि तदानुकूल्येन बोध्य इति दिक् ।

एवंरूपपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत् । न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित् ॥ २९ ॥

ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माऽऽप्नोत्येव मानवः । अत्र नास्त्येव संदेहस्त्रिर्वः शपथयाम्यहम् ॥ ३० ॥

तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम् । संसारके गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञिते ।

निहितं ब्रह्म यो वेद परमव्योमसंज्ञिते ॥ ३१ ॥

श्रुतौ 'स एतेन प्रज्ञानात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्य' इत्यादिना ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानस्य यदमृतत्वसाधनत्वं प्रतिपादितं तत्संगृह्य ब्रूते-**एवंरूपे**ति । वस्तुतः परशिवस्वरूपस्य प्रत्यगात्मनः संसारित्वस्य स्वस्वरूपयाथात्म्यापरिज्ञानमूलत्वादज्ञानस्य ज्ञानैकनिवर्त्यत्वाज्ज्ञानमेव ब्रह्मात्मैक्यलक्षणाया मुक्तेः साधनं न कर्मादिकम् । तस्याज्ञानकार्यत्वादविरुद्धत्वेन तन्निवर्तकत्वाभावात् । अत एव श्रुतिः कर्मादेरमृतत्वावाप्तिसाधनत्वं निषेधति-'न कर्मणा न प्रजया धनेन' इति ॥ २९ ॥

ब्रह्मवेदनमात्रेणेति । मात्रग्रहणेन ज्ञानकर्मसमुच्चयस्यामृतत्वसाधनत्वनिरासः । प्रत्यगात्मनो ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानमात्रेणैवाविद्यानिवृत्तौ निरतिशयानन्दरूपतया युगपत्सर्वकामनास्पदं ब्रह्मरूपं प्राप्नोत्येव । एतेन 'सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्' इति श्रुतेरर्थो वर्णितो भवति । अन्यत्राप्याम्नातम्-'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति च । ऐतरेयकश्रुतिव्याख्यानं समाप्तम् ॥ ३० ॥

अथ तैत्तिरीयव्याख्यानम्

एवमैतरेयोपनिषदर्थपर्यालोचनया कर्मादिनैरपेक्ष्येण ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कारस्य परमुक्तिसाधनत्वं प्रतिपाद्य तैत्तिरीयोपनिषदर्थपर्यालोचनयाऽपि तथात्वं प्रतिपादयितुं तदर्थं संगृह्य वक्तुमारभते-**तद्विद्याविषयमि**त्यादिना । तैत्तिरीयके हि-'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति ब्रह्मप्रतिपिपादयिषया कृत्स्नोपनिषदर्थसूचनात्सूत्रभूतेनानेन वाक्येनाज्ञानतत्कार्योपाधिसंबन्धवशाज्जीवतामापन्नस्य साधनचतुष्टयसंपन्नस्य मुमुक्षोः प्रत्यक्चैतन्यस्य ब्रह्मवेदनमात्रेणाविद्यानिवृत्तिद्वारा निरतिशयानन्दाद्वितीयब्रह्मत्वावाप्ति[1]स्तज्जिज्ञासाजननार्थं सूत्रिता[2] सूत्रितोऽर्थः संग्रहविस्तराभ्यां व्याख्यातः । तत्र श्रोतॄणां सुखावबोधाय संग्रहव्याख्यानमृगुदाहरणेन प्रदर्शितम् । सा चैवमाम्नाता-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति । तत्र जिज्ञासूनां देवानां पुनर्जिज्ञासाजनने प्रयोजनाभावात्तज्जनकं सूत्रभूतं वाक्यमुक्त्वोक्तवक्ष्यमाणसंगत्यभिधानपुरःसरं तस्या ऋचोऽर्थं संगृह्णाति-**तदि**ति । सर्वसाक्षिभूतं यत्प्रज्ञानं तद् ब्रह्मेत्यमृतत्वसाधनभूतपरविद्याविषयतया यद् ब्रह्म निर्दिष्टं तद्ब्रह्म सत्यादिलक्षणम् । बृंहतिधात्वर्थस्यानुगमात् । तथाहि-बृह बृहि वृद्धाविति धातुर्वृद्धिमाचष्टे[3] । सा चात्र प्रतियोगिविशेषानुपादानान्निरतिशयैव विवक्षिता । सति च वस्त्वन्तरे तेन परिच्छेदाद्वृद्धेर्निरतिशयत्वं भज्येत तथा च वस्त्वन्तरकृतपरिच्छेदरहितमेव ब्रह्मशब्दवाच्यं भवितुमर्हति । द्वैतप्रपञ्चस्य तत्स्वरूपेऽध्यस्ततयैव प्रतीतेर्वस्तुतस्तत्स्वरूपानतिरिक्तत्वात् । तथाच वस्तुकृतपरिच्छेदनिराकरणेनैव देशकालकृतपरिच्छेदोऽपि निरस्तो वेदितव्यः । देशकालयोरपि परिकल्पितत्वेन वस्तुतस्तद्रूपानतिरेकात् । एवं द्वैतारोपस्याधिष्ठानत्वेन तद्बाधावधित्वेन च त्रिविधपरिच्छेदरहितं यदद्वितीयं तत्सत्यमेवैष्टव्यम् । इतरथा निरधिष्ठानभ्रमनिरवधिकबाधयोः प्रसङ्गात् । असतश्च सर्वप्रकारेणापि निरुपाख्यत्वेनाधिष्ठानावधित्वानुपपत्तेः । तच्च सत्यं सर्वदाऽप्रतिभातं चेन्नरविषाणसमं स्यात् । अतस्तत्प्रतिभातमेवेत्यर्थादापन्नम् । तथाच स्वप्रकाशमेव तत्परप्रकाश्यत्वे परेण वस्त्वन्तरेण परिच्छेदान्निरतिशयवृद्धिवाचकब्रह्मपदव्याकोपः स्यात् । एवं ब्रह्मपदेन निरतिशयवृद्धिप्रतिपादनद्वारा यदानन्त्यादिकं सूचितं तच्छ्रुतिर्विविच्याऽऽचष्टे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति । एवंरूपस्य च ब्रह्मणोऽनन्यशेषतया वेद्यत्वप्रतिपादनादानन्दरूपस्य-तथात्वानुपपत्तेर्निरतिशयसुखात्मकत्वमपि तस्य सिध्यति । अत एवाऽऽम्नायते-'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति च । तदिदमुक्तम्-**सत्यज्ञानसुखाद्वयमि**ति । नन्वेतद् ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं, सत्यादिशब्दाश्च सत्यत्वादिपरापरजातिप्रवृत्तिनिमित्तकाः कथं निर्भेदमेकरसमुक्तविधब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादयितुं शक्नुवन्ति ? नैष दोषः । सच्चिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि परिकल्पित-

से नहीं ॥ २९ ॥ ब्रह्म ज्ञान से ही मानव ब्रह्म को पा जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ३० ॥

---

१. घ. °प्तितज्जि° । २. ङ. °त्रितोऽर्थः । ३. बृंहेर्नोऽच्चेति (४.१४७) औणादिकेन शब्दसिद्धिः । बृहि धातोर्मनिन्, इदितत्वान्नुम्, उक्तसूत्रेण तस्य अकारादेशः, ऋकारस्य यणादेश इति प्रक्रिया ।

सोऽश्नुते सकलान्कामानक्रमेण सुरर्षभाः । विदितब्रह्मरूपेण जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ ३२ ॥

लौकिकसत्यज्ञानादिषु सत्यत्वादिपरापरजातिप्रवृत्तिनिमित्तकैरपि सत्यादिशब्दैः सत्यज्ञानानन्दैकरसव्यक्तेर्लक्षयितुं शक्यत्वात् । अनन्तपदं त्वन्तवत्त्वव्यतिरेकावच्छिन्नतया तत्स्वरूपं लक्षयति । न चैकेनैव पदेन लक्ष्यस्वरूपस्य विज्ञातत्वात्पदान्तरवैयर्थ्यमिति मन्तव्यम् । अनृतजडदुःखान्तवत्त्वव्यावृत्तिपरत्वेन सप्रयोजनत्वात् । यथाऽऽहुर्वार्तिककाराः–'तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् । स्वार्थार्पणप्रणाड्या तु परिशिष्टो विशेषणम् ॥' एवं वेद्यस्वरूपं प्रतिपाद्य वेदनप्रकारमाह–**संसारक** इति । संसरत्यनेनेति संसारः । संसार एव संसारकम् अव्याकृतम् कारणभूतं, तस्मिन् कार्यभूताः सर्वे पदार्था भूतभविष्यद्वर्तमानलक्षणेषु त्रिष्वपि कालेष्वतीतानागतवर्तमाना[1]द्यभेदैर्निगुह्य वर्तनाद्गुह्यन्ते संव्रियन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या तदव्याकृतं श्रुतिगतगुहाशब्देन वाच्यम् । तदेव विचित्रदुर्घटकार्यकरणात्स्वप्रकाशनिष्प्रपञ्चब्रह्मस्वरूपज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च **मायाज्ञानादि**संज्ञं भवति । आदिशब्देनाविद्या जडशक्तिरित्यादीनामपि संग्रहः । एतदेवाव्याकृतं **परमव्योमसंज्ञितम्** । 'एतस्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च यो वै स वहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः' इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्ध्याऽव्याकृतस्य व्योमशब्दाभिधेयत्वात् । वाह्याकाशापेक्षया परमत्वं च वेदितव्यम् । एवं च 'गुहायां परमे व्योमन्नि'ति श्रुतिगते समानाधिकरणे सप्तम्यन्तपदे । यथाऽऽहुर्भाष्यकाराः–'गुहायां परमे व्योमन्निति सामानाधिकरण्यादव्याकृताकाशमेव गुहा । तत्रापि निगूढाः सर्वपदार्थास्त्रिषु कालेषु कारणत्वादि'ति । तथाच कार्यकारणात्मना देहेन्द्रियादिरूपेण च परिणते पञ्चकोशात्मके तस्मिन्नव्याकृते **निहितं** स्थितमित्यर्थो भवति । उपलब्ध्यभिप्रायमेतत् । सर्वान्तरस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणो विशिष्टदेशसंबन्धानुपपत्तेः । एवमन्नमयप्राणमयादिवक्ष्यमाणपञ्चकोशरूपेणावस्थिते सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकेऽव्याकृतेऽन्त**र्निहित**मुपलभ्यमानं सत्यज्ञानानन्दैकरसमद्वितीयं **ब्रह्म यः प्रत्यगात्मस्वरूपत्वेन** वेदान्तश्रवणमननादिसाधनजनितया तादृग्ब्रह्माकारमनोवृत्त्या साक्षात्करोति स इत्युपरिष्टात्संबन्धः ॥ ३१ ॥

एवंभूतस्य ब्रह्मवेदनस्य फलमाह–**सोऽश्नुत** इति । काम्यन्त इति कामाः सुखोपभोगाः । स वेदिता सर्वा**न्कामानक्रमेण** युगपदेकक्षणोपारूढानश्**नुते** प्राप्नोति । केन रूपेणेति चेद् ? उच्यते–विदितब्रह्मरूपेण स्वात्मतया साक्षात्कृतेन निरावरणतया सर्वदा सर्वत्र सवितृप्रकाशवत्सर्ववस्त्ववभासकेन स्वयंप्रकाशमानेन चिद्रूपेण ब्रह्मणा रूपेण । ब्रह्मविदेवंभूतसर्वज्ञब्रह्मात्मकः संस्तत्त्वज्ञानेन भेदभ्रमहेतोरविद्यायाः समूलमुन्मूलितत्वात्स्वात्मनो निरतिशयानन्दाविर्भावेन तल्लेशभूतान्सर्वान्सुखविशेषानपि स्वरूपप्रकाशेन धर्मादिनिरपेक्षेण युगपद् व्याप्नोतीत्यर्थः । **अक्रमेणे**ति वदता श्रुतिगतसहशब्दस्य न साहित्यमर्थोऽपि तु यौगपद्यमेवेत्यभिप्रायो वर्णितो भवति । तथा **विदितब्रह्मरूपेणे**ति वदता 'ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुतिगततृतीयाऽपि पुत्रेण सहाऽऽगत इतिवन्न सहयोगलक्षणाऽपि तु श्वेतच्छत्रेण राजानमद्राक्षीदित्यादिवदित्थंभावे तृतीया व्याख्याता भवति । अत एव 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्यादिश्रुतिभिरात्मनः पारमार्थिकैकत्वप्रतिपादनान्नानाविधशरीरेषु तन्नानात्वप्रतीतेश्च घटाकाशो मठाकाश[2] इतिवदौपाधिकभेदकल्पनयाऽप्युपपत्तेः 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिश्रुत्यैकस्यैव स्रष्टुरात्मनो जीवभावेन नाना[3]विधदेहप्रवेशनाच्च न वास्तवो जीवपरयोर्भेदो [4]विद्यते । अतोऽत्र भेदोपजीविनी सहयोगलक्षणा तृतीया न युक्तेत्यभिप्रेत्य भाष्यकारैरप्येवं व्याख्यातम् । तथाऽऽहुः–'किमस्मदादिवत्पुत्रस्वर्गादीन्पर्यायेण ? नेत्याह– सह युगपदेकक्षणोपारूढानि'ति । 'तेन सर्वज्ञरूपेण ब्रह्मणाऽश्नुत' इति च । **जीवन्मुक्त** इति । उक्तब्रह्मात्मवित्प्रारब्धकर्मशेषेण प्राणेन्द्रियदेहादिकं धारयन्प्राकृतजनवदवस्थितोऽपि मुक्त एव, न पुनस्तस्य [5]वन्धाशङ्केत्यर्थः ॥ ३२ ॥

(अब अध्यायशेषसे तैत्तिरीयोपनिषत् का विचार प्रस्तुत करते हुए ब्रह्मा जी कहते हैं–) सबका साक्षिरूप जो प्रज्ञान है वही ब्रह्म है एवं उस विद्या का विषय है जो अमरता का उपाय बतायी गयी है । उस ब्रह्म का स्वरूप सत्य, ज्ञान, सुख तथा अद्वितीय है । गुहा, माया, अज्ञान आदि शब्द जिस अव्यक्त रूप संसार को कहते हैं वही परमव्योम भी कहा जाता है । उस परमव्योम में ब्रह्म स्थित है–वहीं उपलब्ध होता है । उसे जो जानता है उसकी सव कामनायें इकट्ठे ही पूरी हो जाती हैं और जाने गये ब्रह्मरूप से स्थित हुआ वह जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ३१–३२ ॥ (अव्यक्त संसार ही व्यक्त हो पाँच कोशों के रूप

---

१. घ. झ. °नाध्यभे° । २. झ. °शव° । ३. झ. °नादे° । ४. घ. युज्यते । ५. घ. वन्धश° ।

प्रत्यगज्ञानविज्ञानमायाशक्तेस्तु साक्षिणम् । एकं ब्रह्म च संपश्यन्साक्षाद् ब्रह्मविदुत्तमः ॥ ३३ ॥
ब्रह्मरूपात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात् । अपञ्चीकृत आकाशः संभूतो रज्जुसर्पवत् ॥ ३४ ॥

एवमृगक्षरानुसारेण तदर्थं प्रतिपाद्य फलितमर्थमाह—**प्रत्यगिति** । प्रत्यगात्मनो ब्रह्म[1]रूपत्वाच्छादकमज्ञानं **प्रत्यगज्ञानं**, विविधं ज्ञायतेऽनेनेति **विज्ञानम**न्तःकरणं, तदुभयरूपेणावस्थिता सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका[2] मायाशक्तिः कारणशरीरमित्याख्यायते । तस्याः **साक्षित्वेन** पञ्चकोशान्तर्वर्तमानो यश्चिन्मात्रस्वरूप आत्मा, यच्च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसं ब्रह्म, **तदुभयमेकं संपश्यन्नु**क्तरीत्या संशयविपर्यासविरहेण सम्यक्साक्षात्कुर्वन् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिश्रुत्युक्तब्रह्मविद्भव-तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

श्रुतौ सूत्रितस्यार्थस्य संग्रहव्याख्यानानन्तरं संभवच्छङ्कानिरासाय विस्तरव्याख्यानमपि कृतम् 'तस्माद्वै' इत्यादिना 'इत्युपनिषत्' इत्यन्तेन । तदितः परं संगृह्य प्रतिपाद्यते । तत्र तावत् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति यदानन्त्यं प्रतिज्ञातं तन्नोपपद्यते, वियदादिभूतभौतिकप्रपञ्चलक्षणस्य परिच्छेदकवस्त्वन्तरस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्य तदुपपादयितु[3] तत्सकाशात्सृष्टिमाह—**ब्रह्मरूपे**त्यादिना । एवं ह्याम्नायते—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी' इति । अस्याः श्रुतेरर्थं प्रतिपादयति—**ब्रह्मे**ति । तस्माच्छब्देन श्रुतौ 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'ति व्यवहितसूत्रवाक्यनिर्दिष्टं ब्रह्म परामृश्यते । एतस्मादित्येतच्छब्देन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति संनिहितमन्त्रवाक्यनिर्दिष्टम् । असङ्गोदासीनस्य परमार्थतो निरवद्यस्य स्रष्टृत्वासंभव इत्यभिप्रेत्य तत्संभावनायाऽऽह—**शक्तिमिश्रितादि**ति । प्राणिकर्मपरिपाकवशेन सिसृक्षितकार्यप्रपञ्चोन्मुखात्तत्स्वरूप-परिकल्पितत्वेन तदाश्रिता मायाशक्तिस्तन्मिश्रितात्तदुपाधिकादित्यर्थः । एवं मायाशक्तिवलाद् ब्रह्मरूपादात्मनः सकाशादपञ्चीकृतः[4] सूक्ष्मशब्दगुणोऽवकाशात्मक आकाशः संभूतः समुत्पन्नः । पञ्चीकरणेन हि भूतानि स्थूली भवन्ति । तथात्वं चाग्रे छान्दोग्योपनिषद-र्थकथनप्रस्तावे प्रतिपादयिष्यते । निमित्तकारणवाचिशब्दादपि पञ्चमी भवति, हेतौ विधानात् । तथोपादानकारणवाचिशब्दादपि 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इति स्मरणात् । एवं चात्र तस्मादिति पञ्चमी तदुभयरूपा तन्त्रेणोपात्ता द्रष्टव्या । ब्रह्मैव हि कार्यस्य जगतो निमित्तमुपादानं च । 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति कामयितृत्वेन स्वस्यैव बहुभावेन चाभिन्ननिमित्तोपादानस्याग्रे प्रतिपादित-त्वात् । बादरायणोऽपि ब्रह्मण उभयरूपत्वं सूत्रयामास—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इति । ये त्वस्पर्शद्रव्यत्वादात्मवदाकाशस्य नित्यत्वं मन्यमानाः संभूत इत्यभिव्यक्तिपरतयोक्तमर्थमन्यथयन्ति ते बादरायणेनैव 'न वियदश्रुतेः' इत्यधिकरणे निराकृताः । ननु वियदादिकार्यप्रपञ्चेनैव वस्तुना ब्रह्मणः परिच्छेदः स्यात् । तथा ब्रह्मोपादानं सत्क्षीरदधिन्यायेन जगदाकारेण परिणमतेऽथवा मृद्घटन्यायेन जगदारभत इत्यनयोरन्यतरदङ्गीकर्तव्यम् । तथाच ब्रह्मणोऽनित्यत्वादिप्रसक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—**रज्जुसर्पव**दिति । न खल्वत्राऽऽरम्भवादः परिणामवादो वा विवक्षितो येनैवं प्रसज्येत । अपि तु विवर्तवाद एव विवक्षितः । यथा रज्जुः स्वयमवि-कृतैव सती मायया सर्पाकारेण विवर्तते । एवं ब्रह्मापि निर्विकारमेव सत्स्वमायाशक्तिविलासेन वियदादिजगदाकारेण विवर्तते ।

में हमारे संमुख उपस्थित है । उसी में साक्षी उपलब्ध है । हम कोशों से एकमेक कर ही उसे समझते हैं । विवेक कर उसे उनसे पृथक् तथा परिपूर्ण ब्रह्म समझना उसे सही जानना है जो मोक्षहेतु है ।) प्रत्यगात्मसम्बद्ध अज्ञान, अंतःकरण और इन दोनों रूपों से स्थित मायाशक्ति—इन तीनों का साक्षी तथा सत्यादिरूप ब्रह्म एक ही है ऐसा साक्षात्कार होने से व्यक्ति उत्तम ब्रह्मवेत्ता हो जाता है ॥ ३३ ॥ मायाशक्ति वाले इस ब्रह्मरूप आत्मा से ही अपंचीकृत आकाश उसी तरह उत्पन्न हुआ है जैसे सही तरह न जानी गयी रस्सी से साँप उत्पन्न हो जाता है । (रस्सी ही साँप बन जाती है—यही कहा जा सकता है । और तो वहाँ कुछ है नहीं जो साँप बने । इसी तरह शिव ही आकाशादि बन जाते हैं । एवं च आकाशादि शिव से अतिरिक्त कुछ नहीं । फलतः शिव का अद्वितीयत्व—आनन्त्य—अक्षुण्ण है । प्रश्न हो सकता है कि प्रायः कहा जाता है कि रज्जु नहीं उससे

---

१. घ. °ह्मस्वरूपाच्छा° । २. झ. °का या श° । ३. ब्रह्मोपादानकतया ततोऽव्यतिरेकः सिद्ध्यतीत्याशयः । ४. शक्तिमद्ब्रह्मैवोपादानमिति निरधार्यद्वैतरत्नरक्षणे (पृ. ४३ बंबई.) सरस्वतीस्वामिना । 'शुद्धचिद्, अविद्याबिम्बत्वोपहिता चिद्वा जगदु-पादानमिति विवरण उक्तम् । अविद्यागताभासाविविक्तचिद्रूपईशस्तथा इति वार्तिक उक्तम्' इति न्यायरत्नावल्याम् (पृ. २७५ प्र. द्वा.) ।

आकाशाद्वायुसंज्ञस्तु स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः । वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भ्यो वसुंधरा ॥ ३५ ॥

तानि भूतानि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्य शिवाज्ञया । तेभ्य एव सुराः सृष्टं ब्रह्माण्डाख्यमिदं मया ॥ ३६ ॥

भुवनानि विशिष्टानि निर्मितानि शिवाज्ञया । ब्रह्माण्डस्योदरे देवा देवाश्च विविधा अमी ॥ ३७ ॥

देवादयो मनुष्याश्च तथा पश्वादयो जनाः । तत्तत्कर्मानुरूपेण मया सृष्टाः शिवाज्ञया ॥ ३८ ॥

कारणस्वरूपाविरोधेन कार्यप्रतिभासो[1] विवर्तः । अतो ब्रह्मणो निर्विकारत्वाविघातान्नानित्यत्वप्रसक्तिरित्यर्थः । अयमेवार्थो बादरायणेनापि 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वे'त्यत्र निर्णीतः । एवं ब्रह्माकारस्य वियदादिभूतभौतिकप्रपञ्चस्याधिष्ठाने ब्रह्मणि कारणे मायापरिकल्पितत्वेन रज्जुसर्पवदेवाधिष्ठानादव्यतिरिक्तत्वात् (त्वम्) । यथाच मृत्कार्यं घटशरावोदञ्चनादिकं कारणभूतमृद्व्यतिरेकेणा[2]लब्धसत्ताकत्वात्पृथुबुध्नोदराकारादिरूपविशेषस्य तद्वाचकघटादिशब्दस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात्कारण-मृन्मात्रमेव न तु ततोऽन्यत्, एवं ब्रह्मकार्यस्यापि कारणानन्यत्वाद् ब्रह्मणस्तत्कृतपरिच्छेदो न शङ्कनीय इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

आकाशादिति । आरोपितस्याऽऽकाशादेरनिर्वाच्यत्वेन कार्यान्तराधिष्ठानत्वायोगात् 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' इति विशेषेण सर्वस्यापि द्वैतप्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यत्वश्रवणाच्चाऽऽकाशादितत्कार्यविशेषारोपाधिष्ठानभूतं तदुपाधिकं ब्रह्मैवोपादानत्वेनाऽऽकाशादिभिः पञ्चम्यन्तैर्निर्दिश्यते। तस्मादात्मन आकाशरूपापन्नाद् ब्रह्मणः सकाशात्स्पर्शतन्मात्रापरपर्यायः सूक्ष्मो वायुः स्वकारणगुणेन शब्देन स्वगुणेन स्पर्शेन च गुणद्वयवान्समुत्पन्नः । **वायोरग्निरिति** । एवं वायुरूपापन्नाद् ब्रह्मणः स्वस्वकारणगुणाभ्यां शब्दस्पर्शाभ्यां स्वगुणेन रूपेण च गुणत्रयवान्सूक्ष्मोऽग्निः समुत्पन्नः । तथाच 'वायोरग्निः' इति तैत्तिरीयके तेजसो वायूपादानत्वश्रवणात्, छान्दोग्ये च 'तत्तेजोऽसृजत' इति सद्रूपब्रह्मोपादानश्रवणाच्च श्रुत्योर्मिथो विरोधादप्रामाण्यमितिशङ्का निरवकाशा, तैत्तिरीयकेऽप्युक्तरीत्या ब्रह्मोपादानत्वस्याविघातात् । अत एव भगवान्व्यासोऽप्यमुमर्थमसूत्रयत् 'तेजोऽतस्तथा ह्याह' इति । **अग्नेराप** इति । तस्माच्चाग्निरूपापन्नाद् ब्रह्मणः सकाशात्कारणगतैः शब्दाद्यैस्त्रिभिर्गुणैः स्वगुणेन रसेन च गुणचतुष्टयवत्य आपो जाताः । **अद्भ्यो वसुंधरेति** । अब्रूपापन्नात्तस्मादेव ब्रह्मणः कारणगतगुणचतुष्टयेन स्वगुणेन च गन्धेन पञ्चगुणा पृथिवी समुत्पन्ना ॥ ३५ ॥

श्रुतौ 'पृथिव्या ओषधय ओषधीभ्योऽन्नमन्नात्पुरुषः' इति भौतिकभोक्तृप्रपञ्चसृष्टिराम्नाता तां संगृह्णाति—**तानीति** । परमेश्वरसृष्टानि वियदादिसूक्ष्मभूतानि तानि तदाज्ञयैव पञ्चीकरणेन स्थूलीकृत्य तत्कार्यभूतं ब्रह्माण्डादिकं मया निर्मितमिति ब्रह्मण उक्तिः । परशिवो हि स्वसृष्टवियदादिसूक्ष्मभूतोपाधिकः सन्हिरण्यगर्भो यः प्रथमः शरीरी प्रजापतिर्ब्रह्मेति च शब्दैर्व्यपदिश्यते तत्कर्तृक एव हि सर्वो भौतिकः सर्गः । ब्रह्माण्डसर्गस्य मध्ये पृथिव्यादिलोकास्तेषु चौषधिवनस्पत्यादिकं सर्वं भोग्यजातं देवासुरमनुष्यादिभोक्तॄंश्चाहं सृष्टवानस्मीत्यर्थः । **देवा** इत्येकं संबोधनम् । **देवादय** इति । अत्र देवशब्दः कर्मदेवाभिप्रायः । अन्येषां

अवच्छिन्न आत्मा में स्थित अविद्या साँप बनती है, इसी तरह शिव नहीं उनमें स्थित माया आकाश बने यह उचित है । फलतः सद्वितीयता होनी चाहिये । इसका उत्तर है कि विशेषतः अज्ञात रज्जु से अतिरिक्त अज्ञान कुछ नहीं है । ऐसे ही अज्ञात शिव से अतिरिक्त शिव का अज्ञान, माया आदि नहीं है । श्री सुरेश्वराचार्य का कथन है 'अज्ञानं च तदुत्थं च ह्यात्मैवाज्ञाततत्त्वकः' (बृ. वा. २.१.१७४) । अज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है । अभिन्न भी चाहे न हो, भिन्न नहीं है । अतः अद्वितीयता में कोई क्षति नहीं) ॥ ३४ ॥ यों आकाश बने ब्रह्म से वायु बनी । उसमें अपना गुण स्पर्श और कारण आकाश का गुण शब्द भी था । वायु बना ब्रह्म अग्नि बना । इसमें रूप गुण अधिक हो गया । अग्नि बना ब्रह्म ही जल और जल बना ब्रह्म ही पृथ्वी बना । जल और पृथ्वी में क्रमशः रस और गंध गुण विशेष आते चले गये, कारण-गुण तो आये ही ॥ ३५ ॥ ये महाभूत सूक्ष्म थे । (इंद्रियों का विषय न हो पाना सूक्ष्मता है । जिस अवस्था के वायु और आकाश के गुण इंद्रिय के विषय न बन पायें उस अवस्था के वे भूत सूक्ष्म हैं ।) शिवाज्ञा से मैंने—(ब्रह्मा ने) उनका पंचीकरण किया—स्थूल बनाया, और स्थूल भूतों से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण किया ॥ ३६ ॥ महादेव के निर्देशानुसार ही विशिष्ट भुवन बनाये व उनमें आजानदेव, कर्म देव

१. विवर्तवादोऽजातवाद एव, शब्दे विशेषः । कार्यमनुत्पन्नमेव प्रतीतिमात्रशरीरमिति विवर्तवाद इति वक्तुं प्रतिभासशब्दः ।

२. घ. °णाशब्दस° ।

अस्थिस्नाय्वादिरूपं यच्छरीरं भाति देहिनाम् । तस्मात्प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चाऽऽन्तरो यतः ॥ ३९ ॥

देवानां देवा इति पदेन पृथक्प्रतिपादितत्वात् । **तत्तत्कर्मानुरूपेणेति** । तत्तत्प्राणिकृतपरिपक्वपुण्यपापनिवहस्य वैचित्र्येण तत्फलभूतविचित्रसुखदुःखोपभोगाय देवमनुष्यादिभेदेन नानाविधभोगायतनानि निर्मितानीत्यर्थः । सत्स्वपि सर्वेषु प्राणिषु पुरुषस्यैव विद्याधिकार इति तस्यैव सृष्टिः श्रुत्या प्रतिपादिता । अत एव तैत्तिरीयके पुरुषाकारपरिणतदेहमध्येऽवस्थितस्यैवाऽऽत्मनो ज्ञानविशेषाविर्भावेन विद्याधिकारः श्रूयते । 'पुरुषत्वे[1] वाऽऽविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं[2] वदति विज्ञातं[3] पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सति' इति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

अन्नपरिणामरूपपुरुषशरीरतादात्म्यापन्नस्याऽऽत्मनः सर्वान्तरब्रह्मरूपत्वं प्रतिपादयितुं बाह्याभ्यन्तरभावेनान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाख्याः पञ्च कोशाः प्रतिपत्तिसौकर्याय 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादिना श्रुतौ प्रतिपादिताः तान्संगृह्णाति–**अस्थी**त्यादिना । तत्र तावज्जीवभावेनावस्थितस्य त्रीणि शरीराणि भवन्ति स्थूलसूक्ष्मकारणात्मना । तत्रान्नरसपरिणामरूपं षाट्कौशिकस्थूलशरीरं तत्तादात्म्यापन्नोऽन्नमय आत्मा भवति । 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इति श्रुतौ तच्छब्देन प्रकृतमात्मानं परामृश्य तस्यान्नमयत्वप्रतिपादनात् । एवं प्राणादिवक्ष्यमाणकोशतादात्म्येन प्राणमयादित्वमपि तस्याऽऽत्मनोऽधिगन्तव्यम् । तस्य चान्नपरिणामरूपस्य स्थूलशरीरस्याऽऽत्मत्वोपदेशेन स्वशरीरादन्यस्य पुत्रमित्रकलत्रादेरात्मत्वभ्रमो निवर्तितः । तस्य मध्येऽपि सूक्ष्मभूतारब्धं [4]यत्सप्तदशकं लिङ्गं तदात्मनः सूक्ष्मशरीरं, तदुभयस्य हेतुभूता या मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्या सुषुप्ताववभासते सा तस्याऽऽत्मनः कारणशरीरम् । तत्र सूक्ष्मशरीरे प्राणमयमनोमयविज्ञानमयाख्यकोशत्रयान्तर्भावः । आनन्दमयस्तु कारणशरीरमिति विवेकः । सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकमायाकार्यत्वाद्भूतान्यपि गुणत्रयात्मकानि । तत्र वियदादिसूक्ष्मभूतानां ये पञ्च रजोंशास्तैरारब्धानि वाक्पाणिपादादीनि[5] पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । तद्रजोंशसमुदायारब्धः प्राणनादिक्रियाहेतुः क्रियाशक्त्यात्मकः प्राणस्तस्य प्राणापानाद्याः पञ्च वृत्तयः । एवं पञ्चप्राणकर्मेन्द्रियरूपप्राणमयकोशविशिष्टस्याऽऽत्मन उपदेशेन बाह्यस्यानात्मत्वं प्रतिपादयति श्रुतिः 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इति । [6]तदेवाऽऽह–**अस्थी**ति । अन्नमयस्याऽऽत्मन उपाधिभूतं यदस्थिस्नाय्वादिरूपमन्नकार्यं षाट्कौशिकं शरीरं **तस्मा**त्सकाशादुदीरितप्राणमयकोशविशिष्ट आत्मा विभिन्न एव ज्ञातव्यः । **यतः** कारणादयम**न्तरो**ऽन्तरे देहमध्ये वर्तमानोऽनुभूयते, अतो बाह्याद्देहात्प्राणमय आत्मा विवेकेन प्रत्येतव्य इत्यर्थः । अत एवासिकोशवद्बहिराच्छादकत्वसामान्यादन्नविकारस्य देहस्य कोशत्वम् । एवमुत्तरत्रापि मनोमयाद्यात्मोपदेशेन पूर्वस्य पूर्वस्य बाह्यतया विविक्तत्वेनाऽऽत्मत्वभ्रमनिरासात्कोशरूपत्वमवगन्तव्यम् ॥ ३९ ॥

आदि विविध देव, मनुष्य व पशु आदि जीवशरीर जीवों के कर्मों के अनुरूप निर्मित किये ॥ ३७–३८ ॥ अस्थि, स्नायु आदि रूप जो शरीर देहधारी का प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है उससे भिन्न प्राणमय शरीर है क्योंकि वह अन्नमय के भीतर है। (यद्यपि सारा संसार उपाधि है तथापि उपस्थित उपाधि जिसमें हम अहंधी किये हुए हैं वह हमारा शरीरसंघात ही है । अतः उसीसे विवेक करना आवश्यक है । शरीर को पाँच हिस्सों में बाँटकर तैत्तिरीय में समझाया है । जैसे तलवार को म्यान ढाँकती है ऐसे आत्मा को ये पाँचों हिस्से ढाँकते हैं अतः इन्हें कोश–म्यान–कहा है । प्रत्यक्षविषयभूत मांसादिमय हिस्सा अन्नमयकोश कहा गया है । कर्मेन्द्रियाँ और प्राण–ये प्राणमय कोश हैं । इनकी स्थिति शरीर के भीतर है ही । अतः यह कोश अन्नमय से पृथक् है । पार्थक्य में ही भीतर-बाहर का भेद हो सकता है । किंच प्राणमय अन्नमय को छोड़ भी जाता है । इससे भी भेद सिद्ध है । जो कोश जितना भीतरी है उतना वह आत्मा को नज़दीक से छिपाता है और इसीलिये उतना ही उसका आत्मा से विवेक कठिन हो जाता है । पाँचों कोश आत्मा नहीं है–समझना यह है । एक को छोड़ दूसरे कोश को आत्मा नहीं समझना है । अतः कोशों का भेद दिखाने का प्रयोजन यह व्यक्त करना है कि इन विभिन्न वस्तुओं में हम आत्माधी कर रहे हैं जिससे यह अर्थसिद्ध है कि इनमें से कोई भी आत्मा नहीं । यों त्वम्पदार्थशोधन में तात्पर्य है ।) ॥ ३९ ॥ जो यह प्राणमय कोश

---

१. ग. ङ. °रुषे त्वेवा° । २. घ. विज्ञातं । ३. ग. विज्ञातं । ४. घ. ङ. झ. यद्यत्स° । ५. झ. °पादपायूपस्थानि । ६. घ. तदेतदाह । क्वचिन्मूले अस्थीत्यादेः पूर्वं 'ततश्चान्नमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरे स्वतः' इति श्लोकार्धोऽधिकः ।

योऽयं प्राणमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणाम् । ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चाऽऽन्तरत्वतः[1] ॥ ४० ॥
योऽयं मनोमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणाम् । विज्ञानमय आत्मा च ततोऽन्यश्चाऽऽन्तरो यतः ॥ ४१ ॥
विज्ञानमय आत्मा यो विभाति सकलात्मनाम् । आनन्दमय आत्मा च ततोऽन्यश्चाऽऽन्तरो यतः ॥ ४२ ॥

एवं प्राणमयोपदेशेन बाह्यस्यान्नमयस्यानात्मत्वं प्रतिपाद्य प्राणमयस्यापि कोशरूपत्वेनानात्मत्वं प्रतिपादयितुं तस्मादप्यान्तरं मनोमयमात्मानमुपदिशति श्रुतिः–'तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इति, तत्संगृह्णाति–**योऽयमिति** । वियदादिपञ्चसूक्ष्मभूतसत्त्वांशैरारब्धानि श्रोत्रादीनि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि तत्सत्त्वांशसमुदायपरिणामरूपमन्तःकरणं तदुपादानभूतस्य सत्त्वस्याऽऽत्मस्वरूपभूतसुखप्रकाशाभिव्यञ्जकसामर्थ्यसद्भावात्तत्कार्यमन्तःकरणमपि स्वरूपसुखाभिव्यञ्जकवृत्त्यात्मना स्वरूपप्रकाशाभिव्यञ्जकवृत्त्यात्मना च द्विधा परिणमते । तत्र प्रकाशाभिव्यञ्जिका वृत्तिरपीषद्रजोनुवेधात्संकल्पविकल्पात्मिका मनःसंज्ञां लभते । रजःसंस्पर्शविरहाच्च नैर्मल्ये सति निश्चयरूपा सती बुद्ध्याख्यां लभते । एवं मनोबुद्धिभेदभिन्नवृत्तिमदन्तःकरणसहकृतानि चक्षुरादीन्द्रियाण्यपि द्विमर्शनिश्चयरुपद्विविधज्ञानजनकत्वेन द्विविधानि भवन्ति । तत्र विमर्शज्ञानजनकपञ्चज्ञानेन्द्रियसहितमनःसंज्ञकवृत्तिमदन्तःकरणोपाधिविशिष्ट आत्मा मनोमयः । स च प्रागुक्तात्प्राणापानादिसंघात्प्राणमयादान्तरत्वेन विभिन्नः । तत्र हेतुमाह–**आन्तरत्वत**[2] इति । अन्तरवस्थितात्मस्वरूपचैतन्याभिव्यञ्जकत्वलक्षणात्स्वभावभेदादान्तरत्वमित्यर्थः । प्राणमयस्तु रजःपरिणामरूपत्वान्नोदीरितं चित्प्रकाशमभिव्यनक्ति । अत एव सुषुप्तौ सत्यामपि प्राणवृत्तौ जाग्रद्वच्चैतन्यस्य विशेषाभिव्यक्तिर्न दृश्यते । उच्छ्वासनिःश्वासादिक्रियाप्रवर्तकः सन्नन्नमयदेहस्य धारणमेव केवलं करोति । तथाच प्राणवाक्यम् 'अहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति । एवमनयोर्विविक्तरूपत्वान्मनोमय आत्मा प्राणमयादान्तरो विविक्तश्च प्रत्येतव्य इति भावः ॥ ४० ॥

एवं प्राणमयस्य बाह्यत्वेन कोशरूपत्वादनात्मत्वं प्रसाध्य मनोमयस्यापि तथात्वं प्रतिपादयितुं तस्मादप्यान्तरं विज्ञानमयमात्मानमुपदिशति श्रुतिः–'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इति, तत्संगृह्णाति–**योऽयं मनोमय** इति । प्रागुदीरितरीत्या निश्चयज्ञानजनकचक्षुरादीन्द्रियसहितबुद्ध्याख्यवृत्तिमदन्तःकरणविशिष्ट आत्मा **विज्ञानमयः** । विज्ञायतेऽनेनेतिविज्ञानमुक्तविधमन्तःकरणं तन्मयस्तद्विकारः । स च विमर्शरूपान्मनोमयादान्तरत्वेन विभिन्नः । आन्तरत्वं च रजःसंस्पर्शविरहेणान्तरवस्थितात्मचैतन्यस्य निश्चयरूपेण विशेषतस्तत्राभिव्यक्तेः । अनुष्ठेयपदार्थविषयनिश्चयज्ञानवत एव विद्याकर्मणोरधिकार इत्यभिप्रेत्य विज्ञानमयात्मनो यज्ञादिक्रियाहेतुत्वमाम्नायते–'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इति ॥ ४१ ॥

मनोमयवद्विज्ञानमयस्यापि बाह्यत्वेनानात्मत्वं प्रतिपादयितुमस्मादप्यान्तरमानन्दमयमात्मानं श्रुतिरुपदिशति 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इति, तत्संगृह्णाति–**विज्ञानमय** इति । विद्याकर्मणोः फलभूतं सुखमानन्दस्तदभिव्यञ्जकोपाधिविशिष्ट[3] **आत्माऽऽनन्दमयः** । स च फलरूपत्वेनान्तरङ्गत्वादफलरूपाद्विज्ञानमयादान्तरो विविक्तश्च

सब देहधारियों को आत्मतया प्रतीत होता है उससे भिन्न मनोमय कोश है । क्योंकि अन्नमय व प्राणमय दोनों से भी भीतर है इसलिये मनोमय उन दोनों से पृथक् है । (अंतःकरण जब संकल्प-विकल्पात्मक कार्य करता है, निश्चय नहीं कर पाता, तब उसे मन कहते हैं । अनिश्चयजनक ज्ञानेन्द्रियों सहित मन मनोमयकोश है । भीतरी होने का मतलब है आत्मा के नज़दीक होना । आत्मा से नज़दीकी का भी मतलब है दृढतर तादात्म्यधी का विषय होने वाला । प्राणमय में आत्मा की क्रियाशक्ति ही प्रकट होती है । मनोमय में ज्ञानशक्ति भी प्रकट होती है । अतः आत्मसमानता अधिक है । अत एव मन आत्मा है यह निश्चय भी दृढतर है । हाथ न रहने पर 'मैं नहीं रहा' ऐसा नहीं लगता किन्तु मन अन्यत्र जाये तो लगता है 'मैं यहाँ नहीं था' । अतः उससे हमारा अधिक तादात्म्य होने से वह प्राणमय की अपेक्षा भी भीतरी है ।) ॥ ४० ॥ जो यह मनोमय कोश सबको प्रतीत होता है उससे भी भीतर अतः उससे भिन्न है विज्ञानमय कोश । (निश्चय करता हुआ अन्तःकरण बुद्धि है । अतः निश्चयजनक ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि विज्ञानमय कोश है । 'मैं मन से सोचता हूँ' यों निश्चय करती बुद्धि मैं से अभिन्न हीं लगती है अतः यह कोश और अंदर का है । यही कोश कर्तृत्त्व-प्रदायक है क्योंकि निश्चय वाला ही कर्ता हुआ करता है ।) ॥ ४१ ॥ जो यह विज्ञानमय कोश सबका अनुभवसिद्ध है उससे भीतर होने के कारण उससे भिन्न है आनंदमय-कोश । (आनन्द को अभिव्यक्त करने वाली उपाधि आनंदमयकोश है । यह भोक्तृत्वप्रदायक होने से सबसे भीतर है । भोक्तृत्व

---

१. घ. °न्तरः स्वतः । २. घ. °ङ. °न्तरः स्वतः । ३. आनन्दमयेपि विकारार्थो मयडिति द्वितीयवर्णके सिद्धान्तं ह्यतिष्ठिपदाचार्यः । अनुपदमेतत्स्पष्टीचिकीर्षति ।

स एवाऽऽत्मत्वेन वोद्धव्यः। विज्ञानमयस्तु तत्फलसाधनभूतविद्याकर्मनिष्पादकतया वहिरङ्गत्वाद्बाह्योऽनात्मा। एवं प्राणमयादिकोशत्रयस्य विवेकेनाऽऽत्मनः सूक्ष्मशरीरादपि विवेकः सिद्धो भवति। 'ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाण्यपि। वायवः पञ्च बुद्धिश्च मनः सप्तदशं विदुः' ॥ इति हि सूक्ष्मशरीरस्वरूपम्, एतस्यैव सप्तदशकस्य प्राणमयादिकोशत्रयरूपेणावस्थितस्य प्रतिपादितत्वात्। एवं स्थूलसूक्ष्मशरीराभ्यामात्मनः सिद्धेऽपि विवेके कारणशरीरादपि तस्य विवेकेन भवितव्यं तदर्थमिदं चिन्तनीयम्–किमानन्दमय एव सर्वान्तर आत्मोत ततोऽप्यान्तरमन्यद् ब्रह्मास्ति। तदेव सर्वान्तरमात्मत्वेनाभिमतम्, आनन्दमयस्त्वन्नमयादिवत्सोपाधिक एव इति। तत्रा'न्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय' इतिवदस्मादन्यस्याऽऽन्तरस्याऽऽत्मनोऽनुपदेशान्मयटो विकारप्रायपठितस्य तद्बाधेन प्राचुर्यार्थतयाऽप्युपपत्तेः प्रियशिरस्त्वादीनां चोपाधित्वेनाप्यस्मिन्संभवात् 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति' इत्याद्यानन्दशब्दाभ्यासस्य 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इति ज्योतिःशब्दस्य ज्योतिष्टोमप्रतिपादकत्ववदानन्दमयपरत्वेन योजयितुं शक्यत्वादभ्यस्यमानः स एव सर्वान्तर आत्मेति चेत्। मैवम्। 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यानन्दमयादिसर्वाधारस्य सर्वान्तरस्य ब्रह्मण उपदेशात्तत्खल्वत्र प्राधान्येन विवक्षितम्। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति फलवद् ब्रह्मात्मज्ञानं प्रक्रम्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'ब्रह्मणा विपश्चितेति' 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद' इत्येवमभ्यस्यमानत्वात्। अभ्यासो हि तात्पर्यलिङ्गम्। 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये' ॥ इत्युक्तत्वात्। ब्रह्मशब्दोऽप्यपरिच्छिन्ने निर्विकारे ब्रह्मणि मुख्यः। न तु सावयव आनन्दमये। न चैतस्य 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यानन्दमयावयवत्वश्रवणादप्राधान्यमिति मन्तव्यम्। 'ब्रह्म पुच्छमि'ति पदद्वयरूपाद्वाक्यात्प्रतीयमानस्यावयवत्वस्य ब्रह्मपदश्रुत्या वाधात्। श्रुतेर्हि वाक्याद्बलीयस्त्वात्[1]। आनन्दशब्दाभ्यासः, सोऽपि निरतिशयनिर्विकारसुखरूपे ब्रह्मणि मुख्यः। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः। यद्यत्राऽऽनन्दमय एव सर्वान्तर आत्मा स्यात् 'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' इति श्लोकोदाहरणमसंगतं स्यात्। तथा '[2]एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इत्यन्नमयादिवदुपसंक्रमितत्वप्रतिपादनं नोपपद्येत। अन्यस्योपसंक्रमितव्यस्याभावात्। तस्माद् ब्रह्मैव सर्वान्तरं स्वप्राधान्येन निर्दिष्टमित्यङ्गीकर्तव्यम्। पुच्छशब्दस्त्ववयवप्रायपठितोऽप्याधारत्वमात्रलक्षकः। एवं चाऽऽनन्दमय इति मयटो विकारप्रायपाठोऽनुगृहीतो भवति। तस्मादन्नमयादिवदानन्दमयोऽप्युपाधिविशिष्ट इति सिद्धम्। एतच्च 'आनन्दमयोऽभ्यासादि'त्यधिकरणे निर्णीतम्। स चोपाधिः प्रागुदीरितसात्त्विकान्तःकरणपरिणामरूपाऽऽत्मस्वरूपसुखाभिव्यञ्जिका वृत्तिः। सा च प्रियमोदादिभेदेन बहुधा भिद्यते। निरतिशयानन्दो ह्यात्मनः स्वरूपम्। तच्च शुभकर्मोपस्थापितेष्टपुत्रवित्तकलत्रादिदर्शनलाभोपभोगजनितैः प्रियमोदादिसंज्ञकैरन्तःकरणवृत्तिविशेषैरभिव्यज्यते। अभिव्यक्तं च तद्विषयसुखमिति लोको व्यवहरति। तत्र क्षणिकत्वप्रतीतिस्तु व्यञ्जकोपाधिकृता। तथाविधाश्च वृत्तयः स्वापप्रलयादौ स्वकारणे सत्त्वे लीयन्ते। तथाच कारणात्मनाऽवस्थितं तथाविधवृत्तिकं[3] मलिनसत्त्वप्रधानमविद्यापरपर्यायं भावरूपाज्ञानमेवाऽऽनन्दमयोपाधिर्विवक्षितः। स चाऽऽनन्दोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषेऽभिव्यज्यते। तथा 'विविक्ते प्रसन्नेऽन्तःकरण आनन्द' इति च वदतो भाष्यकारस्यापि कारणसत्त्वपरत्वमेवाभिप्रेतोऽर्थ इति व्याख्येयम्[4]। ये[5] त्वन्यथा व्याचक्षते तेषां तथाविधादज्ञानाद्विवेको न कृतः स्यात्। ईदृग्विधोपाधिविशिष्टो योऽयमानन्दमयः सोऽयं[6] प्रागुक्तरीत्या विज्ञानमयादान्तरो ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

तो ज्ञानरूप ही है। ज्ञान आत्मस्वभाव है। अतः इससे आत्मविवेक इतना कठिन है कि विवेककुशल सांख्यदर्शन भी इस कोश से छिपे आत्मा को समझकर ही शांत हो गया। यह कोश भी हटाया जा सकता है, आत्मा का वास्तविक रूप इसके हटने पर ही समझ आयेगा इसकी उन्हें भी कल्पना न हो पायी जो सत्त्वमात्र से पुरुष की अन्यता पहचानने चले थे। अतः इससे विवेक शास्त्रोपदेश द्वारा ही संभव है। वस्तुतस्तु आनन्दमयकोश से कारणशरीर बताना इष्ट है। सुखाभिव्यंजक वृत्तियाँ स्वाप, प्रलय आदि के समय जिस मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या में विलीन होती हैं वही यहाँ आनन्दमय कोश कहा जा रहा है। एवं च तीनों शरीरों से आत्मा का पार्थक्य प्रतिपादित हो गया।) ॥ ४२ ॥ जो यह अन्नमयकोश है वह प्राणमय कोश से भरा

---

१. जैमिनिना (३.३.१३) शेषाध्याये श्रुतेः लिंगस्य लिंगाच्च वाक्यस्य दौर्वल्यं न्यरूपि। वाक्यं चांगांगितावोधकविभक्तिं विना शेषशेषिणोः सहोच्चारणम्। २. घ. ङ. एवमा°। ३. झ. °त्तिकर्म म°। ४. कोषपंचकादात्मनो विवेकायैव पंच पर्याया अन्नमयादयः। तत्र पंचमकोशः कारणशरीरमन्यथा द्वाभ्यामेव शरीराभ्यां पृथगात्मेत्येव वोधः स्यात्। ततश्च भाष्ये यद्यपि 'अन्तःकरण आनन्दविशेष उत्कृष्यत' इत्युक्त्वाऽन्तःकरणमेवेहाप्युपास्थापयत्तथाप्येवं व्याख्येयमित्यत्रत्यं तात्पर्यम्। ५. 'ज्ञानकर्मफलोपाधिविज्ञानं प्रत्यगात्मनः। आनन्दमयइत्यत्र भण्यते कर्तृशान्तये ॥' २.६.१० ॥ इति वार्तिकम्। 'सुखादि ज्ञानकर्मफलं तदात्मकं यदन्तःकरणं तदुपाधि यत् प्रत्यगात्मनो विज्ञानं चैतन्याभासः सोत्रानन्दमयशब्देनोच्यत' इति तत्रानन्दगिरिटीका। ६. झ. °यं प्रत्यगु°।

योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु । मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः ॥ ४३ ॥
तथा मनोमयो ह्यात्मा पूर्णो ज्ञानमयेन तु । आनन्देन सदा पूर्णस्तथा ज्ञानमयः सुराः ॥ ४४ ॥
तथाऽऽनन्दमयश्चापि ब्रह्मणाऽन्येन साक्षिणा । सर्वान्तरेण संपूर्णो ब्रह्म नान्येन केनचित् ॥ ४५ ॥
यदिदं ब्रह्म पुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम् । स रसः सर्वदा साक्षान्नान्यथा सुरपुंगवाः[1] ॥ ४६ ॥

एवं पञ्च कोशाः प्रतिपादिताः । तत्र बाह्यस्य बाह्यस्यान्नमयादेरान्तरेणाऽऽन्तरेण कोशेन यत्पूर्णत्वं श्रुतिः प्रतिपादयति 'तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव' इति तत्संगृह्णाति–**योऽयमिति** । योऽयं प्रतिपत्तिसौकर्याय शिरःपुच्छपक्षान्तरादिभेदेन परिकल्पितोऽन्नमयः कोशः सोऽयं स्वस्मादान्तरेण तथाविधपरिकल्पितावयवेन प्राणमयेन पूर्णः । यथा मूषाकारा प्रतिमा स्वान्तर्निक्षिप्तेन द्रुतताम्रेण[2] सर्वशः पूर्यते तद्वत् । एवमुत्तरत्रापि योजना ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

ब्रह्मणाऽन्येनेति । यद्यप्यानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति पृथङ्निर्देशो नास्ति तथाऽपि 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यानन्दमयाधारत्वेन निर्दिष्टं सत्यज्ञानादिलक्षणं स्वात्मनि मायापरिकल्पितान्नमयादिसकलानात्मवस्तुसाक्षिभूतं पञ्चकोशान्तर्गतं सर्वान्तरं यद् ब्रह्म यस्य च तादात्म्याध्यासादन्नमयादयोऽप्यात्मानः स्युस्तेन सर्वाधिष्ठानेन साक्षिचैतन्यरूपेण **ब्रह्मणाऽऽनन्दमयोऽपि** पूर्णो व्याप्तः । **ब्रह्म नान्येनेति** । उक्तविधं ब्रह्म तु देशकालवस्तुकृतत्रिविधपरिच्छेदराहित्येनाद्वितीयत्वादन्येन केनचिदपि वस्तुना न व्याप्तम् । स्वयमेव सर्वमापूर्यापरिच्छिन्नं तद्वर्तत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

एतावता 'निहितं गुहायामि'ति मन्त्रवाक्ये यद् गुहानिहितत्वं ब्रह्मणः प्रदर्शितं तद्व्याख्यातं भवति । तथाविधस्य सर्वान्तरस्य ब्रह्मणः प्रतिपत्त्युपायत्वेनान्नमयादिपञ्च कोशाः प्रतिपादिता, न तूपासनार्थाः[3] । ननु 'येऽन्नं ब्रह्मोपासते ये प्राणं ब्रह्मोपासते' इत्यादिमन्त्रवाक्यादन्नमयादीनामुपासनाङ्गत्वं प्रतीयत इति चेत् ? मैवम् । शाखान्तरीयस्योपासनाप्रकरणस्थस्य 'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' इत्यादिमन्त्रस्य श्रुत्या कोशत्वेन प्रतिपादितान्नप्राणादिसद्भावं द्रढयितुं तत्तत्कोशावसाने संवादत्वेनोदाहृतत्वात् । यद्यत्रैवोपासनाविधिः[4] स्यात्तर्हि परमात्मनो मनोमयकोशोदाहृतश्लोकेऽप्युपास्तिचोदना श्रूयेत । न च श्रूयते । अतो मनोमयकोशस्य तावदुपदेशार्थत्वमेव न तूपासनार्थत्वं तत्सामान्यादत्रापि तथेत्यङ्गीकार्यम् । इतरथोपासनोपदेशरूपप्रतिपाद्यार्थभेदाद्वाक्यभेदः स्यात् । संभवति च तदैक्ये तद्भेदो न युक्तः 'संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्तु नेष्यते' इति न्यायात् । एवं सर्वान्तरं ब्रह्मोपदिश्य तस्य निर्विशेषत्वेन वाङ्मनसातीतत्वादसत्त्वमाशङ्क्य तन्निरासाय मन्त्रोऽयमुदाहृतः 'असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इति । तत्र यद्यप्यसदेव ब्रह्म तथाऽपि तदस्तीति वेदनीयमित्येवंविधार्थस्य स्फुरणाच्छिष्यस्य

हुआ है । प्राणमय पुनः निसर्गतः ही मनोमय से भरा है ॥ ४३ ॥ इसी तरह मनोमय विज्ञानमय से और विज्ञानमय आनंदमय से भरा हुआ है । (जैसे साँप रज्जु से भरा हुआ कहा जा सकता है क्योंकि साँप में रज्जु से भिन्न कुछ नहीं है वैसे पूर्व-पूर्व कोशों से उत्तर-उत्तर कोश भरे कहे गये हैं । 'पूर्णो रज्ज्वेव पन्नगः' ऐसा प्राणमयपर्याय में वार्तिक है (श्लो. १६) । सिद्धांतबिंदु में (पृ. २५० प्र. द्वा.) व्यक्त किया है कि अज्ञानाध्यासविशिष्ट चैतन्य में अहंकाराध्यास होता है । यही आनंदमय से भरा हुआ विज्ञानमय है इसका तात्पर्य है । पुनः अहंकारविशिष्ट में मनोधर्मों व इंद्रियधर्मों का अध्यास होता है । इसे ही यों कहा है कि विज्ञानमय से मनोमय भरा हुआ है । ज्ञातृत्वविशिष्ट में ही कर्तृत्व का अध्यास होता है अतः मनोमय भरा हुआ है प्राणमय में । और तद्विशिष्ट में देहाध्यास होता है क्योंकि जो मैं करने वाला हूँ वही मैं देहधारी हूँ ऐसी बुद्धि होती है । अतः अन्नमय में प्राणमय भरा है । इस प्रकरण की सूचना इसी अध्याय में पहले (श्लो. १३ आदि) मिल चुकी है ।) ॥ ४४ ॥ आनन्दमय अपने से भिन्न, अपने भी साक्षी ब्रह्म

---

१. झ. सुरसत्तमाः । २. झ. °तप्तताम्रेण । ३. अत्र 'शिरआदिप्रक्लृप्तिस्तु स्यादुपासनकर्मणे । तस्मादेवं चितीरेता मानसी र्व्याचचक्षिरे' ॥ २.१.२४६ ॥ इति निगद्य वार्तिककारउपासनामनुमन्यते । ततः संभवतइमामेवानुपपत्तिं विचार्यानुवादएवोपास्तेरिति पक्षान्तरमपि ब्रूते–'स्वभावतो ज्ञा सम्प्राप्तमनूद्योपासनं श्रुतिः । नामादाविव भूमानं विधत्ते ज्ञानमात्मनि ॥ श्रुत्यन्तराद्वा सम्प्राप्तं मोक्षादर्वाक्फलाय तु । तदनूद्य परं श्रेयःप्राप्तये ज्ञानमुच्यते' ॥ २.१.२४९–५० ॥ इति । ४. ग. झ. विधिपरस्याऽऽत्म° ।

एतमेव रसं साक्षाल्लब्ध्वा देही सनातनम् । सुखी भवति सर्वत्र नान्यथा सुरसत्तमाः ॥ ४७ ॥
असत्यस्मिन्परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम् । को जीवति नरो देवाः को वा नित्यं विचेष्टते ॥ ४८ ॥
तस्मात्सर्वात्मनां चित्ते भासमानो रसो हरः । आनन्दयति दुःखाढ्ये जीवात्मानं कृपाबलात् ॥ ४९ ॥

संशयो भवति । किमसदेव ब्रह्मेत सदेवेति । तथा तस्य ब्रह्मणः सर्वगतत्वादविद्वानपि तद् ब्रह्म प्राप्नोति न वा । यदि न प्राप्नोति तत्सामान्याद्विद्वानपि तद् ब्रह्म न प्राप्नोति[1] प्राप्नोति वेति । तावेतौ विद्वदविद्वद्विषयौ[2] प्रश्नौ श्रुत्यैव प्रदर्शितौ । 'उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छति । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता ३ उ' इति । अत्र श्रुतिर्विचारार्था । एतेषां त्रयाणामुत्तरभूता श्रुतिः 'सोऽकामयत' इत्यादिका । तत्र रसरूपत्वाद् ब्रह्मणो यदस्तित्वं तत्प्रतिपादितं श्रुतौ 'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति, तत्संगृह्याऽऽह–**यदिदमिति** । 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति यदिदं पञ्चकोशान्तरेऽपरोक्षतया भासमानम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्युदीरितलक्षणं ब्रह्म सोऽयं मधुरादिरसवत्सर्वदा प्रत्यग्दृष्टिभिर्योगिभिः साक्षादव्यवधानेनाऽऽस्वादनीयत्वाद्रसः ॥ ४६ ॥

एतद्रसात्मकत्वमुपपादयति–**एतमेवेति** । आत्मज्ञो हि देही **सनात**नमनाद्यनन्तमेतमेवाऽऽत्मानं निरतिशयानन्दरूपतया रसात्मकं स्वात्मनि साक्षात्कृत्य सर्वेषु देशेषु सर्वेष्वपि कालेषु **सुखी भवति** । एतद्व्यतिरिक्तमधुराद्यनित्यवाह्यरसलाभे तु क्वचित्कदाचिदेव सुखित्वम् । अतो विद्वदनुभवबलादस्य रसात्मकत्वमतो रसत्वाद् ब्रह्मणोऽस्तित्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

पुनरपि तत्साधनार्थं श्रूयते 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्येवाऽऽनन्दयाति' इति, तत्संगृह्णाति–**असत्यस्मिन्निति** । यदि प्राणिनां शरीरमध्ये परमव्योमसंज्ञकेऽव्याकृताकाशे स्वात्मभूतो निरतिशयानन्दरूपोऽयमात्मा न स्यात्तर्हि **को** वा जन्तु**र्जीवति** प्राणधारणं करोति को वा प्राणनादिचेष्टां **नित्यं** कुर्यात् ? तत्सत्ताव्यतिरेकेण तत्राऽऽरोपितस्य सत्त्वानुपपत्तेः । अत आरोपितकार्यसत्त्वानुपपत्त्या तत्कारणस्य ब्रह्मणः सत्त्वमङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

तस्मादिति । यस्मादेवमानन्दरूपो विद्यते **तस्मात्सर्व**प्राणिहृदय आपरोक्ष्येण भासमानं ब्रह्म रसशब्दाभिधेयं भवति । कुतोऽस्याऽऽनन्दरूपतेत्यत आह–**आनन्दयतीति** । यस्मादसौ संसारदुःखाभिभूतं जीवात्मानं तत्कृतधर्मानुरूपेण सुखयति तस्मादस्याऽऽनन्दरूपत्वम् । अत एव चान्यत्राऽऽम्नायते–'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति ॥ ४९ ॥

से भरा हुआ है । (–उसमें अध्यस्त है ।) ब्रह्म ही सबसे अंदर है, उससे भीतर कुछ नहीं है । वह किसी से भरा नहीं है (कहीं अध्यस्त नहीं है ।) ॥ ४५ ॥ सत्य, ज्ञान, अद्वयरूप जो यह ब्रह्म है वह सदा अपरोक्ष आनंद है । (विषयाकृष्टदृष्टि से हमें वैसा न लगता हुआ भी शिवयोगियों को उसी का आनंद रहता है । आनंदप्रद क्लृप्त साधनों के बिना भी वे प्रसन्न रहते हैं । यह तभी संभव है जब उन्हें उस ब्रह्म से सुख मिले । ब्रह्म उन्हें सुख दे यह तभी संभव है जब वह स्वयं सुखरूप हो । अतः वह साक्षी ही आनंद है यह निश्चित है ।) ॥ ४६ ॥ इस सनातन आनंद का साक्षात्कार कर ही सब सुखी हुआ करते हैं, अन्य किसी तरह नहीं । (विषय से मिलता प्रतीत होने वाला सुख भी वस्तुतः आत्मरूप सुख ही है । जैसे वृत्तिविशेषों में व्यक्त आत्मा ही विषयज्ञान है ऐसे मोदादि वृत्तिविशेषों में व्यक्त आत्मा ही विषयसुख है ।) ॥ ४७ ॥ अपने तथा अखिल जीवों के आत्मरूप इस परमानंद के न होने पर न कोई जी सकता है न कुछ कर सकता है । (आत्मसत्ता से सत्ता पाकर ही जीवन आदि हुआ करता है । 'न होने पर' कहकर किसी अवस्थाविशेष को नहीं कह रहे हैं क्योंकि वैसी अवस्था ही असंभव है, किंतु सब उसके रहने से ही है–इसे स्थिर कर रहे हैं । जैसे उदाहरणार्थ कहा जाता है 'यदि आकाश न हो तो पृथ्वी कहाँ रहे ?'– इसका यह मतलब नहीं कि किसी अवस्था की हम कल्पना कर रहे हैं जब आकाश न रहने से पृथ्वी का रहना असंभव है क्योंकि उदाहरण की दृष्टि से आकाश नित्य होने से उसका राहित्य कल्पित नहीं किया जा सकता, किंतु यह मतलब है कि पृथ्वी आकाश में ही रहती है, ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिये ।) ॥ ४८ ॥ अतः सब प्राणियों के चित्त में प्रकाशमान आनंदरूप शिव ही कृपाकर दुःखबहुल संसार में जीवात्मा को सुखी करता है ॥ ४९ ॥ अद्वय आदि स्वरूप वाले इस शिव से जब

---

१. घ. ङ. °प्नोति वे° । २. घ. ङ. °द्वद्वि° ।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे । निर्भेदं परमेकत्वं विन्दते सुरसत्तमाः ॥ ५० ॥

तदैवाभयमत्यन्तं कल्याणं परमामृतम् । स्वात्मभूतं परं ब्रह्म स याति स्वर्गवासिनः ॥ ५१ ॥

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः । विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः ॥ ५२ ॥

सर्वेषामात्मभूतं यद् ब्रह्म सत्यादिलक्षणम् । उदास्ते तत्सुरश्रेष्ठा यथाजातजनं प्रति ॥ ५३ ॥

सम्यग्ज्ञानैकनिष्ठानां तदेव परमं पदम् । तदा स्वात्मतया भाति केवलं कृपया सुराः ॥ ५४ ॥

तत्त्वेवाधीतवेदस्य सहाङ्गैः सुरपुंगवाः । मननेन विहीनस्य भयहेतुः सदा भवेत् ॥ ५५ ॥

भयाभयहेतुतयाऽपि ब्रह्मणः सत्त्वं समर्थितं श्रुतौ–'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति' इति, तत्संगृह्णाति–**यदेति** । **अदृश्यत्वादी**त्यादिशब्देन श्रुत्युक्तानात्म्यादिसंग्रहः । **यदा** खल्वेतस्मिन्साक्षिरूपे[1] ब्रह्मणि । किंरूपे ? अदृश्ये दृश्यप्रपञ्चरहिते । अनात्म्य आत्मनः संबन्धित्वादात्म्यं स्थूलशरीरं, तद्रहिते । अनिरुक्ते सूक्ष्मभूतारब्धत्वात्सूक्ष्ममपि तन्निरुच्यत इति निरुक्तं लिङ्गशरीरं, तद्रहिते । श्रूयते हि–'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति । **अनिलयने** निलीयतेऽस्मिन्कार्याकारप्रपञ्च इति निलयनं भावरूपमज्ञानं कारणशरीरं, तद्रहिते । एवंभूते ब्रह्मणि **निर्भेद**महमन्यो ब्रह्मान्यदित्येवंविधभेदरहितं पारमार्थिकमेकत्वं श्रवणमननादिसाधनैः साधको **विन्दते** लभते **तदैव** तस्मिन्नेव [2]समयेऽभयं भयरहितम्, भयहेतोर्भेदस्य निवृत्तत्वात् । भेदो हि भयहेतुः । 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति श्रुतेः । निरतिशयनिर्विकारानन्दरूपतयाऽत्यन्तशोभनं परमं सर्वोत्कृष्टममृतं कदाचिदप्यनश्वरमेवंभूतं परब्रह्म **स** ब्रह्मात्मैकत्वविद्**याति** प्राप्नोति ॥ ५० ॥ ५१ ॥

यदा खल्वेतस्मिन्नुक्तलक्षणे ब्रह्मण्**यल्पमप्यन्तरं** भेदं पश्यति **तदा तस्या**हमन्यः संसारी मत्तोऽन्यद् ब्रह्मेत्येवं भेददर्शिनस्तद् ब्रह्म **भयं** भयहेतुः स्यादित्यर्थः ॥ ५२ ॥

ननु ब्रह्मणः सर्वत्र साम्येनावस्थानात्पक्षपातायोगाच्च भेददर्शिनोऽप्यभयप्राप्तिः किं न स्यादिति ? तत्राऽऽह–**सर्वेषामिति** । भेददर्शिनामभेददर्शिनां च **सर्वेषां** हृदयमध्य आत्मत्वेनोपलभ्यमानं सत्यादिलक्षणं **यद्ब्रह्म तन्मूर्खजनं प्रत्युदास्त** उदासीनमेव भवति । अनधिकारिणं प्रत्युदासीनमेव ब्रह्म, तस्य ब्रह्मजिज्ञासापराङ्मुखत्वान्न प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

ये त्वद्वितीयनिरतिशयानन्दब्रह्मात्मैक[3]त्वविषयनिर्विचिकित्ससाक्षात्कारज्ञानैकनिष्ठास्तेषां **पदं** पदनीयं **परमं** सर्वोत्कृष्टं मायातत्कार्यातीतं **तदेव** केवलं ब्रह्म तदा तस्मिन्साक्षात्कारसमये स्वात्मभावेन **कृपया भाति** प्रकाशते । अत एवान्यत्राऽऽम्नायते–'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' इति ॥ ५४ ॥

यस्तु सत्यधिकारे मननादिसाधनेन तत्स्वरूपं न साक्षात्करोति तस्याऽऽलस्योपहतस्य ब्रह्म भयकारणं स्यादित्याम्नातम् । 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्ये'ति, तत्संगृह्णाति–**तत्त्वेवेति** । **तदेव** ब्रह्म **तु** साङ्गवेदाध्यायिनोऽपि ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तं मननमकुर्वाणस्य भयहेतुर्भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

यह जीव अपना अभेद, वास्तविक एकता समझ लेता है तभी वह (जीव) अत्यंत अभय, कल्याण तथा सर्वोत्तम अमृतरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है जो स्वात्मा ही है ॥ ५०–५१ ॥ जब यह जीव उस ब्रह्म से अपने को थोड़ा भी भिन्न समझता है । तभी इसे (जीव को) भय होता है (समस्त दुःख होते हैं ।) ॥ ५२ ॥ यद्यपि ब्रह्म सबका प्रत्यक् है तथापि भेददृष्टि वाले के प्रति वह उदासीन बना रहता है–अपने आनंदरूप से उसे भासता नहीं । (यथाजातजन अर्थात् पैदा होते समय जैसा मूर्ख था–भेद दृष्टि वाला था–वैसा ही मूर्ख जो बना रहता है वह व्यक्ति । ब्रह्म का उदासीन रहना भी वस्तुतः हमारा ही उसके प्रति उदासीन रहना है ।) ॥ ५३ ॥ जो लोग केवल सम्यग्ज्ञान में ही स्थित रहते हैं उन्हें ही निज-आत्मारूप से वह शिव भासता है । इसमें उसकी कृपा ही कारण है ॥ ५४ ॥ अंगों सहित वेद पढ़कर भी जो ब्रह्म साक्षात्कार के लिये मनन नहीं करता, उसके भय का कारण वह ब्रह्म ही बन जाता है । (भेददृष्टि से देखा शिव ही भयोत्पादक है । एक व्यक्ति विवाह के पूर्व जिस स्त्री के भय का कारण बनता है वही विवाह के अनंतर उसी स्त्री के अभय का कारण बनता देखा गया है । इसमें कारण यही है कि पहले स्त्री उसे भेददृष्टि से देखती थी अतः उससे डरती थी और बाद में अभेद दृष्टि से देखती है अतः डरने का प्रसंग नहीं । ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिये ।) ॥ ५५ ॥

---

१. झ. °क्षिणि । २. ज्ञानमोक्षयो र्न क्षणभेदोऽपि । ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिरित्यादौ प्रयोजकपंचमी । तस्मात् यदा ज्ञानं तदैवाज्ञानहानिस्तदैव तदुपलक्षित आत्मा स च मुक्तिरिति । दशमोऽहमिति ज्ञानानन्तरं दशमलाभे क्षणस्याप्यविलम्बो यथा तथेह बोध्यः । ३. ङ. °कत्वाद्विष° ।

भीषाऽस्मात्पवते वायुर्भीषोदेति दिवाकरः । भीषाऽस्मादग्निरिन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ५६ ॥

अस्यैवाऽऽनन्दलेशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः । भवन्ति सुखिनो देवास्तारतम्यक्रमेण तु ॥ ५७ ॥

तत्तत्पदविरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः । स्वरूपभूत आनन्दः स्वयं भाति पदे यथा ॥ ५८ ॥

अयमेव शिवः साक्षादादित्यहृदये तथा । अन्येषां हृदये चैव भाति साक्षितया स्वयम् ॥ ५९ ॥

उक्तं ब्रह्मणो भयहेतुत्वं द्रढयितुं श्रुतिर्मन्त्रान्तरमुदाहरति-'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' इति, तदत्र संगृह्णाति-**भीषेति** । वाय्वादीनामखिलजगद्व्यवहारनिर्वर्तनेऽधिकृतानां महाप्रभाववतां देवानामपि ब्रह्म भयहेतुः किल, किमु वक्तव्यमन्येषां प्राणिनां भयहेतुरिति भावः ॥ ५६ ॥

एवं भयाभयहेतुत्वादपि ब्रह्मणोऽस्तित्वं सिद्धम् । 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवाऽऽनन्दयाति' इति यन्निरतिशयानन्दरूपत्वं ब्रह्मणोऽस्तित्वसाधनायोपन्यस्तं तदुपपादनाय तल्लेशभूतं सार्वभौमादिहिरण्यगर्भान्तमुत्तरोत्तरं शतगुणभावेनावस्थितमानन्दप्रवाहं प्रतिपादयति श्रुतिः-'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति' इत्यादिना 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' इत्येवमन्तेन, तत्संगृह्णाति-**अस्यैवेति** । ब्रह्मस्वरूपभूतो योऽयं निरतिशय आनन्दोऽस्यैवाऽऽनन्दस्यैकदेशेन ब्रह्मादिस्तम्बान्ताः सर्वे देहिनस्तत्तत्स्वरूपानन्दाभिव्यञ्जकोपाधिमहत्त्वाल्पीयस्त्वाभ्यां तरतमभावेनावस्थितमानन्दं प्राप्य सुखिनो भवन्तीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

श्रुतौ सार्वभौमाद्यानन्दविशेषमुपन्यस्य तत्र तत्र 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' इत्याम्नातं, तदभिप्रायं संगृह्णाति-**तत्तदिति** । तेषु तेषु सार्वभौमादिपदेषूत्तरोत्तरं सातिशयत्वादनित्यत्वं परिज्ञाय ततो विरक्तस्यैषणात्रयविनिर्मुक्तस्य प्रसन्नचित्तस्य श्रवणमननादिसाधनकलापमनुष्ठितवतः **श्रोत्रियस्य** ब्रह्मविदोऽनवच्छिन्नानन्दब्रह्मरूपत्वश्रवणात्तल्लेशभूतः सार्वभौमादिभेदेन तरतमभावेनावस्थितः सर्वोऽप्यानन्दस्तस्य विदुषः स्वरूपभूत इति तत्तत्पदेऽवस्थितस्य सार्वभौमादेर्य[1]थाऽऽनन्दविशेषोऽवभासते **तथा** विदुषोऽपि स्वयं साधनान्तरनैरपेक्ष्येण तथाविध आनन्दो भातीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

एतेन सार्वभौमादिहिरण्यगर्भान्तं तरतमभावेनावस्थिता आनन्दविशेषा जलतरङ्गबुद्बुदादयः समुद्र इव यत्रैक्यं गतास्तदद्वितीयं ब्रह्म परिच्छेदकाभावान्निरतिशयानन्दरूपं भविष्यतीत्यभिप्रेत्य तत्सिद्ध्यर्थं जीवेश्वरभेदभ्रमं श्रुतिर्व्युदस्यति 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इति, तत्संगृह्णाति-**अयमेवेति** । योऽयमाकाशादिकारणत्वेन निर्दिष्टो विदुषा स्वस्वरूपतया साक्षात्क्रियमाणो निरतिशयानन्दरूपः परशिव एष एवाऽऽदित्यहृदये । आदित्यो हिरण्यगर्भः 'स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुताऽऽदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयम्' इति श्रुतेः । [2]तस्य प्रथमशरीरिणो हिरण्यगर्भस्य हृदये विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकः सन् । साक्षादिति[3] व्यवधानाभावमाह । अनावृतज्ञानतया सर्वज्ञ ईश्वरो भातीत्यर्थः । तथैव एव परशिवोऽन्येषां जीवानां हृदये पञ्चकोशमध्ये मलिनसत्त्वप्रधानाविद्योपाधिकः किंचिज्ज्ञः संसारसाक्षित्वेन भाति ॥ ५९ ॥

इस परब्रह्म के भय से वायु बहती है, सूर्य उगता है, अग्नि, इंद्र, मृत्यु सब अपना कार्य नियमतः इसीलिये करते हैं कि इस महादेव का उन्हें भय है ॥ ५६ ॥ इसके स्वरूपभूत आनंद के छोटे से टुकड़े से ही विष्णु से क्षुद्रतम जीव पर्यंत सब प्राणी सुखी होते हैं । (निरंश आकाश के एकदेशों से—घटाकाश, मठाकाशादि से—जैसे हमारा व्यवहार होता है ऐसे ही निरंश आनंद के एकदेश से—वृत्त्यभिव्यक्त आनंद से—सब आनंद पाते हैं । जैसे घड़ा आदि बड़ा-छोटा होने से व्यवहर्तव्य आकाश बड़ा-छोटा होता है ऐसे ही आनंद की अभिव्यंजक उपाधियों की श्रेष्ठता-कनिष्ठता से सब लोग कमोबेश सुख पाया करते हैं) ॥ ५७ ॥ देवादि उन-उन पदों से विरक्त जो प्रसन्नचित्त ब्रह्मवेत्ता है उसे निजात्मरूप वह आनंद वैसे ही स्वयं प्रकाशित होता रहता है जैसे उस पद पर स्थित व्यक्ति को । (यद्यपि पदासीन को ससीम और विषयपरामृष्ट ही सुख प्रतीत होता है और ब्रह्मज्ञ को निःसीम निरपेक्ष सुख तथापि मोक्ष की सुखरूपता को उदाहरणपूर्वक समझाते हुए उसे सब आनंदों से श्रेष्ट बताने में तात्पर्य होने से ऐसा कहा है । जैसे 'सर्वतः सम्प्लुतोदके' आदि गीता में यह शंका की जा सकती है कि क्षुद्र जल का व्यवहार सर्वतः सम्प्लुतोदक स्थिति में असंभव होने से तब भी उदपान का प्रयोजन रहता ही है, किंतु मूल के तात्पर्यानुसार दृष्टांत की संगति समझी जा सकती है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये ।) ॥ ५८ ॥ यही शिव आदित्य तथा अन्य सबके हृदय में साक्षिरूप से स्वयं भासता है ॥ ५९ ॥ देह से माया (अज्ञान) पर्यंत जितनी साक्ष्य उपाधियाँ हैं उन्हें विवेकपूर्वक हटाकर जो सबके साक्षी आत्मा

---

१. घ. °र्य आन° । २. झ. तत्र । ३. ज. °क्षादादित्यव्यवधानमा° ।

विहाय साक्ष्यं देहादि मायान्तं तु विवेकतः । सर्वसाक्षिणमात्मानं यः पश्यति स पश्यति ॥ ६० ॥

रुद्रनारायणादीनां स्तम्बान्तानां च साक्षिणम् । एवं तर्कप्रमाणाभ्यां यः पश्यति स पश्यति ॥ ६१ ॥

यस्यैवं तर्कमानाभ्यामस्ति विज्ञा[illegible]आस्तिकाः । स लोकादखिलादस्माद्विभिद्याऽऽत्मानमात्मना ॥ ६२ ॥

अन्नादीनखिलान्कोशानाभासेन विभासितान् । उपसंक्रामतीशस्य प्रसादादेव दे[illegible]लात् ॥ ६३ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः । निर्विशेषे शिवे शब्दः कथं देवाः प्रवर्तते ॥ ६४ ॥

एवं विरुद्धस्वभावयोरप्यनयोर्जीवेश्वरयोरैक्यप्रतिपत्तिप्रकारमाह—**विहायेति** । माया नामात्र सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृतिः । सा चोदीरितजीवेश्वरोपाधिद्वयसाधारणरूपा[1] अतस्तच्छब्देन तदुभयमत्र विवक्षितम् । तथा चोभयत्र स्थूलशरीरादितत्कारणभूतमायापर्यन्तं सर्वज्ञत्वकिंचिज्ज्ञत्वादिविरुद्धधर्महेतुभूतं साक्ष्यत्वादनात्मेति विविच्य तत्परित्यज्य यदुभयत्रानुगतं साक्षिचिन्मात्ररूपमत एव परिच्छेदकाभावात्सर्वसाक्षिभूतं तदेकमेवेत्येवमैक्येन य आत्मानं पश्यति स यथार्थदर्शी ॥ ६० ॥

रुद्रनारायणादीनामिति । ते हि परशिवस्यावतारविशेषा लीलाविग्रहधारिणस्तेषामन्येषां जीवानां च साक्षिभूतं चिन्मात्रमुक्तरीत्या स्वात्मभावेन यः पश्यति स एव ब्रह्मवित् । एतेन सच्चिदानन्दरूपस्य परशिवस्य जीवेश्वरोपाधिकृतपरिच्छेदनिरासेन तस्यापरिच्छिन्ननिरतिशयज्ञानानन्दैकरसत्वमुपपादितं भवति । यद्यप्येतत्सौत्रपरपदतात्पर्यप्रतिपादकस्य 'सर्वान्कामानि'ति मन्त्रभागस्य व्याख्यानरूपत्वादन्ते समाम्नातव्यं तथाऽपि 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि'त्युपन्यस्ततर्कसमर्थनार्थमत्रैव प्रसङ्गादाम्नातमिति द्रष्टव्यम् । एवमद्वितीयनिरतिशयनिर्विकारसच्चिदानन्दैकरसस्य ब्रह्मणोऽस्तित्वप्रतिपादनादस्ति नास्तीति संशयो निराकृतः ॥ ६१ ॥

विद्वानपि न प्राप्नोति चेति प्रश्नस्योत्तरभूता श्रुतिः—'स य एवं विद्वान्' इत्यादिका 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इत्येवमन्ता । तदर्थं संगृह्णाति—**यस्यैवमिति** । **यस्य** खलु विदुष **एवमुक्तप्रकारेण** निरतिशयानन्दब्रह्मात्मैकत्वज्ञान**मस्ति स** ब्रह्मविद् दृष्टादृष्टैर्विषयसमुदायरूपा**दखिलादस्माल्लोकात्** पृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गादिभेदभिन्नादनात्मप्रपञ्चा**दात्मानमात्मना** बुद्ध्या विविच्य अन्नमयात्मा[2] भूत्वा पुनरपि विवेकेनाऽऽन्तरं प्राणमयाद्यात्मानमवलम्ब्य चिदाभासेन भासितस्य बाह्यस्यान्नमयादेरनात्मत्वं जानानोऽन्नमयादिपञ्चकोशेभ्योऽप्यान्तरं सर्वजगत्कल्पनास्पदं सत्यज्ञानानन्तांनन्दैकरसं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति सर्वाधारत्वेन यन्निर्दिष्टं ब्रह्म तदुपसंक्रामति साधकः परशिवार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितैर्यज्ञदानादिभिः प्रीणितस्य परमेश्वरस्य प्रसादेन विद्योदये सति भेदहेतोरविद्याया निवृत्तेस्तत्कृतभेदभ्रमनिरासात्सर्वगतत्वेन नित्यप्राप्तमपि ब्रह्म कण्ठगतचामीकरन्यायेन पुनः प्राप्नोतीत्यर्थः । एवं च विद्वानेव प्राप्नोतीति प्रतिपादनादविदुषोऽपि ब्रह्मप्राप्तिरस्ति वा न वेति प्रश्नोऽपि निराकृतो वेदितव्यः ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

एवं वेदनमात्राद् ब्रह्मप्राप्तिप्रतिपादनेन 'ब्रह्मविदाप्नोति' इति सूत्रवाक्यभागस्तद्व्याख्यानरूपो 'यो वेद सोऽश्नुते' इति मन्त्रभागश्च व्याख्यातो भवति । अद्वितीयनिरतिशयानन्दाभयब्रह्मप्राप्तिर्ज्ञानमात्रसाध्येत्यस्मिन्स्वप्रतिपादितेऽर्थे श्रुतिः संवादार्थं कंचिन्मन्त्रमुदाजहार । स चैवमाम्नातः—'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' इति, तत्संगृह्णाति—**यत** इति । यतो यस्मादुक्तलक्षणादत्यन्तनिर्विकल्पकाद् ब्रह्मणः सकाशाद्वाचो निवर्तन्ते अभिधातुमशक्ताः परावर्तन्त इत्यर्थः । कुत इत्यत आह—**निमित्तानामिति** । जात्यादीनि हि शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तानि, तेषां प्रवृत्तिनिमित्तानां ब्रह्मण्यभावादित्यर्थः । एतदेवोपपादयति—**निर्विशेष** इति । यस्मात् 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्म निर्विशेषमवगम्यते । अतस्तथाविधे जात्यादिसकलधर्मरहिते कथमभिधावृत्त्या शब्दः प्रवर्तते ? नैव प्रवर्तितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

को समझता है वही समझदार है ॥ ६० ॥ तर्क और प्रमाण के सहारे जो यह समझ लेता है कि रुद्र, नारायण आदि देवों व क्षुद्र प्राणियों का साक्षी एक शिव ही है, वही समझदार है ॥ ६१ ॥ युक्ति व प्रमाण से जिसने ऐसा अनुभव कर लिया है वह विवेकबुद्धि द्वारा इस सारे संसार से (आत्मरूप से माने गये अनात्मभूत शरीरादि संघात से) आत्मा को अलग जान अन्नमयादि सब कोशों को—जो आत्मा के आभास से ही प्रतीत होते हैं—लाँघकर शिवरूप से ही स्थित हो जाता है । यह शिवकृपा से ही होता है ॥ ६३ ॥ प्रवृत्तिनिमित्त जात्यादि न होने के कारण जिसका अभिधान करने में असमर्थ हो शब्द मानो लौट आते हैं—बोधक नहीं बन पाते, वह निर्विशेष शिव शक्तिवृत्ति से शब्द का विषय नहीं, यह निश्चित है ॥ ६४ ॥ शब्द शक्ति से

---

१. शुद्धसत्त्वप्रधाना मायेश्वरोपाधिः, अशुद्धसत्त्वप्रधानासावेव जीवोपाधिरिति तत्त्वविवेकेप्याह स्म (श्लो. १५–१७) ।
२. ङ. °यादिपञ्च पु° ।

विशेषं कंचिदाश्रित्य खलु शब्दः प्रवर्तते । यस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्तं सर्वगोचरम् ॥ ६५ ॥
यस्माच्छ्रोत्रत्वगक्ष्यादिखानि कर्मेन्द्रियाणि च । व्यावृत्तानि पराग्वस्तुविषयाणि सुरोत्तमाः ॥ ६६ ॥
तद् ब्रह्माऽऽनन्दमद्वंद्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम् । विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कुतश्चन ॥ ६७ ॥

विशेषं कंचिदिति । अभिधेयगतं जात्यादिकं कंचिद्विशेषं प्रवृत्तिनिमित्तत्वेनोपादायैव हि लोके **शब्दः प्रवर्तते** । अतस्तद्रहिते ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्तिरयुक्तेत्यर्थः । **सूक्ष्मं** सूक्ष्मार्थग्राहकम् । सर्वेन्द्रियसहकारितया सर्वविषयगोचरमन्तःकरणमपि स्ववृत्तिभिः सह यस्मान्निर्विकल्पकाद् ब्रह्मणो व्यावृत्तं निवृत्तम् । ननु तन्निरस्तसमस्तोपाधिकं वाङ्मनसातीतं चेत्तत्सद्भावावेदकप्रमाणाविषयत्वान्नरशृङ्गवदसदेव स्यात् ? नैष दोषः । अविषयस्यापि तस्य लक्षयितुं शक्यत्वात् । तथा हि–सत्यज्ञानादिवाक्यं तावल्लोकसिद्धसत्यादिप्रतिपादनद्वारा यथोदीरितनिर्विशेषं ब्रह्म विधिमुखेन लक्षणया प्रतिपादयति । 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादिकं तु व्यतिरिक्तसकलनिषेधेन प्रपञ्चव्यतिरेकावच्छिन्नं तद्व्यतिरेकमुखेणाभिदधत्तद्व्यतिरेकविनिर्मुक्तं तत्स्वरूपं लक्षयति । न च–ईदृशस्य वेदान्तवाक्यस्याज्ञातज्ञाप[1]कत्वेनोत्पत्तिविधिरूपत्वाद्विधौ लक्षणा न न्याय्येति स्थितेस्तत्र लक्षणा न युक्ता इति वाच्यम् । प्रतिनियतवाच्यार्थत्यागेन विधौ लक्षणास्वीकारे लक्ष्यार्थस्यानियतत्वादनेकत्वेन संदेहः स्यादित्यभिप्रायेण हि विधौ लक्षणा न न्याय्येत्युच्यते । यत्र तु मुखान्तरेण संदेहो निवार्यते तत्र विधावपि लक्षणा न दुष्यति । यथाऽर्धमन्तर्वेद्यर्धं बहिर्वेदीति[2] । एवमत्रापि व्यतिरिक्तसकलनिषेधादनेकत्वसंदेहाभावात्परिशेषेण तस्यैव लक्ष्यत्वसिद्धेर्विधावपि लक्षणा न दुष्टा । न च लक्ष्यत्वविशिष्टस्यैव ग्रहणान्निरुपाधिकस्य शब्दाविषयत्वमिति मन्तव्यम् । लक्ष्यत्वस्योपलक्षणत्वेन ग्राह्यकोटावननुप्रवेशात् । अतोऽत्र वागविषयत्वोक्तिरभिधावृत्त्यभिप्राया । अत एवोपनिषदेकवेद्यत्वमप्याम्नातम् 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति । विधिनिषेधमुखवाक्यद्वैविध्यात्तज्जनिता ब्रह्माकारमनोवृत्तिरपि द्वेधा भवति । तत्र विधिरूपवाक्यजनिता मनोवृत्तिः स्वोपादानबलेन निरुपाधिकं ब्रह्म विषयी कुर्वती[3] तदवगमयति । न चैतावता निरुपाधिकस्य मनोवृत्त्यविषयत्वभङ्गः । मनोवृत्तेरेवोपाधेः सद्भावेनास्य सोपाधिकत्वात् । नाप्यवस्तुत्वम् । उपाधेरुपलक्षणत्वेन विषयकोटावननुप्रवेशात् । एवं निषेधमुखेन प्रवृत्तवाक्यजनितमनोवृत्तिरपि समस्तोपाधिव्यतिरेकावच्छिन्नं तद् ब्रह्म गोचरयन्ती तदवच्छेदकं व्यतिरेकं स्वात्मानं च कतकरजोन्यायेन निवर्तयति । एतदेवाभिप्रेत्याऽऽम्नायते–'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इति । एवमुक्तरीत्योपाधिसंस्पर्शविधुरस्य निरस्तसमस्तोपाधिकस्यात्यन्तनिर्विकल्पकस्य वाङ्मनसातीतत्वं सिद्धम्[4] ॥ ६५ ॥

पराग्वस्तुविषयाणीति । पराग्वस्तूनीदंकारास्पदानि शब्दादीनि विषयो येषां तानि तथोक्तानि । तथात्वं च कठैराम्नायते–'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इति ॥ ६६ ॥

इत्थं यद् ब्रह्म वाङ्मनसातीतं तदद्वयमद्वितीयं शीतोष्णादिसकलद्वंद्वनिर्मुक्तं च । अत एव **निर्गुणं** सत्यज्ञानानन्दैकरसमेवंरूपं ब्रह्म स्वात्मभावेन **विदित्वा** । ननु कथं तस्य वेदनं संभवति, बुद्ध्यविषयत्वात् ? नैष दोषः । व्यतिरेकावच्छिन्नं[5] तद्विषयीकुर्वता मनसा[6]ऽदूरविप्रकर्षेण व्यवस्थापयितुं शक्यत्वस्योपपादितत्वात् । एवं ज्ञानेनाद्वितीयनिष्प्रपञ्चस्वप्रकाशचिदानन्दब्रह्मात्मभावेनावस्थितो विद्वान्कस्माच्चिदपि **न बिभेति** । भयहेतोः स्वातिरिक्तस्य द्वितीयस्य वस्तुनोऽभावात् । चनशब्दोऽप्यर्थे श्रुतौ ॥ ६७ ॥

उसे ही बता सकता है जिसमें कोई विशेषता है । (शिव में कोई विशेषता नहीं अतः शब्द उसे शक्ति से नहीं बता सकता ।) सभी बातें समझने वाला और सूक्ष्म अर्थ का भी ग्रहण करने वाला मन भी जिसे विषय नहीं कर पाता, श्रोत्र, त्वक्, आँख आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ भी जिसे विषय नहीं कर सकतीं, क्योंकि वे सब वहिर्भूत (इदमास्पद) विषयों के ग्रहण में ही सामर्थ्य वाली हैं, वह ब्रह्म आनंदरूप, अद्वितीय, निर्विशेष, सद्घन, चिद्घन है । उसे निजरूप समझकर ब्रह्मज्ञ किसी कारण से भय नहीं करता ॥ ६५–६७ ॥ अपने गुरु के उपदेश से जिसने इस बात को समझ लिया कि मैं शिव हूँ

---

१. ङ. च. झ. °पनत्वे° । २. यूपसम्बन्धे विहितं–'अर्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्धं वहिर्वेदी'ति । तत्र किमन्तर्वेद्येकदेशो यूपांगतया विधीयते, वहिर्वेदिसहितो मानदेशो वा लक्ष्यतइति विशयः । विधौ लक्षणायाअयोगादाद्यः पक्षः प्राप्तः । परं तथात्वेऽर्धमन्तर्वेदि अर्धं च वहिर्वेदीत्युभयं विधातव्यं, तथा च वाक्यभेदः । तस्माद् देशो लक्ष्यते, तथत्व एकार्थविधानान्न वाक्यभेद इति तार्तीयसप्तमे (६.१३-१४) निर्णीतम् । एवमिहापि सत्यत्वाद्यनेकधर्मविधाने वाक्यभेदः, सत्यादिसर्वैः पदैरेकव्यक्तिलक्षणायां तदभाव इति विधित्वेऽपि लक्षणौचित्यमिति तात्पर्यम् । ३. ङ. च. °तीति तदेव ग° । ४. ङ. प्रसिद्धम् । ५ पराक्त्वासत्यत्वादिरहितं तद्ब्रह्मेति चिन्तयितुं शक्यमेवं चिन्तने तथाविधं ब्रह्मापि चिन्तितं स्यादित्यर्थः । ६. च. °साऽविदू° ।

एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः । स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः ॥ ६८ ॥
तप्यतापकरूपेण विभातमखिलं जगत् । प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात् ॥ ६९ ॥
कर्ता कारयिता कर्म करणं कार्यमास्तिकाः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७० ॥
प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७१ ॥
नियोज्यश्च नियोगश्च साधनानि नियोजकः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७२ ॥
भोक्ता भोजयिता भोगो भोगोपकरणानि च । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७३ ॥
ग्राहकश्च तथा ग्राह्यं ग्रहणं सर्वतोमुखम् । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७४ ॥
अन्यथाज्ञानमज्ञानं संशयज्ञानमेव च । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७५ ॥
घटज्ञानं पटज्ञानं कुड्यादिज्ञानमेव च । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७६ ॥
घटः कुड्यं कुसूलं च पटः पात्रं च [1]पर्वतः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७७ ॥
पातालाद्याश्च लोकाश्च सत्यलोकादयोऽपि च । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७८ ॥
ब्रह्माण्डं तत्र क्लृप्तानामण्डानां शतकोटयः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ७९ ॥
समुद्राश्च तटाकाश्च नद्यः सर्वनदा अपि । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८० ॥

उक्तब्रह्मविदो यत्फलमाम्नातम् 'एतँ ह वा न तपति किमहँ साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इति, तदर्थं संगृह्णाति–**एवमिति** । योऽयमुक्तरीत्या गुरूपदेशक्रमेणाद्वितीयब्रह्मात्मवित्स ब्रह्मीभूतोऽकृतेन साधुकर्मणा पुण्येन कृतेन वाऽसाधुकर्मणा पापेन **न तपति** स्वात्मानमिति शेषः । मूलाज्ञाननिवृत्त्या तद्विलसितस्य क्रियाकारकफलात्मकस्य प्रपञ्चस्यापि बाधितत्वात् । अज्ञानी हि मुमूर्षावस्थायां यज्ञदानादिशुभकर्माकरणात्स्वर्गाद्यप्राप्तिं स्वकृतपापफलनरकप्राप्तिं च मनसा समालोकयंस्ताभ्यां बिभेति । ज्ञानी तु भाविजन्मापादककर्मसंचयस्य ज्ञानाग्निना दग्धत्वाद्भाविजन्माभावेन न तपतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

'स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते' इति वाक्यस्यार्थमाह–**तप्यतापकेति** । तप्यस्तापक्रियाविषयो भोक्तृप्रपञ्चः । तापकानि साध्वसाधुकर्मादीनि । एवं द्वैविध्येनावस्थितमपि सर्वं जगदद्वितीयब्रह्मात्मैकत्वज्ञानाद्विदुषः स्वस्वरूपतयैव भाति न तु स्वातिरिक्तं किंचित्पश्यति येनासौ तप्येत ॥ ६९ ॥

अत्यल्पमिदमुच्यते क्रियाकारकलक्षणः सर्वोऽपि प्रपञ्चः स्वात्ममात्रतयैव तस्य भातीत्याह–**कर्तेत्यादिना** ॥ ७०-१०५ ॥

वह अच्छे या बुरे कर्म से कभी परेशान नहीं होता । (मैंने अच्छा क्यों नहीं किया, बुरा क्यों किया आदि परेशानी उसे नहीं होती । वह तो जान चुका है कि कहीं कुछ हुआ ही नहीं है ।) ॥ ६८ ॥ कर्मभाग तथा कर्मफल व फलसम्बद्ध भाग–इन दो रूपों वाला यह सारा संसार वेदान्त महावाक्यजन्य ज्ञान से केवल प्रत्यगात्मरूप ही प्रतीत होता है। (अतः परेशानी का सवाल ही पैदा नहीं होता ।) ॥ ६९ ॥ परमेश्वरप्रसाद से करने वाला, कराने वाला, प्राप्तव्य, साधन, क्रिया आदि सब केवल आत्मरूप से ही भासता है ॥ ७० ॥ शिव कृपा से ये सब केवल आत्मा रूप से ही प्रतीत होते हैं–प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति (ज्ञान); अधिकारी, आज्ञा, साधन और आज्ञा देने वाला; भोग करने वाला, भोग कराने वाला, भोग करना और भोग के साधन; ग्रहण करने वाला, ग्राह्य विषय और हर विषय का ग्रहण; अन्यथा ज्ञान (गलत ज्ञान), अज्ञान और संशय ज्ञान; घटज्ञान, पटज्ञान, दीवालादि का ज्ञान; घट, दीवाल, अन्नागार, कपड़ा, बर्तन और पहाड़; पाताल आदि अधोलोक और सत्यादि ऊर्ध्वलोक; यह तथा सैकड़ों करोड़ों अन्य स्वीकारे गये ब्रह्माण्ड; समुद्र, तालाब, नदियाँ व सब नद (नर्मदा को छोड़ जो पश्चिम

---

१. घ. पर्वताः ।

मेरुमन्दरपूर्वाश्च पर्वताश्च महत्तराः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८१ ॥
वनानि वनदेशाश्च वन्यानि विविधानि च । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८२ ॥
वृक्षाश्च विविधाः क्षुद्रतृणगुल्मादयोऽपि च । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८३ ॥
आकाशादीनि भूतानि भौतिकान्यखिलान्यपि । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८४ ॥
शब्दस्पर्शादितन्मात्ररूपाणि[1] सकलानि च ॥ सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८५ ॥
कृमिकीटपतङ्गाश्च क्षुद्रा अपि च जन्तवः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८६ ॥
पशवश्च मृगाश्चैव पन्नगाः पापयोनयः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८७ ॥
मनुष्याश्चैव मातङ्गा अश्वा उष्ट्राः खरा अपि । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८८ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वप्रमुखाः सिद्धकिंनराः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ८९ ॥
कर्मदेवाश्च देवाश्च देवराजो विराट्स्वराट् । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९० ॥
अहं च मद्विभूतिश्च मम भक्ताश्च देहिनः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९१ ॥
विष्णुर्विष्णुविभूतिश्च विष्णुभक्ताश्च देहिनः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९२ ॥
रुद्रो रुद्रविभूतिश्च रुद्रभक्ताश्च देहिनः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९३ ॥
ईश्वरस्तद्विभूतिश्च तदीयाः सर्वदेहिनः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९४ ॥
सदाशिवसमाख्यस्तु शिवस्तस्य विभूतयः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९५ ॥
दिशश्च विदिशश्चैव साभ्रं नक्षत्रमण्डलम् । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९६ ॥
वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९७ ॥
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः । तद्भक्ताश्च तथा भान्ति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९८ ॥
आश्रमाश्च तथा वर्णाः संकरा विविधा अपि । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ९९ ॥
निषिद्धं चानिषिद्धं च निषेधा विधयोऽपि च । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ १०० ॥
शरीरमिन्द्रियं प्राणो मनो बुद्धिरहंकृतिः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ १०१ ॥
कामक्रोधादयः सर्वे तथा शान्त्यादयोऽपि च । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ १०२ ॥
जीवात्मा परमात्मा च तयोर्भेदश्च भेदकः । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ १०३ ॥

की ओर बहती हैं वे नदियाँ संस्कृत में नद कहलाती हैं); मेरु, मंदार आदि पर्वत; वन, वन प्रचुर देश तथा वन्य प्राणी; विविध वृक्ष, झाड़ियाँ तथा छोटे घास आदि; आकाशादि महाभूत और सब भौतिक पदार्थ; शब्द, स्पर्श आदि तन्मात्रा रूप सब भूतगण; कृमि, कीट, पतंग तथा अन्य क्षुद्रजंतु; पशु, मृग, साँप व अन्य पापयोनियाँ; मनुष्य, हाथी, घोड़े, ऊँट और गधे; यक्ष, राक्षस, गंधर्व, सिद्ध, किंनर आदि; कर्मदेव, देव, देवराज, विराट्, स्वराट्; मैं (ब्रह्मा), मेरा वैभव और मेरे देहधारी भक्त; विष्णु, उनका वैभव और उनके भक्त; रुद्र, उनका वैभव और भक्त; ईश्वर और उनकी विभूति (वैभव); सदाशिव नामक

१. ङ. च. घ. °न्मात्रारू° ।

जडशक्तिप्रभेदाश्च चिच्छक्तिस्तद्भिदाऽपि च । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ १०४ ॥
अस्तिशब्दोदिता अर्था नास्तिशब्दोदिता अपि । सर्वमात्मतया भाति प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ १०५ ॥
आत्मा नाम सुराः स्वेन भासा यो भाति संततम् । तमेव त्वमहंशब्दप्रत्ययाभ्यां तु जन्तवः ॥ १०६ ॥
व्यवहारे विजानन्ति न जानन्त्येव तेऽर्थतः । अर्थतश्चास्य वेत्तारो न विद्यन्तेऽद्वयत्वतः ॥ १०७ ॥
एवमात्मानमद्वैतमात्मना वेद यः स्थिरम् । सोऽयमर्थमिमं नित्यं गायन्नास्ते स्वभावतः ॥ १०८ ॥
यथा नर्तनमीशस्य स्वभावाल्लोकरक्षकम् । तथा विद्या[1] विनोदाख्या गीतिर्लोकोपकारिणी ॥ १०९ ॥

नन्वेवंविधं सर्वं जगद्विदुषः स्वात्मतया प्रतीयते चेदात्मनः सविशेषत्वापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह–**आत्मा नामेति** । सर्वस्मिन्नारोपितप्रपञ्चस्य भासकं साधनान्तरनिरपेक्षेण स्वयमेव प्रकाशमानं यत्साक्षिचिन्मात्रं स एवाऽऽत्मा । साक्ष्यं तु जगदध्यस्तत्वाच्छुक्तिरूप्यवन्मिथ्याभूतमित्यर्थः । नन्वेवमात्मा स्वयंप्रकाशस्तर्हि विदुषामिवाविदुषामप्यसौ प्रकाशमान एवेत्यचलत एव सर्वे मुच्येरन्नित्यत आह–**तमिति** । स्वप्रकाशमपि तं त्वमहमितिशब्देन तदर्थविषयमनोवृत्त्या चाहंकारवैशिष्ट्येनैव जानन्ति लौकिकाः, परमार्थतो निरस्तसमस्तोपाधिकमद्वितीयं चिन्मात्रस्वरूपं नैव जानन्ति । **अद्वयत्वत** इति । अद्वितीयत्वादेवास्याऽऽत्मनः परमार्थतो वेदितारो नैव विद्यन्ते । वेदनस्य प्रमातृप्रमाणादिभेदसापेक्षत्वात् ॥ १०६ ॥ १०७ ॥

तर्हि विद्वानपि कथं तं वेदेत्यत आह–**एवमिति** । एवमुक्तप्रकारेण श्रवणादिसाधनजनितया निरस्तसमस्तोपाधिकब्रह्मात्मविषय-मनोवृत्त्याऽऽवरणज्ञानापनयने[2] सत्यद्वितीयमात्मानं स्वरूपप्रकाशेनैव विद्वान्साक्षात्करोति[3] । एवं विदुषो यज्ज्ञानं प्रदर्शितं श्रुतौ 'एतत्साम गायन्नास्ते' इत्यादिना 'सुवर्न ज्योतीः' इत्यन्तेन तदन्वयप्रयोजनकथनेनोपपादयति–**सोऽयमित्यादिना** । 'हा३वु हा३वु हा३वु' इत्यादि 'सुवर्न ज्योतीः' इत्यन्तं साम । तस्य चायमर्थः । यदेतावन्तं कालं भोक्तृभोग्यभोगप्रदरूपं जगद्विभक्तमासीत्तत्सर्वमहमेव न मत्तोऽन्यत्किंचिदस्ति । अहो इदं महदाश्चर्यं स्वप्रकाशचिल्लक्षणपरमज्योतीरूपोऽहमेव तत्सर्वमभिभवामीति तत्साम गायन्निममर्थ-मनुसंदधानो विद्वान्विक्षेपहेतोरभावादव्याकुलमास्त इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

एतद् दृष्टान्तेनोपपादयति–**यथेति** ॥ १०९ ॥

शिव और उनकी विभूतियाँ; दिशायें, अवान्तरदिशायें व बादलों समेत नक्षत्रमण्डल; वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध; मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह व वामन, तथा इनके भक्त; (गृहस्थादि) आश्रम, (ब्राह्मणादि) वर्ण तथा विविध संकर जातियाँ; निषिद्ध, अनिषिद्ध, निषेध तथा विधियाँ; शरीर, इंद्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि व अहंकार; काम, क्रोध आदि दुर्गुण व शान्ति आदि सद्गुण; जीवात्मा, परमात्मा, इनका भेद और भेदहेतु; जड शक्ति के सब भेद, चित्-शक्ति और उसके भेद; (किम्बहुना ?) 'है' इस शब्द से कहे जाने वाले और 'नहीं है'–यों कहे जाने वाले सब पदार्थ परमेश्वर की कृपा से आत्मरूप ही प्रतीत होते हैं ॥ ७१–१०५ ॥ आत्मा उसका नाम है जो सदा अपने स्वरूपभूत ज्ञानात्मक प्रकाश से भासता रहता है । व्यवहार में 'तू, मैं' आदि शब्दों से व इन ज्ञानों से हम जिसे समझते हैं वह आत्मा ही है लेकिन उसे ठीक से समझे विना ही हम उसका शब्दात्मक और ज्ञानात्मक व्यवहार करते हैं । क्योंकि आत्मा अद्वितीय है इसलिये वस्तुतः सही तरह उसे जानने वाले कोई नहीं हैं । (जहाँ तक आत्मा को जानना है वहाँ तक व्यवहार ही है, वास्तविकता नहीं । वास्तव में किसी को जानना तभी हो सकता है जब ज्ञेय से ज्ञाता भिन्न हो । ऐसी वास्तविक स्थिति कहीं होनी नहीं अतः परमार्थतः आत्मा का जानकार होना असंभव है । ब्रह्मज्ञानी आदि सब व्यवहार भूमि में ही हैं । परमार्थ में तो 'ब्रह्मैव, न ब्रह्मवित्' (मनी.श्ला. ५) । ॥ १०६–१०७ ॥ जो व्यक्ति उक्त विधि से अद्वैत शिव को आत्मरूप से निश्चित समझ लेता है वह स्वभाववश इस अद्वैत रहस्य का ही गान करते हुए सदा रहता है ॥ १०८ ॥ जैसे महादेव का आनंदताण्डव लोकरक्षा का हेतु है वैसे ज्ञानप्रयुक्त आनन्द प्रकट करने वाला यह गान भी सबका उपकार करता है । (ज्ञान में श्रद्धा कराकर उपकार करता है) ॥ १०९ ॥

---

१. विद्याविनोदाख्येति समासेन भाव्यम् । २. आवरणाज्ञानेति पठनीयम् । ३. अज्ञाननिवृत्तिरेव जानात्यर्थः ततोतिरिक्तस्य कल्पने गौरवात्तस्य चावश्यमुपेयत्वात् । तथा च ब्रह्म वेदेत्यस्यापि निवृत्तब्रह्माज्ञान- इत्येवार्थस्ततश्च सर्वं शिवम् ।

यथैवाऽऽदिगुरोर्गीतिर्लोकानां हितकारिणी । तथैवास्य गुरोर्गीतिर्लोकानां हितकाम्यया ॥ ११० ॥
आप्तकामस्य रुद्रस्य गीतिर्व्याख्यानलक्षणा । परोपकारिणी तद्वद्गीतिरस्यापि सद्गुरोः ॥ १११ ॥
लौकिकेष्वपि गानेषु प्रसादं कुरुते शिवः । किं पुनर्वैदिके गाने ततो गानं समाश्रयेत् ॥ ११२ ॥
व्याख्यागानेष्वशक्तस्तु शिवमुद्दिश्य भक्तितः । लौकिकीमपि वा गीतिं कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥ ११३ ॥
गीतिज्ञानं शिवप्राप्तेः सुतरां कारणं भवेत् । गीतिज्ञानेन योगः स्यात्तस्मादेव शिवैक्यता ॥ ११४ ॥
गीतिज्ञो यदि योगेन न याति परमेश्वरम् । प्रतिबन्धकबाहुल्यात्तस्यैवानुचरो भवेत् ॥ ११५ ॥
केवलं लौकिकं गानं न कुर्यान्मोहतोऽपि वा । यदि कुर्यात्प्रमादेन प्रायश्चित्ती भवेद् द्विजः ॥ ११६ ॥
अतस्तु संसारविनाशने रतः श्रुतिप्रमाणेन च तर्कवर्त्मना ।
प्रबोधमासाद्य शिवस्य तं पुनः सदैव गायन्विचरेदिमां महीम् ॥ ११७ ॥
इत्युपनिषत्परतत्त्वविषया वः सत्यमुदिता सकलदुःखनिहन्त्री ।
कष्टहृदयस्य मनुजस्य न देया भक्तिसहितस्य तु शिवस्य खलु देया ॥ ११८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु साक्षिशिवस्वरूपकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

परमेश्वरनर्तनवद्विद्वद्विज्ञानमपि लोकरक्षाहेतुरित्युपपाद्य परतत्त्वप्रतिपत्त्युपायतामपि तस्य दृष्टान्तेनोपपादयति–यथैवेति । आदिगुरोः परमेश्वरस्य । कर्तरि षष्ठी । तत्कर्तृका गीतिः । परतत्त्वव्याख्यानरूपा येश्वरगीतेति कूर्मपुराणे प्रसिद्धा सा यथा परतत्त्वोपदेशेन गीतिर्लोकोपकारिण्येवमस्य विदुषो गीतिरपि परतत्त्वप्रतिपादनेन जगदनुग्राहकेत्यर्थः ॥ ११० ॥ १११ ॥

नन्वयमुपदेशो वाक्यान्तरादपि प्रसिद्ध इति विदुषो गानमयुक्तमित्यत आह–लौकिकेष्विति ॥ ११२ ॥

व्याख्यागानेष्विति । संस्कृतशब्दरूपं गद्यपद्यात्मकं व्याख्यागानम् । तत्तद्देशीयभाषया परमेश्वरविषया गीतिर्लौकिकी ॥ ११३ ॥ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

श्रुतीत्युपनिषदिति ॥ ११७ ॥

यदिदं ब्रह्मविद्यानिगमनं तत्संगृह्णाति–इतीति । अनेन यथोक्तप्रकारेण परतत्त्वविषयोपनिषदुपदिष्टा । उपनिषन्नाम ब्रह्मविद्या । प्रत्यगात्मानं निरस्तसमस्तोपाधिकं ब्रह्मोपनीय भेदभ्रमहेतुभूतमविद्यातत्कार्यं निवर्तयतीति तच्छब्दव्युत्पत्तेः । उक्तं ह्याचार्यैः–'उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं स्वतः । निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषन्मता' इति ॥ ११८ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु साक्षिशिवस्वरूपकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

जैसे आदिगुरु शिव द्वारा गाया उपदेश सब लोगों का हित करता है वैसे ही ब्रह्मभूत आचार्य का उपदेशरूप गान सबका हित करता है ॥ ११० ॥ जैसे पूर्णकाम रुद्र द्वारा किया गान परतत्त्व का व्याख्यान है वैसे इस ब्रह्मज्ञ सद्गुरु का गान भी उसी की व्याख्या होती है ॥ १११ ॥ शिव तो लौकिक गानों से भी प्रसन्न हो जाते हैं तो वैदिक गान से उनकी प्रसन्नता निःसंदिग्ध है। अतः गान करना चाहिये। (अद्वैततत्त्वप्रतिपादक वैदिक वाक्यों का गायन करना चाहिये।) ॥ ११२ ॥ यदि तत्त्वव्याख्यानात्मक संस्कृत गीतों को गाने की सामर्थ्य न हो तो परमेश्वर विषयक लौकिक गीतों को ही गाना चाहिये ॥ ११३ ॥ गायनविद्या अवश्य शिवप्राप्ति का साधन है क्योंकि गायन जानने से योग का अभ्यास किया जा सकता है और योग से शिवप्राप्ति होती ही है ॥ ११४ ॥ गायनवेत्ता यदि बहुत प्रतिबंधक होने से परमेश्वरप्राप्ति नहीं कर पाता तो उनका अनुचर तो बन ही जाता है ॥ ११५ ॥ किंतु केवल संसार सम्बन्धी गीत नहीं गाने चाहिये। भूल से भी सांसारिक गीत गाने पर प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ११६ ॥ अतः जो अपना संसरणचक्र समाप्त करना चाहे उसे उपनिषत् के श्रवण और युक्तिपूर्वक तदर्थ के मनन से शिव का ज्ञान पाकर उसी का सदा गान करते हुए पृथ्वी पर घूमना चाहिये ॥ ११७ ॥ सब दुःखों की समाप्ति का उपाय परतत्त्वविषयक यह उपनिषत् आप लोगों को सुना दी है। पापी हृदय वाले को इसका उपदेश अदेय है। शिवभक्त को ही यह देय है ॥ ११८ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच—अस्ति देवः स्वतः सिद्धः साक्षी सर्वस्य सर्वदा । संसारार्णवमग्नानां साक्षात्संसारमोचकः ॥ १ ॥

सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु । विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि ॥ २ ॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं शब्दं शृणोत्यपि । अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥ ३ ॥

स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम् । प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया[1] न स्वभावतः ॥ ४ ॥

एवमैतरेयकतै(वत्तै)त्तिरीयकस्याप्यैदंपर्यं प्रतिपादितम् । अथ सामवेदोपनिषदो ब्रह्मात्मैकत्वपरत्वं वक्तुमारभमाणस्तावज्जैमिनिसामशाखोपनिषदर्थं संगृह्णाति चतुर्थेनाध्यायेन । यथोदीरितं ब्रह्मात्मत्वमुपदेशगम्यमेव न तु तर्कगम्यमित्यमुमर्थं द्योतयितुं श्रुत्या प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां ब्रह्मोपदिश्यते । 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति' इति प्रश्नः, 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः' इति प्रतिवचनं; तदेतदुभयमर्थतः संगृह्णाति—**अस्ति देव** इत्यादिना । **स्वतः सिद्ध** इति सार्वकालिकं पारमार्थिकं[2] सत्यत्वं विवक्षितम् । **साक्षीति** स्वपरव्यवहारहेतुभूतचित्प्रकाशरूपत्वं साक्ष्यप्रपञ्चानन्तर्भावेन कूटस्थनित्यत्वं च ॥ १ ॥ **सर्वेषामिति** । **तेन** सर्वसाक्षिणा स्वतन्त्रेण परमेश्वरेण सर्वप्राणिहृदये मन्तव्ये मनः प्रवर्तते । न च देहेन्द्रियादिसंघात एव तत्प्रेरक इति वाच्यम् । तस्य प्रसिद्धत्वेनोपदेशवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अतस्तदतिरिक्तेन चिन्मात्रज्योतिषा केनचित्प्रेरितमेव मनः स्वविषयं प्रत्याययतीति युक्तमभ्युपगन्तुम् । प्राणापानादिपञ्चवृत्त्यात्मको मुख्यप्राणश्च तेन प्रेरित एव प्राणनादिचेष्टां करोति । तथा सर्वशब्दव्यवहारहेतुभूतं वागिन्द्रियमपि चिन्मात्रस्वरूपेणैतेन प्रेरितमेवाभिवदनरूपं स्वकार्यं करोति । चक्षुःश्रोत्रयोरप्येवं योज्यम् ॥ २ ॥ **अन्यानीति** । उक्तव्यतिरिक्तानि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि चेत्यर्थः । नन्वसङ्गोदासीनस्य कूटस्थनित्यस्य निस्तरङ्गसमुद्रकल्पस्य चिन्मात्रस्वरूपस्याऽऽत्मनः कथमीदृग्विधं प्रेरकत्वं संभवतीत्यत आह—**प्रवर्तकत्वमिति** । **माययेति** । मलिन-सत्त्वप्रधानमायापरिणामरूपदेहेन्द्रियाद्युपाधि- संपर्कवशेनेत्यर्थः । ॥ ३–४ ॥

तलवकारोपनिषत् के व्याख्यान का कथन नामक चौथा अध्याय

(केनोपनिषत् का विचार प्रस्तुत करते हुए) ब्रह्मा जी बोले—सदा सबके साक्षी महादेव हैं जो संसार सागर में डूबते लोगों को अपरोक्ष रूप से उपलब्ध हुए सबको उबार देते हैं ॥ १ ॥ सभी का मन उन महादेव से ही प्रेरित हुआ नियमतः अपना कार्य करता है । प्राण और वाणी भी उनसे ही प्रवृत्त हुए अपने काम करते हैं ॥ २ ॥ उनकी प्रेरणा से ही चक्षु रूप देखती है, श्रोत्र शब्द सुनता है । अन्य सब इंद्रियाँ भी उनसे प्रेरित होकर ही अपना-अपना कार्य करती हैं । वे जो इंद्रियादि को प्रवृत्त-प्रेरित करते हैं वह भी माया से ही है, स्वरूपतः नहीं (जीवरूप से प्रविष्ट महादेव को जब इंद्रियधर्मों का अपने पर अध्यास होता है तभी इंद्रिय में कार्यकारिता आती है । वस्तुतः औपनिषद दर्शन में उपलब्धि (या क्रिया) के साधन को इंद्रिय कहते हैं 'यदेव ह्युपलब्धिसाधनं, वृत्तिरन्यद्वा. तस्यैव नः करणत्वम् (२.४.७) यह सूत्रभाष्य में कहा है । साधन कर्तृप्रेरित ही हुआ करता है । 'अमुक साधन वाला मैं हूँ' यह अभिमान ही कर्तृत्वप्रयोजक है । अतः अहंकारोपाधि महादेव ही करणों के प्रेरक हैं । आचार्य ने केनपदभाष्य में स्पष्ट किया है कि यहाँ प्रतिपिपादयिषित अर्थ यह है कि मन आदि की चेष्टायें किसी असंहत के लिए हैं यह इनकी प्रतिनियत व आपस में तालमेल वाली चेष्टाओं से ही सिद्ध होता है । वह असंहत ही महादेव है और वस्तुतः सत्तामात्र से ही वह प्रेरक भी है । वाक्यभाष्य में सदृष्टान्त इसे स्पष्ट किया गया है । राजा अपने भोजन के पहले चकोर को खिलाता है । भोजन में विष आदि होने पर चकोर की आँख लाल हो जाती है तो राजा भोजन नहीं खाता । यदि लाल न हुई तो पता

---

१ इतरेतराध्यासो मायाकार्यत्वान्माया । २ ञ. °र्थिकस° ।

इन्द्रियाणां तु सत्ता च नैव स्वाभाविकी मता । तप्तायःपिण्डवत्तस्य सत्तयैव सुरर्षभाः ॥ ५ ॥

श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं देवो महेश्वरः । अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां हरः ॥ ६ ॥

मन आत्मनि चाध्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः । मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु ॥ ७ ॥

वाचो वाक्त्वमनुप्राप्य प्राणस्य प्राणतां हरः । ददाति नियमेनैव चक्षुष्ट्वं चक्षुषस्तथा ॥ ८ ॥

ननु प्रेरक आत्माऽन्यस्ततोऽन्यत्प्रेर्यं मनआदिकमिति द्वैतापत्तिर्जयितेत्येत आह–**इन्द्रियाणामिति** । मनःप्रभृतीनामिन्द्रियाणां **स्वरूपे** तस्मिन्नध्यस्तत्वात्तप्तायःपिण्डन्यायेनाधिष्ठानसत्त्वमेवाऽऽरोपितेषु मनःप्रभृतिषु धर्मत्वेन प्रतिभाति । न च तेषां स्वाभाविकं **सत्त्वमस्तीत्यर्थः** ॥ ५ ॥ एवं मनआदिकं यस्येच्छामात्रात्स्वस्वव्यापारे प्रेर्यते स किंरूप इति प्रश्नोऽनुक्तोऽप्यर्थादवगन्तव्यः । अस्य **चोत्तरमाह–श्रोत्रमिति** । श्रोत्रं तावदितरप्रपञ्चवद् दृश्यत्वात्सर्वाधिष्ठानभूते सच्चिन्मात्र आत्मन्यध्यस्तमित्यविवादम् । तच्च **श्रूयतेऽनेनेति** व्युत्पत्त्या श्रवणसाधनमिन्द्रियम् अधिष्ठानत्वेन तदनुप्रविश्य स्वप्रकाशचिद्रूपः परशिवस्तस्य श्रोत्रस्य श्रोत्रत्वं श्रवणसाधनसामर्थ्यं प्रयच्छति । सर्वान्तरस्वप्रकाशात्मचैतन्यज्योतिःसमवधानेन हि तत्सर्वविषयशब्दाभिव्यञ्जनसमर्थं भवति । अतः श्रोत्रस्यापि श्रवणसामर्थ्यप्रदानात्तथाविधं सर्वान्तरचैतन्यं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति श्रुत्या निर्दिश्यते । एवं **मन आत्मनीत्यादावपि** योज्यम् ॥ ६ ॥ **सत्त्वस्थ** इति । कार्येऽन्तःकरणेऽनुगतं यत्कारणभूतं सत्त्वं तस्य चैतन्यप्रकाशाभिव्यञ्जनसामर्थ्यत्तेनावच्छिन्न इत्यर्थः । मननसामर्थ्ययुक्तं हि मनस्तच्च सामर्थ्यमुदीरितरीत्या तस्य चैतन्येनाऽऽधीयत इति तन्मनसो मन इत्युपदिश्यते ॥ ७ ॥ **वाचो वाक्त्वमिति** । स्वात्मन्यध्यस्तं वागिन्द्रियमनुप्राप्य तस्य स्वस्य समवधानेनाभिवदनसामर्थ्यरूपं वाक्त्वं प्रयच्छतीत्यर्थः । तथा स्वात्मन्यध्यस्तस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्यापि प्राणनादिक्रियासामर्थ्यरूपं प्राणत्वं प्रयच्छति । अत एवान्यत्राऽऽम्नायते–'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते' इति । **चक्षुष्ट्वं चक्षुषस्तथेति** । यथा श्रोत्रस्य श्रोत्रत्वं तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

चल जाता है कि भोजन विषादिरहित है । तब राजा भोजन करता है । राजा की भोजनप्रवृत्ति में चकोर अपनी स्थिति मात्र से निमित्त बनता है । वह 'खाइये' या 'न खाइये' आदि कुछ कहता नहीं । कोई चेष्टा भी नहीं करता । राजा को बताने के लिए खाता भी नहीं । इसी प्रकार आत्मा रहने मात्र से मन आदि का प्रेरक हो जाता है । आत्मा की इच्छामात्र से मन आदि प्रेरित होते हैं–यह कहने का अर्थ है कि मन आदि की प्रवृत्ति के लिए आत्मा कोई प्रयत्न नहीं करता । आत्मा इच्छा करता है यह तात्पर्य नहीं । वहीं टीकाकार ने कहा है, 'इच्छामात्रेणेति प्रयत्नाद्यभावो लक्ष्यते न त्विच्छास्तित्वं, निर्विकारताया विवक्षितत्वात् ।' वाक्यभाष्य में ही आत्मानुगत इंद्रियाँ स्वकार्यक्षम बनती हैं यह भी व्यक्त कर दिया है । शब्द का प्रकाश करना ही श्रोत्र होना है । जड इंद्रिय प्रकाश कर नहीं सकती । अतः आत्मानुगम से ही श्रोत्र का स्वरूपलाभ संभव है । टीका में यों कहा है 'अत्र लब्धतादात्म्येनैव श्रोत्रस्यावभासकत्वं न स्वातन्त्र्येण जडत्वात्' (केन वाक्य. पृ. ३८ म.अ.सं.) । यही सारी बात पुराण के 'मायया' शब्द से सूच्य है ।) ॥ ३–४ ॥ इन्द्रियों की अपनी कोई सत्ता है नहीं । वे तो शिव की सत्ता से ही सत्तान्वित हैं जैसे तपा लोहा आग की गर्मी से ही गर्म होता है ॥ ५ ॥ श्रोत्र आत्मा पर कल्पित है । स्वयं प्रकाशरूप महेश्वर उसमें अनुप्रवेश कर उसे शब्दप्रकाशकतारूप श्रोत्रता प्रदान करते हैं ॥ ६ ॥ मन आत्मा पर कल्पित है । उसमें अनुप्रविष्ट हो परमेश्वर ही उसका मनस्त्व संभव करते हैं । (अनुप्रवेश पूर्वोक्त भाष्यादि के अनुसार स्पष्ट है ।) ॥ ७ ॥ अनुप्रवेश द्वारा ही वाणी को वाणीरूपता, प्राण को प्राणरूपता तथा चक्षु को चक्षुरूपता महादेव ही देते हैं ॥ ८ ॥ ऐसे ही अन्य इंद्रियों को भी तत्तद्रूपता

अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः । तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु ॥ ९ ॥

तत्र चक्षुश्च वाक्चैव मनश्चान्यानि खानि च । न गच्छन्ति स्वयंज्योतिःस्वभावे परमात्मनि ॥ १० ॥

स देवो विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि । वाचा च मनसा चैव चक्षुषा च तथैव च ॥ ११ ॥

श्रोत्रेणापि सुरश्रेष्ठाः प्राणेनान्येन केनचित् । न शक्यो गोचरीकर्तुं सत्यमेव मयोदितम् ॥ १२ ॥

यस्येदमखिलं नित्यं गोचरं रूपवद्रवेः । तदेव परमं ब्रह्म वित्त यूयं सनातनम् ॥ १३ ॥

श्रोत्राद्याम्नातस्योपलक्षणार्थत्वादनाम्नातेन्द्रियसंग्रहायाऽऽह–**अन्येषामिति** । एवं श्रोत्रादिपरिकल्पनास्पदं कल्पितानां च तेषां श्रवणादिसामर्थ्यप्रदं सर्वान्तरं चिदेकरसं ब्रह्मेत्युपदिष्टं भवति ॥ ९ ॥ नन्वीदृशं वस्तु घटादिवद्विविक्ततया स्पष्टं कस्मान्नानुभूयत इतीमामाशङ्कां निरसितुमाम्नायते–'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः' इति । तत्संगृह्णाति–**तत्रेति** । **वाक्चेति** । शब्दाभिव्यञ्जकमिन्द्रियं तदभिव्यङ्ग्यः शब्दश्चोभयमत्र वाक्शब्देन विवक्षितम् । तस्मादेतानि चक्षुरादीनि ब्रह्मणि माययाऽध्यस्तत्वात्तदात्मकानि । अतः स्वात्मभूते ब्रह्मणि कथं तेषां प्रवृत्तिः, विषयविषयिभावस्य भेदसापेक्षत्वात् । तदविषयत्वसमर्थनायाऽऽह–**स्वयंज्योतिरिति** । स्वप्रकाशचिद्रूपस्य सर्वान्तरस्य चक्षुरादिकरणं प्रति साक्षिणस्तद्विषयत्वानुपपत्तिरित्यभिप्रायः ॥ १० ॥ एवं चक्षुरादिसर्वप्रमाणाविषयं परशिवस्वरूपमागमोऽपि कथं प्रत्याययेदित्याशङ्क्य विदिताविदितव्यतिरेकावच्छिन्नं तत्प्रतिपादयितुं शक्यमित्यभिप्रेत्याऽऽम्नायते–'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इति । तत्संगृह्णाति–**स देव इति** । 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिना निर्दिष्टश्रवणादिसामर्थ्यप्रदो यः सर्वान्तरः स्वप्रकाशः साक्षी चिद्रूप आत्मा **स विदिताद्विदिक्रियाफलव्याप्ताद्विषयादन्यो** विलक्षणः । तथाऽविदितादज्ञायमानाद**पि** विलक्षणः स्वयंप्रकाशमानत्वात् । एवं विदिताविदिताभ्यामन्यत्वेनाऽऽगमप्रमाणात्प्रतिपत्तुं शक्यते इत्यर्थः । एवमात्मन्युपदिष्टेऽपि ततोऽन्यदेव किंचिदुपासनीयं ब्रह्मेतिशिष्यशङ्कानिरासार्थमाम्नायते–'यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदि दमुपासते । यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति । तत्संगृह्णाति–**वाचा चेति** । यद्वागादिभिरिन्द्रियैर्विषयीकर्तुमशक्यं विदिताविदिताभ्यामन्यत्वेन निर्दिष्टं स्वप्रकाशसाक्षिचिद्रूपं **यस्य** च सर्वान्तरस्याऽऽत्मनश्चित्प्रकाशेन वाङ्मनसाद्यखिलं जगत्सूर्यप्रकाशेन रूपमिव प्रकाश्यते स्वव्यापारे प्रेर्यते च **तदेव** च सर्वान्तरं **ब्रह्म वित्त** जानीत नैतस्मादन्यदिदंकारास्पदमित्येतत्कारार्थः ॥ ११–१३ ॥

देने वाले महेश्वर ही हैं ॥ ८ ॥ चक्षु, वाणी, मन व अन्य इंद्रियाँ उस स्वयंज्योतिस्वभाव परमात्मा को विषय नहीं कर सकती । (जैसे चंद्र कभी सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता क्योंकि उसी के प्रकाश से प्रकाशमान है ऐसे आत्मा से प्राप्तस्वरूप इंद्रियाँ आत्मा को विषय नहीं कर सकतीं ।) ॥ १० ॥ वह महादेव ज्ञेय व अज्ञायमान से भिन्न है । (विषयतया अज्ञेय होने से वह ज्ञेय से भिन्न है तथा सदा स्वयंप्रकाश होने से अज्ञायमान से भिन्न है ।) वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र, प्राण (घ्राण) तथा अन्य भी किसी के द्वारा वह विषय नहीं किया जा सकता ॥ ११–१२ ॥ जैसे रूप सूर्य का विषय बनता है, ऐसे यह सब कुछ जिसका नित्य ही विषय बना रहता है वह सनातन परम ब्रह्म है, यह आप लोग जान लीजिये । ('नित्य' का अर्थ है स्वसत्ताकाल में अर्थात् यह सब जब तक रहता है तब तक उसका विषय बना रहता है ।) ॥ १३ ॥ जो बुद्धिमान् लोग तर्क व प्रमाण से

एवं जानन्ति ये धीरास्तर्कतश्च प्रमाणतः । गुरूक्त्या स्वानुभूत्या च भवन्ति खलु तेऽमृताः ॥ १४ ॥

सुज्ञातमिति तद् ब्रह्म मनुध्वं यदि हे सुराः । दभ्रमेव हि तत्साक्षि ब्रह्म वेद्यं कथं भवेत् ॥ १५ ॥

यस्य स्वात्मतया ब्रह्म विदितं कर्मतां विना । तस्य [1]तज्ज्ञानकर्तृत्वविहीनस्य मतं हि तत् ॥ १६ ॥

एवमिन्द्रियादिविविक्तस्य तत्साक्षिणः प्रत्यगात्मनो यद् ब्रह्मरूपत्वज्ञानमुपदिष्टं तस्य फलमाम्नायते–'अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' इति । तदर्थं ब्रूते–**एवमिति** । **धीरा** धीमन्तो विद्वांसः । **एवमुक्तप्रकारेण** देहेन्द्रियादिकमात्मनो विविच्य ततो विविक्तमद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वं प्रमाणतर्काभ्यां गुरुमुखादधिगम्य मननिदिध्यासनजनितनिर्विचिकित्ससाक्षात्कारलक्षणेन स्वानुभवेन ये **जानन्ति** तेऽमृतत्वलक्षणां मुक्तिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥ इत्थं स्वात्मतयोपदिष्टस्य ब्रह्मणोऽवगतिसमये शिष्यस्याहं मां ब्रह्म जानामीति कर्मकर्तृभावलक्षणभेदावभासस्यावस्तुविषयत्वं प्रतिपादयितुं तथाविधभेदविनिर्मुक्तमखण्डैकरसं ब्रह्मात्मतत्त्वं स्वरूपप्रकाशेनैव ज्ञापयितुं च गुरुशिष्यकृतोक्तिप्रत्युक्तिरूपेण श्रुतिः प्रवदते–'यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम् । त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्' इति गुरुवाक्यम् । 'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च' इति तत्प्रतिवचनरूपं शिष्यवाक्यम् । तदेतद् वाक्यद्वयाभिप्रेतमर्थं संगृह्य ब्रह्मा देवान्प्रत्युपदिशति–**सुज्ञातमिति** । हे देवा यूयं तत्स्वात्मभूतं ब्रह्म **सुज्ञातं** सुष्ठ्वस्माभिर्बुद्धिवृत्त्या विषयीकृतमिति **यदि** जानीथ तदाऽवच्छिन्नस्वभावं **तद्ब्रह्म** बुद्धिवृत्तिपरिच्छेदाद**भ्रमल्पमेव भवेत्** । तथा च वस्तुगोचरमेतज्ज्ञानं स्यादित्यर्थः । तथाविधबुद्धिवृत्तेः साक्षित्वेन भासकं तद् ब्रह्म कथं तत्प्रकाश्यं भवेत् । अतः स्वप्रकाशसाक्षिरूपस्य ब्रह्मणो वेद्यत्वासंभवाद् बुद्धिवृत्तिवेद्यं सोपाधिकमेव रूपं, न तु निरुपाधिकमिति वेद्यस्य दभ्रत्वम् ॥ १५ ॥ **यस्य** खलु तद् ब्रह्म विदिक्रियाजन्यफलभागित्वमन्तरेणैव स्वात्मतया प्रत्यक्साक्षिरूपेण विदितं स्वरूपप्रकाशेनैव भातं भवति स च प्रकाशो नित्य इति तं प्रति कर्तृत्वमपि नास्ति तस्य विदुषस्तदनवच्छिन्नं निरस्तसमस्तोपाधिकं ब्रह्म ज्ञातं भवति ॥ १६ ॥

गुरुवचनानुसार उक्त प्रकार से संघातातिरिक्त प्रत्यग्रूप महादेव को समझ लेते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ १४ ॥ हे देवताओ ! यदि आप मानें कि आपने ब्रह्म को जान लिया तब तो आपका तात्पर्य होगा कि ब्रह्म परिच्छिन्न हो गया (क्योंकि सम्यक् परिच्छित्ति ही वित्ति है) । ब्रह्म तो साक्षी है, वह साक्ष्य, वेद्य, क्योंकर हो सकेगा ? ॥ १५ ॥ जिसने विषयरूप से नहीं, स्वरूप से ब्रह्म समझा है वह यह नहीं समझ सकता कि मैं ब्रह्म का जानकार हूँ । ऐसे ही व्यक्ति को ब्रह्म ज्ञात है । ('मैं जानकार हूँ' यह तो वृत्तितादात्म्येन ही कह सकते हैं । वृत्तितादात्म्य-वाला मैं नहीं यह ब्रह्म ज्ञान है । अतः ज्ञानी यह अनुभव कैसे करे कि मैं जानकार हूँ ? जैसे 'मैं संन्यासी पत्नी वाला हूँ' यह वदतोव्याघात है वैसे ही 'ब्रह्मरूप मैं जानकार हूँ' यह भी है । इसी तरह ब्रह्म विषय नहीं–यह जिसे मालूम पड़ा है वह कहे 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' अर्थात् 'ब्रह्म मेरे ज्ञान का विषय है' यह भी विरुद्ध है । जैसे 'आकाश का रंग नहीं' यह जानकर 'मुझे आकश का रंग पता चल गया' यह नहीं कहा जा सकता वैसे ही यहाँ समझना चाहिये । शंका होती है कि यदि ऐसा है तो 'अहं मनुरभवम्', 'प्राप्तवानस्मि नित्यम्' आदि श्रुतिवाद कैसे ? उत्तर है कि हमें परमरहस्य समझाने के लिए विद्वानों ने यों कहा है जबकि वे स्वयं उस कथन के विरोध को समझ रहे हैं अत एव प्रकृत आदि स्थलान्तरों में अकथनीयता को स्पष्ट भी कर रहे हैं । जैसे आनंदगिरि स्वामी ने न्यायरत्नदीपावली की टीका में विचार किया है–परमात्मा को अविषय कहने से परमात्मा के बारे में कुछ पता चलता है या नहीं ? यदि चलता है तब

---

१. घ. तद्धान॰ ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मज्ञाने घटज्ञाने भ्रान्तिज्ञानेऽपि चाऽऽस्तिकाः । नैव कर्तृ न कर्मापि ब्रह्म चित्केवलं भवेत् ॥ १८ ॥

यस्य कर्तृतया भातं ब्रह्माकर्तृ सुरोत्तमाः । तस्य ब्रह्मामतं यस्मात्कर्तृ तस्य मतं हि तत् ॥ १९ ॥

शिष्याचार्यसंवादेन निर्णीतमर्थं श्रुतिरवधारयति–'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इति, तां संगृह्णाति–**यस्येति** । **यस्य** साधकस्य तत्वात्मभूतं ब्रह्म**अमतं** मनोवृत्त्याऽविषयीकृतं विषयतयाऽज्ञातमित्यर्थः, वृत्तिव्याप्तेः क्वचिदिष्टत्वात्–यदा तु 'लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् । यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद् गतक्षयम् । एतज्ज्ञानम्' इत्यादि श्रुतेः (मैत्रा. ६.३४) 'अजेनाजं विबुद्ध्यत' इति च स्मृतेः (माण्डूक्य का . ३.३३) वृत्तिव्याप्तिरप्यनपेक्षिता तदा यथाश्रुतमेव – केवलस्वरूपप्रकाशेनैव प्रकाशितं, **तस्य** तद् ब्रह्म **मतं** ज्ञातं भवति । यस्य तु तद् ब्रह्म मतं मनसा विषयीकृतं, नासौ तज्जानाति । तस्मात्तद् ब्रह्म वयं जानीम इतिबुद्धिवृत्तिविशिष्टरूपेण जानतामनवगतमेव भवति । बुद्धिवृत्त्यवैशिष्ट्येन जानतां तु स्वरूपप्रकाशेनैव तज्ज्ञातं भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ ननु यस्य खल्वमतं कथं तस्य तन्मतं स्यात्परस्परविरुद्धत्वादित्याशङ्क्य मतशब्दस्योदीरितार्थप्रतिपादनं समर्थयितुमाम्नायते 'प्रतिबोधविदितं मतमि'ति । बुद्धिवृत्तयो बोधाः सर्वास्वपि वृत्तिषु तद्भासकसाक्षिरूपेणावस्थितमनुगतं स्वप्रकाशचैतन्यं प्रकाशाव्यभिचारान्मतमित्युच्यत इति श्रुतेरित्यर्थमर्थतः[1] संगृह्णाति–**ब्रह्मेति** । यदेतच्छ्रवणमननादिसाधनजनितनिरस्तसमस्तोपाधिकपरमार्थसद्ब्रह्मविषयं ज्ञानं, यच्च व्यावहारिकसत्यघटादिविषयं चक्षुरादीन्द्रिसंप्रयोगजनितं ज्ञानं, यच्च प्रातीतिकसत्यशुक्तिरूप्यादिविषयं भ्रान्तिज्ञानं, तेषु सर्वेषु वृत्तिज्ञानेषु निरुपाधिकं स्वात्मभूतं चिदेकरसं ब्रह्माविक्रियत्वात्कर्त्रपि न भवति नापि कर्म, किंतु तस्य सर्वस्य साक्षित्वेन भासकं स्वप्रकाशज्ञानमेव केवलं भवेदित्यर्थः ॥ १८–१९ ॥

तो वह अविषय कहने का विषय हो गया–एवं च विरोध है । यदि नहीं चलता तो परमात्मा को अविषय कहना व्यर्थ है, फलतः उसकी विषयता का निषेध नहीं कर सकते । इस उभयतःपाशा की काट यों की है–स्वाध्यायविधि जैसे अन्य वाक्यों का अध्ययन विहित करती है वैसे अपना अध्ययन भी विहित कर लेती है यह मीमांसा में स्वीकृत है । इसी तरह अविषय कहना जैसे अन्यों की अविषयता बतता है वैसे अपनी भी अविषयता बता देता है । फलतः अविषय कहने की विषयता आये बिना अविषय कहना सार्थक हो गया । इसी तरह श्रुतिस्मृतिवादों द्वारा विरोध की भाषा में कहकर अविरुद्ध को ही समझाया है । समस्त व्यवहार असत्य होने से सत्य बोध का उपाय तो असत्य ही हो सकता है ऐसा हरि आदि ने कहा ही है ।) ॥ १६ ॥ जिस साधक ने ब्रह्म को विषयरूप से नहीं समझा है, केवल स्वप्रकाश से ही वह भास गया है, उसे ब्रह्म का सही ज्ञान है । जिसने ब्रह्म को विषय रूप से ही समझा है, वह उसे नहीं जानता । अपने विषय में जानकारी रखने वालों को ब्रह्म अज्ञात ही रहता है । जिन्हें वह ज्ञात होता है वे उसके विषय में जानकारी नहीं रखते ! ॥ १७ ॥ ब्रह्मज्ञान, घटज्ञान व भ्रांतिज्ञान–किसी में भी ब्रह्म ज्ञान का कर्ता या कर्म, आश्रय या विषय नहीं बनता । वह तो केवल चिन्मात्र–ज्ञानमात्र–रहता है ॥ १८ ॥ अकर्ता ब्रह्म जिसे कर्तारूप

---

१. श्रुतिपदशिरसीतिकारो नेष्टः ।

यस्य कर्मतया भातं ब्रह्माकर्म सुरोत्तमाः । तस्य ब्रह्ममतं यस्मात्कर्म तस्य मतं हि तत् ॥ २० ॥

अकर्त्रविषयप्रत्यक्प्रकाशः स्वात्मनैव तु । विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः ॥ २१ ॥

एवंरूपपरिज्ञानमपि दृश्यतयैव तु । यस्य भाति स तत्साक्षी ब्रूत ब्रह्मात्मवित्कथम् ॥ २२ ॥

ब्रह्मविद्याऽपि ज्ञाता चेद्वेद्या भवति कुम्भवत् । अवेद्यं ब्रह्म वेद्यं स्याद्वेद्यविद्याभिसंगमात् ॥ २३ ॥

वेत्ताऽपि विद्यासंबन्धात्सविशेषो भवेद् ध्रुवम् । निर्विशेषं परं ब्रह्म ततो विद्वान्न चाऽऽत्मवित् ॥ २४ ॥

विद्याया आश्रयत्वेन विषयत्वेन वा भवेत् । ब्रह्म नैवान्यथा तत्र ब्रह्म ब्रह्म भवेत्कथम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मसंबन्धहीना चेद्विद्या ब्रह्म तु वेदितुम् । अशक्यं तत्र हे देवाः को वा ब्रह्मात्मविद्भवेत् ॥ २६ ॥

॥ २०–२५ ॥ एतदेव ब्रह्मणः कर्तृकर्मभावराहित्यमुपपादयति–**ब्रह्मसंबन्धेति** । न तावदविक्रियस्यासङ्गस्य ब्रह्मणो विद्यां प्रत्याश्रयत्वं विषयत्वं वा संभवति । तथाविधधर्मत्वेनैव परिच्छेदादपरिच्छिन्नार्थप्रतिपादकब्रह्मशव्दाभिधेयत्वमेव हीयेत । अतोऽपरिच्छिन्नस्य केनचिदपि पारमार्थिकः संवन्धो दुर्निरूप इति विद्या परमार्थतो ब्रह्मसंवन्धरहितैवेत्यङ्गीकार्यम् । सा चेदेवंविधा तथा सति तया विद्यया ब्रह्म वेदितुमशक्यम् । विदिक्रियाजन्यफलभागित्वाद्वेद्यत्वस्य स्वयमेव तथाविधफलात्मके ब्रह्मण्युदीरितक्रियाफलभागित्वासंभवादनुपयोगाच्च । न हि परमार्थतो निरस्तसमस्तोपाधिकस्य स्वयंप्रकाशमानस्यानाधेयातिशयस्य विद्यया कश्चिदुपयोगोऽस्ति येन तज्जन्यफलभागितया तद्वेद्यता स्यात् । तत्रैवमवेद्यत्वे सति को नाम **ब्रह्मात्मविद्भवेत्** । कर्मत्वकर्तृत्वलक्षणधर्मसंवन्धसव्यपेक्षत्वाद् ब्रह्मात्मवित्त्वस्य । अतो विद्वान्सकलोपाधिव्यतिरेकावच्छिन्नतया तत्स्वात्मभूतं ब्रह्म साक्षात्कुर्वन्वाङ्मनसातीतं स्वप्रकाशं ब्रह्मैव केवलं भवेन्न तु ब्रह्मात्मविदित्यर्थः ॥ २६ ॥

से प्रतीत हुआ है उसे तो वस्तुतः ब्रह्मज्ञान हुआ नहीं क्योंकि उसने उसे कर्ता माना है । (जैसे पुरुषरूप से ठूँठ को जानने वाला ठूँठ का जानकार नहीं कहा जाता वैसे ज्ञानाश्रयत्वेन आत्मा को जानने वाला आत्मा का जानकार नहीं है ।) ॥ १९ ॥ ऐसे ही अविषय ब्रह्म को जिसने विषयरूप से समझा है वह भी भ्रांत ही है ॥ २० ॥ अकर्ता और अविषय जो प्रत्यग्रूप प्रकाश है उसे अपने प्रकाश से ही जिसने जाना है, तर्क या प्रमाण से विषय कर नहीं, वही सही जानकार है ॥ २१ ॥ जो वस्तुतः ब्रह्म को समझने का–अखण्डाकारवृत्तिका–भी साक्षी है, जिसे वह समझना–वह वृत्ति–भी दृश्यरूप से ही प्रतीत होता है, वह ब्रह्म है अब कहो कैसे कोई ब्रह्म का जानकार हो सकता है ? (जानकार के ज्ञान का विषय ब्रह्म हो तब वह जानकार बने । ब्रह्म को विषय कभी बनना नहीं, अतः कोई जानकार हो नहीं सकता । अज्ञाननिवृत्ति से ब्रह्म तो हो सकता है, ब्रह्म का जानकार नहीं ।) ॥ २२ ॥ ब्रह्मज्ञान को ज्ञात मानना ही होगा क्योंकि अज्ञात ज्ञान अप्रामाणिक, असंभव तथा निष्फल है । अतः घट की तरह ब्रह्मज्ञान वेद्य तो है ही । उससे यदि ब्रह्म का सम्बंध हो तो ब्रह्म भी वेद्य हो जायेगा ॥ २३ ॥ वेत्ता–जानने वाला–भी कोई तब होता है जब उसका विद्या से सम्बन्ध हो (जैसे बोलने से संबंध हो तो वक्ता) । अतः वेत्ता होना किसी विशेषता वाला होना ही है । परब्रह्म तो निर्विशेष है । इसलिये ब्रह्मरूप आत्मा

ब्रह्मण्यध्यस्तमायादिनिवृत्तिं कुरुते तु सा । विद्या यदि, न, मायायाः प्रत्यगात्मन्यसंभवात् ॥ २७ ॥

प्रत्यगात्मा परं ज्योतिर्माया सा तु महत्तमः । तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि ॥ २८ ॥

तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने । स्वप्रकाशैकसंसिद्धेर्नास्ति माया परात्मनि ॥ २९ ॥

व्यावहारिकदृष्ट्येयं विद्याऽविद्या न चान्यथा । तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम् ॥ ३० ॥

एवं स्वप्रकाशे ब्रह्मणि विद्यया प्रकाशजनकत्वासंभवेऽपि तत्स्वरूपावरणाविद्यानिवृत्तिजननद्वारा तत्संबन्धमाशङ्क्य निरस्यति–**ब्रह्मण्यीति** । प्रत्यक्त्वेन साक्षात्कृते परमार्थतो [1]निरविद्ये ब्रह्मणि मायातत्कार्यसंस्पर्शासंभवादविद्यानिवृत्त्यर्था विद्येत्येतदपि न विचारसहमित्यर्थः ॥ २७ ॥ एतदेवोपपादयति–**प्रत्यगिति** । सूर्यादीनि प्रसिद्धानि ज्योतींषि तेषामपि चित्प्रकाशाभिसंबन्धवलेनैव प्रकाशकत्वमिति तथाविधस्वप्रकाशचिदात्मा **परं ज्योतिः** । श्रूयते हि–'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः', 'तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति च । शार्वरतमोवदाच्छादकत्वादविद्यमानस्य नामरूपप्रपञ्चस्योपस्थापनाच्च **माया** नामाधिकं तम एव । सा च कथमुदीरितलक्षणं ब्रह्माऽऽश्रयेद्विषयी कुर्याद्वा[2] । न हि प्रकाशमानं सूर्यं नैशं तम आश्रयति विषयी करोतीत्यर्थः ॥ २८–२९ ॥ ननूक्तरीत्या ब्रह्मस्वरूपे विद्याया अकिंचित्करत्वे 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादिश्रुतिभिर्विद्यायास्तत्स्वरूपप्राप्त्युपायप्रतिपादनं व्याहन्येतेत्याशङ्क्याऽऽह–**व्यावहारिकेति** । व्यवहारमात्रसिद्धं मायापरिकल्पितं प्रपञ्चमाश्रित्य हि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि प्रवृत्तानि । अतो वेदोऽपि तदन्तर्गतत्वाद् व्यावहारिकदृष्ट्यैव विद्याया अविद्यानिवृत्तिद्वारा तत्प्राप्त्युपायत्वं शास्ति । अतो **विद्याऽविद्या चे**त्येतदुभयमपिव्यवहारदृष्ट्यैव । परमार्थदृष्ट्या त्वद्वितीयं स्वप्रकाशं ब्रह्मात्म**तत्त्वमेवास्ति** ॥ ३० ॥

विद्वान्–वेत्ता–या आत्मवित् हो यह असंभव है ॥ २४ ॥ ब्रह्म कभी अन्य प्रकार का अर्थात् विद्या के आश्रय प्रकार का या उसके विषय प्रकार का नहीं हो सकता । यदि ऐसा हो (अन्य प्रकार का हो) तो ब्रह्म ब्रह्म ही कैसे होगा ? (असीम निर्विकल्प ब्रह्म में ससीमता व सविकल्पता नहीं हो सकती ।) ॥ २५ ॥ यदि कहो कि विद्या का ब्रह्म से संबंध नहीं होता (अतः ब्रह्म को विकृत किये बिना ब्रह्मविद्या संभव है) तब तो वस्तुतः तात्पर्य यह हुआ कि विद्या से ब्रह्म जाना नहीं जा सकता । (संबद्ध विषय ही विद्या से जाना जाता है इतरथा अतिप्रसंग स्पष्ट है ।) यह स्थिति होने पर ब्रह्मवेत्ता कौन हो सकता है ? (अर्थात् कोई नहीं हो सकता जो ब्रह्म को जाने । ज्ञान सविषय ही होता है यह आग्रह निवृत्त होने पर ज्ञानरूप स्थिति हो सकती है । तब जानकार, जानकारी और उसका विषय इस त्रिपुटी से छुट्टी मिलती है । यही ब्रह्म को जानना है जो ब्रह्म को जानना नहीं है ।) ॥ २६ ॥ यह भी नहीं कहा जा सकता कि विद्या ब्रह्म में अध्यस्त माया आदि को निवृत्त करती है, क्योंकि वस्तुतः प्रत्यगात्मा में माया है ही नहीं ॥ २७ ॥ प्रत्यगात्मा परम प्रकाश है और माया परम अंधकार है । यह स्थिति होने पर प्रत्यगात्मा में माया कैसे हो सकती है ? ॥ २८ ॥ अतः प्रमाण व तर्क से तथा विद्वदनुभव से यह निश्चित है कि स्वप्रकाश मात्र से निःसंदिग्ध सिद्ध होने के कारण चिद्घन परमात्मा में माया है नहीं ॥ २९ ॥ विद्या और अविद्या दोनों व्यावहारिक दृष्टि से

---

१. घ. ङ. च. निरवद्ये । २ तमोऽविद्ययोराश्रयविषयकत्वं स्वाभाविकंयमाश्रयतस्तमेव विषयीकुरुतः ।

व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः । प्रकाश एव सततं तस्मादद्वैतमेव हि ॥ ३१ ॥
अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः । प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते[1] ॥ ३२ ॥
प्रत्यक्षादिप्रमाणैश्च तर्कैः श्रुत्या तथैव च । स्वगुरोरुपदेशेन प्रसादेन शिवस्य तु ॥ ३३ ॥
अर्जितैरपि धर्मैश्च कालपाकेन धार्मिकाः । अर्थो महानयं भाति शांकरः पुरुषस्य तु ॥ ३४ ॥
यस्य प्रकाशितः साक्षादयमर्थो महत्तरः । तस्य नास्ति क्रियाः सर्वा ज्ञानं चाप्यद्वयत्वतः ॥ ३५ ॥

एवं परमार्थतो ब्रह्मणोऽसङ्गत्वेन विद्यासंबन्धाभावाद् ब्रह्मतदितरगोचराणां सर्वासां बुद्धिवृत्तीनां यद्भासकं साक्षिस्फुरणं तत्परिशेषात्स्वप्रकाशमद्वितीयं चेति 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इतिश्रुत्यर्थं निगमयति–**व्यावहारिकेति** । व्यवहारदृष्टेः पुरुषस्य घटपटादिविषयमनोवृत्तिषु सर्वत्र साक्षिचित्प्रकाशस्य भासकत्वेनाव्यभिचरितत्वादनुगतस्वपरव्यवहारहेतुप्रकाशस्वरूप एव प्रत्यगात्मा । तस्मादव्यभिचारिणि चित्प्रकाशे ब्रह्मणि रज्ज्वा इदमंशे सर्पधारादिवद् व्यभिचारिदृश्यप्रपञ्चस्य परिकल्पितत्वेन मिथ्यात्वात्प्रकाशरूपं ब्रह्माद्वैतमेवेति सिद्धमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ नन्वद्वैतमिति द्वैतनिषेधविशिष्टं ब्रह्म प्रतीयते । तथा च कथं निर्विशेषब्रह्मसिद्धिरित्यत आह–**अद्वैतमिति** । अद्वैतोक्तिरपि प्रकाशाव्यभिचारादव्यभिचारिचित्प्रकाशात्मैकरूप्यावगमादित्यर्थः । **प्रकाश एव सततमिति** । प्रकाशस्वरूपादन्यस्य द्वैतनिषेधस्य [1]द्वैतवत्त्वात्मनोऽप्यन्यत्वसाम्येन स्वेनैव निवर्तनात्तन्निषेधविनिर्मुक्तः केवलं चित्प्रकाश एवावशिष्यते । स च स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविरहितत्वात्स्वप्रकाश इति **सतत**शब्दार्थः । एवं निर्विशेषचित्प्रकाशात्मनि ब्रह्मणि शब्देन मनसा च विषयीक्रियमाणे तत्तदुपाधिवैशिष्ट्यप्रसङ्गात्तूष्णीमवस्थानमेव विदुषः स्वरूपप्रतिपत्त्युपाय इत्युपसंहरति– **तस्मादिति** । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि समनस्कानि स्वविषयेभ्यो व्यावृत्यान्तर्मुखे विक्षेपवासनाविनिर्मुक्ते प्रसन्नान्तःकरणे तद्भासकप्रत्यक्चैतन्यस्वरूपं ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशत इत्यभिप्रायः । एतावता **यस्यामतं तस्य** मतमिति श्रुत्यर्थः सम्यगुपपादितो भवति ॥ ३२ ॥ ननु मौनमात्रं चेद् ब्रह्मोपदेशः स च सर्वेषां सुलभ इति तत्सिद्ध्यर्थं न प्रयतितव्यमित्यत आह–**प्रत्यक्षादीति** ॥ ३३ ॥ भवपरम्परासु वर्णाश्रमधर्मरतिभिः परमेश्वरं समाराध्य समासादिततत्प्रसादस्य साधनचतुष्टयसंपन्नस्य कस्यचिदेव मुमुक्षोः पुरुषस्य महान्सूक्ष्मत्वेनातिगम्भीरोऽयमर्थो **भाति** नान्यस्येत्यर्थः ॥ ३४ ॥ श्रुतौ 'अमृतत्वं हि विन्दते' इत्यादिना साधनान्तरनिरपेक्षस्य यथोक्तज्ञानस्य यदमृतत्वप्राप्त्युपायत्वं प्रतिपादितं तत्तात्पर्यार्थकथनेन विवृणोति–**यस्येत्यादिना** । **अद्वयत्वत** इति । स्वात्मनोऽद्वितीयब्रह्मसाक्षात्काराज्ज्ञानकर्मणोः साधनभूतवस्त्वन्तरप्रतिभासाभावादद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवस्थितस्य विदुषस्तत्रानधिकार इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

हैं। तात्त्विक दृष्टि से ये दोनों नहीं हैं। एक परम तत्त्व ही है ॥ ३० ॥ व्यावहारिक दृष्टि वाला पुरुष भी क्योंकि हमेशा प्रकाश से अव्यभिचरित रहता है अतः प्रकाशरूप ही है। इसलिये सदा ही (द्वैतप्रतीति काल में भी) अद्वैत ही है। (अव्यभिचारी में व्यभिचारी कल्पित हुआ करते हैं यह रज्जु के इदमंश में कल्पित सर्प, जलधारा, माला आदि से स्पष्ट है। अव्यभिचारी ज्ञान ही है अतः सब उसी में कल्पित होने से, कल्पित से वास्तविक का द्वैत न होने से, सदा अद्वैत है।) ॥ ३१ ॥ 'अद्वैत है' यह कथन भी व्यभिचारी होने से अव्यभिचारी अपने प्रकाश में कल्पित है। अतः सतत एक प्रकाश ही है। फलतः मौन ही संगत है। (जो कुछ कहेंगे वह व्यभिचारी अतः कल्पित होने से हेय होगा, इसलिये मौन संगत है। इसी से परमशिव ने दक्षिणामूर्तिरूप में मौनव्याख्यान ही

---

[1] न च मौनमपि व्यभिचारितया कथनतुल्यमेवेति शंक्यम् । मौनं युज्यत इत्यस्य कथनं न युज्यत इत्येवार्थो न मौनविधिरयमित्यदोषः ।

अयमर्थो महान्यस्य स्वत एव प्रकाशितः ।
न स जीवो न च ब्रह्म न चान्यदपि किंचन ॥ ३६ ॥
अयमर्थो महान्यस्य स्वत एव प्रकाशितः ।
न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाऽऽश्रमाश्च तथैव च ॥ ३७ ॥
अयमर्थो महान्यस्य स्वत एव प्रकाशितः ।
न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च ॥ ३८ ॥
एतमर्थं महान्तं यः प्राप्तः शंभोः प्रसादतः ।
स शंभुरेव नैवान्य इति मे निश्चिता मतिः ॥ ३९ ॥
एतमर्थं महान्तं यः प्राप्तः शंभोः प्रसादतः ॥
तस्याहं वैभवं वक्तुं न शक्तः सत्यमीरितम् ॥ ४० ॥
एतमर्थं महान्तं यः प्राप्तः शंभोः प्रसादतः ।
वैभवं तस्य विष्णुश्च न शक्तो वक्तमास्तिकाः ॥ ४१ ॥
एतमर्थं महान्तं यः प्राप्तः शम्भोः प्रसादतः ।
वैभवं तस्यरुद्रश्च न शक्तो वक्तुमास्तिकाः ॥ ४२ ॥

न केवलमेतावदेव भेदोपजीवनेन प्रवृत्तः सकलोऽपि व्यवहारस्तस्य न संभवतीत्याह–**अयमर्थो महा**नित्यादिभिः पर्यायैः ॥ ३६–४० ॥

दिया है । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' का परमस्वरस यही तात्पर्य भी है ।) ॥ ३२ ॥ यह महान् कल्याणमय पुरुषार्थ मनुष्य को तब भासता है जब कालक्रम से अर्जित पुण्य फलीभूत हो अनुकूल बुद्धि आदि परिस्थितियाँ दें, शिव की कृपा हो, गुरु से उपदेश मिले, उपनिषत् का तात्पर्य निर्णय कर पाये तथा तर्क से और मानान्तरों से उसका अविरोध निश्चित हो ॥ ३३–३४ ॥ जिसे यह महत्तर बात बैठ गयी उसके लिए न कोई क्रिया है न ज्ञान ॥ ३५ ॥ जिसे स्वयं ही यह पुमर्थ भास चुका है वह न जीव है, न ब्रह्म, न और कुछ । (ब्रह्म भी आखिर एक नाम है । निर्विशेष इस नाम वाला भी क्यों होगा । 'न और कुछ' से शून्यभावापत्ति नहीं समझ लेनी चाहिये । व्यवहारसम्बन्धी और किसी रूपता का ही निषेध है ।) ॥ ३६ ॥ इस तत्त्व में स्थित के न वर्ण हैं, न आश्रम, न धर्म है, न अधर्म है, न विधि है, न निषेध ॥ ३७–३८ ॥ शंभुकृपा से इस वाक्यार्थ को जो समझ चुका है वह स्वयं शंभु ही है, उससे अन्य नहीं, यह मेरा निश्चय है ॥ ३९ ॥ उस ब्रह्मनिष्ठ का वैभव मैं नहीं बता सकता ॥ ४० ॥ विष्णु, रुद्र तथा वेद भी उसका महत्त्व बता नहीं सकते । (अनन्त होने से उसका पूर्ण वैभव कितना है यह कहा ही नहीं जा सकता ।) ॥ ४१–४३ ॥ इस शरीर में रहते ही यदि पूर्वोक्त महान् वाक्यार्थ समझ लिया तो अपरोक्ष, सत्य, अद्वैत, मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ४४ ॥ वैपरीत्येन यदि जीवित काल में इसे नहीं समझा–या समझने का प्रयास नहीं किया–तो महान् विनाश ही होगा, उत्तम गति मिलने वाली नहीं । (ऐहिकाधिकरण में (३.४.१६.५१) स्थापित किया है कि विद्या के साधनों का अनुष्ठान जन्मान्तर में भी उपकारक होता है । ज्ञान तो अविलम्बफलक होता है यह अगले अधिकरण में निश्चित किया है ।

एतनर्थं महान्तं यः प्राप्तः शंभोः प्रसादतः ।
वैभवं तस्य वेदाश्च न शक्ता वक्तुमास्तिकाः ॥ ४३ ॥
अस्मिन्देहे यदि ज्ञातः पुरोक्तोऽर्थो महानयम् ।
स साक्षात्सत्यमद्वैतं निर्वाणं याति मानवः ॥ ४४ ॥
अस्मिन्देहे न विज्ञातः पुरोक्तोऽर्थो महान्यदि ।
विनष्टिरेव महती तस्य नैव परा गतिः[1] ॥ ४५ ॥
स्वशरीरेऽन्यदेहेषु समं निश्चित्य तं दृढम् ।
अथ धीरा न जायन्ते ह्यमृताश्च भवन्ति हि ॥ ४६ ॥

श्रुतौ 'आत्मना विन्दते वीर्यमि'ति यद्विद्याप्रकाशितात्मस्वरूपेणैवाविद्यातत्कार्याभिभवसमर्थं वीर्यं विद्वाँल्लभत इति प्रतिपादितं, तद्दर्शयति–**वैभवं तस्येति** । **वैभवं** महत्त्वम् । निर्वीर्यस्य महत्त्वासंभवात्तेन महत्त्वेन स्वकारणभूतं निरतिशयं वीर्यं लक्ष्यते । धनसहायमन्त्रौषधादिसाधनजनितं वीर्यं ह्यनित्य वस्तुजनितत्वादमृतत्वव्यतिरिक्तस्यैव फलस्य साधनमिति तत्परिच्छेत्तुं शक्यम् आत्मविद्याजनितं वीर्यं त्वतथाविधमितीश्वरोऽपि न तद्वक्तुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ ४१–४३ ॥ एषा चामृतत्वसाधनभूता विद्या सुकृतवशाल्लब्धेति विविदिषुभिः शरीरे विद्यमान एव यत्नतः संपादनीया । तस्मिन्सत्यपि तदसंपादने पुरुषस्यात्यन्तिकसंसार एवेति श्रुतिरधिकारिणं प्रत्युपदिशति–'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इति । अस्याः श्रुतेरर्थं ब्रूते – **अस्मिन्निति** । **अस्मिन्विद्याधिकारिणि** मनुष्यादिदेहे सत्येव पूर्वोक्तप्रत्यग्ब्रह्मरूपो**ऽर्थो यदि ज्ञातः** स्यात्तदा स विद्वान्परमार्थसत्यं निरस्तसमस्तोपाधिकमद्वितीयब्रह्मलक्षणं मुक्तिस्वरूपं प्राप्नोति ॥ ४४ ॥ उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेणोपपादयति–**अस्मिन्निति** । यद्यस्मिन्विद्याधिकारिणि देहे सत्यप्यालस्योपहतत्वेन श्रवणमननादिसाधना-न-नुष्ठानाद्विद्योदयाभावेन प्रागुक्तार्थो न ज्ञातः स्यात्तदा सत्यं तस्य निरतिशयानन्दावाप्तिलक्षणपरपुरुषार्थहानिर्भवति । तथा च तस्याविदुषः संसारप्रवाहपात एवेति नैव कदाचिदपि मुक्तिः सिध्येदित्यर्थः ॥ ४५ ॥ एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां विविदिषुशरीरे विद्यायाः सौलभ्यमभिधाय तत्फलमाम्नायते– 'भूतेषु भूतेषु विविच्य[2] धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' इति । तद्व्याचष्टे–**स्वशरीर** इति । ये नाम प्राज्ञः स्वकीयशरीरे देहान्तरेषु सोपाधिषु घटशरावादिषु चन्द्रस्वरूपवत्साम्येनावस्थितमुदीरितलक्षणं ब्रह्मात्मतत्त्वं श्रवणमननादिभिः साक्षात्कृत्य धीरा धैर्यवन्तो दृढनिश्चयाः संसारभयरहिता वर्तन्ते ते पुनरेतद्देहपातानन्तरं **न जायन्ते** । विद्यया सकलसंसारनिदानभूताविद्यायाः समूलं[3] निवर्तितत्वात् । अपि तु कदाचिदप्यनश्वरब्रह्मात्मका भवन्ति ॥ ४६ ॥

अतः पूर्ण प्रयास तो इसी जन्म में ज्ञानप्राप्ति का करना चाहिये । यदि प्रयास करते हुए शरीर छूट जाये तो किया हुआ प्रयास व्यर्थ नहीं जायेगा । हर हालत में सांसारिक लाभादि से व्यावृत्त हो भगवत्प्राप्ति के उपाय करे यह तात्पर्य है ।) ॥ ४५ ॥ अपने तथा अन्य सभी शरीरों में ब्रह्म ही साक्षितया स्थित है ऐसा दृढ निश्चय जिस बुद्धिमान् को हो जाता है वह पुनः उत्पन्न नहीं होता, अमर ही हो जाता है ॥ ४६ ॥ एक ब्रह्म ही बुद्ध, मुक्त, महान् विद्वान, अज्ञानी इत्यादि भेद से अनेक प्रतीत हो रहा है जैसे

---

१ आह स्मान्यत्र व्यासः 'महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया । तावदुत्तर दुःखाब्धिं यावदेषा न शीर्यते ॥' इति । २ ध. झ. विचिन्त्य । ३ ङ. °लं बद्धमुक्तादिनि" ।

बद्धो मुक्तो महाविद्वानज्ञ इत्यादिभेदतः ।

एक एव सदा भाति नानेव स्वप्नवत्स्वयम् ॥ ४७ ॥

अतः स्वमुक्त्यैवान्येषामाभासानामपि ध्रुवम् ।

मुक्तिं जानाति हे देवा आत्मनामात्मवित्तरः ॥ ४८ ॥

स्वसंसारदशायां तु स्वभ्रान्त्या सर्वदेहिनाम् ।

आभासानां च संसारं वेद मुक्तिं तथैव च ॥ ४९ ॥

नान्वेकस्यैवाऽऽत्मनः स्वेतरसर्वशरीरेषु कथं नानात्वेनावस्थानं, बद्धमुक्तादिव्यवस्थान्यथानुपपत्त्या नैकात्मवादव्यवस्थापनं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह–बद्ध इति । यथा स्वप्नावस्थायां तैजस आत्मैव महीधरादिलक्षणस्वाप्नपदार्थरूपेण नानेवावभासते तथैक एव चिदात्मा स्वाविद्यापरिकल्पितोपाधिनानात्ववशेन बद्धो मुक्तो विद्वानज्ञ इत्येवमाद्यौपाधिकविरुद्ध-धर्मसंसर्गितया नानेव भवति ॥ ४७ ॥ नन्वेवमात्मन एकस्मिंश्चिद्रूपात्मनि केनचिद्विद्ययाऽऽत्मनि साक्षात्कृते सत्यविद्यानिवृत्त्या तस्यैकस्याऽऽत्मनो मुक्तत्वेन पुनरविद्यासंबन्धानुपपत्तेर्जीवप्रपञ्चस्य सर्वस्य मुक्तिरयत्नतः सिद्धेत्याशङ्क्याऽऽह–अत इति । यत एक एवाऽऽत्माऽतः श्रवणमननादिसाधनकलापमनुष्ठितवतो विदुषः स्वस्य मुक्त्यैव स्वव्यतिरिक्तानामपि तत्तदन्तःकरणोपाधिप्रतिबिम्बरूपेण दर्पणप्रतिबिम्बितमुखाभासवदाभासतया प्रतीयमानानामात्मनां तत्त्वतः स्वस्मादव्यतिरिक्तत्वात्स्वमुक्तिसमये तेषामपि मुक्तिमसौ विद्वाञ्जानात्येव । तथाऽपि तु स्वसंसारावस्थायां स्वभ्रान्त्या स्वाविद्यया स्वस्यान्येषां शरीरिणां च संसारमपि जानाति, भ्रान्तिनिवृत्तौ मुक्तिं च, यथैवं तथाऽन्येऽप्याभासरूपा आत्मनः स्वसंसारदशायां स्वस्याऽविद्यया परिकल्पितसंसारं विद्योदयपर्यन्तं जानन्त्येवेति विद्वद्दृष्ट्या मुक्तत्वेऽप्यविदुषां न संसारित्वनिवृत्तिरित्यर्थः ॥ ४८–४९ ॥

हम स्वयं स्वप्न में अनेक प्रतीत होते हैं ॥ ४७ ॥ अतः श्रेष्ठ आत्मवेत्ता यह निश्चित जानता है कि अपनी मुक्ति से ही अन्य आभासरूप आत्माओं का भी मोक्ष हो गया । (यह पता चलने पर कि सत्य बंधन किसी का नहीं, मुक्त यह कैसे समझेगा कि अन्य जीव अभी बद्ध हैं, मैं ही मुक्त हूँ । उसे तो यह निश्चय है कि कहीं कोई कभी बद्ध नहीं । जैसे मनोरोगी से व्यवहार करते हुए यह जानकारी होने पर भी कि वह प्रधान मंत्री नहीं है, वैद्य उसके प्रधानमंत्रित्वाभिमान को हटाने की कोशिश कर लेता है ऐसे ही यह जानते हुए ही कि हम जीव नहीं हैं गुरु हमारे जीवत्वाभिमान को निवृत्त करने के लिए उपदेशादि कर लेता है ।) ॥ ४८ ॥ स्वयं जब तक संसरण कर रहे हैं तब तक अपनी भ्रांति से ही देहधारी आत्माभासों को संसारी माना करते हैं । इसी तरह अपने मोक्ष से समझ आता है कि सभी मुक्त हैं ॥ ४९ ॥ जब तक प्रारब्ध कर्म रहता है तब तक परमात्मवेत्ता कभी जगत् जीव इत्यादि भेद देखता है और कभी नहीं भी देखता है ॥ ५० ॥ कभी–जब जगत् प्रतीत होता है तब–प्रतीयमान सब परमात्मा

प्रारब्धकर्मपर्यन्तं कदाचित्परमात्मवित् । जगज्जीवादिकं वेद कदाचिन्नैव वेद तत् ॥ ५० ॥

कदाचिद् ब्रह्म जानाति प्रतीतमखिलं सुराः । कदाचिन्नैव जानाति स्वभावादेव तत्त्ववित् ॥ ५१ ॥

जगज्जीवादिरूपेण यदा ब्रह्म विभासते ।
तदा दुःखादिभोगोऽपि भाति चाऽऽभासरूपतः ॥ ५२ ॥

यदा ब्रह्मात्मना सर्वं विभाति स्वत एव तु ।
तदा दुःखादिभोगोऽयमाभासो न विभासते ॥ ५३ ॥

जगज्जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मवित् । न तत्पश्यति तद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति ॥ ५४ ॥

नन्वेवमविदुषां स्वाविद्यावशादस्तु जगत्प्रतिभासो विदुषस्त्वविद्यानिवृत्त्या तत्कार्यस्य जगतः प्रतिभासोऽनुपपन्न इत्यत आह–**प्रारब्धेति** । कर्माणि हि द्विविधानि । आरब्धफलान्यनारब्धफलानि च । तत्रानारब्धफलवदारब्धफलानां ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावेन भोगेनैव क्षपयितव्यत्वात्तावत्पर्यन्तं कदाचित्फलभोगसमये तत्साधनभूतं भोक्तृभोग्यात्मकं जगद्विद्वानपि जानाति । कदाचिदद्वितीयब्रह्मात्मानुभवसमये तु **नैव तज्जगज्जानातीत्यर्थः** ॥ ५० ॥ नन्वविदुष इव विदुषोऽपि जगत्प्रतीतिरस्ति चेत्तस्य को विशेष इत्यत आह– **कदाचिद्ब्रह्मेति** । यत्सर्वस्य प्रत्यग्भूते ब्रह्मण्यध्यस्ततया प्रतीयमानमखिलं जगदस्ति तत्सर्वं ब्रह्म जानाति । आरोपितस्याधिष्ठानादव्यतिरिक्तत्वादधिष्ठानब्रह्मात्मनैव कदाचित्प्रतीतिसमये विद्वाञ्जानातीत्यर्थः । **कदाचित्**समाध्यवस्थायां त्वधिष्ठानब्रह्मयाथात्म्यज्ञानेनाऽऽरोपितस्य विलापनात्स्वात्मनो निष्प्रपञ्चस्व भाव्यादेव जगद् **नैव जानाति** । अतो विदुषोऽध्यस्तत्वेनैव कादाचित्को जगद्भा सः[1] ः अविदुष इव न परमार्थत्वेन सार्वकालिक इत्यर्थः ॥ ५१ ॥ **जगज्जीवादीति** । यदा चैवं विदुषो विक्षेपसमये ब्रह्म बाध्यभोक्तृभोग्यप्रपञ्चात्मना भासते तदा विदुषस्तत्कृतसुखाद्युपभोगोऽपि साधनवदाभासरूपतयैव भाति ॥ ५२ ॥ **यदा** तु समाधिसमये प्रतीतं सर्वं जगत्स्वकीयबाधावधिभूत**ब्रह्मात्मना** ब्रह्मावशेषेण **विभाति तदा** दुःखसाधनस्य जगतोऽप्रतिभासात्तद्धेतुकः संसारदुःखाद्धेदिरपि नैव तस्य प्रतीयत इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ नन्वविद्वानिव विद्वानपि सकलं जगदन्यू(न्ये) नानुभूतं पश्यति कुतस्तं प्रति जगत आभासरूपतेत्यत आह–**जगदिति** । आरोपितं **जगत्पश्यन्नप्य**धिष्ठानवद्रूपपरमार्थब्रह्मात्मनैव पश्यति न तु नामरूपात्मनेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

ही है ऐसा समझता है और कभी–जब जगत् प्रतीत नहीं होता तब, ऐसा नहीं समझता ॥ ५१ ॥ जब ब्रह्म जगत्, जीव आदि रूप से प्रतीत होता है तब दुःख आदि प्रारब्ध भोग भी प्रतीतिमात्रशरीररूपसे प्रतीत हो जाते हैं ॥ ५२ ॥ जब समाधि आदि में सब कुछ बाधित हो अप्रतीत रहता है और ब्रह्म ही स्वतः विभासता है तब पूर्वोक्त दुःखादि-आभास भी प्रतीत नहीं होता ॥ ५३ ॥ परमात्मवेत्ता जगत्, जीव आदि रूप से दीखने वाले भेदों को देखते हुए भी उस ओर दृष्टि नहीं रखता किंतु उस रूप में स्थित ब्रह्मवस्तु की ओर ही दृष्टि रखता है ॥ ५४ ॥ ब्रह्म से अन्य वस्तुतः

---

१ घ. झ. °गत्प्रतिभासः ।

ब्रह्मणोऽन्यत्सदा नास्ति वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ।

तथा सति शिवादन्यत्कथं पश्यति तत्त्ववित् ॥ ५५ ॥

ब्रह्मरूपेण वा साक्षाज्जगज्जीवात्मनाऽथवा ।

यथा यथा प्रथा साक्षाद् ब्रह्म भाति तथा तथा ॥ ५६ ॥

यथा यथाऽवभासोऽयं स्वभावादेव भासते ।

तथा तथाऽनुसंधानं योगिनः स्वात्मवेदनम् ॥ ५७ ॥

नामतश्चार्थतश्चापि महादेवो यदि प्रभुः ।

किं जहाति तदा विद्वान्किं गृह्णाति सुरर्षभाः ॥ ५८ ॥

एतदेव ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यादर्शनं विदुष उपपादयति—**ब्रह्मण** इति । वस्तुतस्तावद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं **नास्ति** 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इति श्रुतेः । अवस्तुतोऽपि नैवास्ति । अवस्तुभूतस्य सर्वस्य जगतस्तत्स्वरूपेऽध्यस्तत्वेन तदनन्यत्वनियमात् । एवं च विद्वान्परशिवव्यतिरिक्तं कथं जानीयादित्यर्थः ॥ ५५ ॥ अतो विदुषः सर्वदा ब्रह्मभानमेवेति निगमयति-**ब्रह्मरूपेणेति** । अधिष्ठानब्रह्मरूपेण वाऽऽरोपितभोग्यभोक्तृप्रपञ्चात्मना **वा यथा यथा** विदुषः **प्रथा** प्रतिभानं ज्ञानं भवति **तथा तथा साक्षाद्** ब्रह्मैव तस्य भातीति संबन्धः ॥ ५६ ॥ उक्तरीत्या सर्वजगदवभासोऽपि विदुषः समाध्यवस्थानतो न विशिष्ट इत्युपसंहरति—**यथेति** ॥ ५७ ॥ महादेवशब्दार्थपर्यालोचनयाऽपि न विदुषः स्वस्मादन्यत्किंचिद्धेयमुपादेयं वा संभवतीत्याह—**नामत** इति ॥ ५८ ॥

या अवस्तुतः कुछ भी नहीं है । अतः तत्त्वज्ञानी शिव से अन्य कुछ कैसे देखे ? ॥ ५५ ॥ साक्षाद् ब्रह्मरूप से, जगत् रूप से या जीवरूप से, चाहे जैसे प्रतीत हो, उसे प्रतीत ब्रह्म ही होता है । (जैसे साँप, माला आदि चाहे जैसे प्रतीत हो, प्रतीत रस्सी ही होती है ।) ॥ ५६ ॥ स्वभावतः जैसा-जैसा अनुभव होता है उसी के सहारे योगी स्वात्मरूप ज्ञान का अनुसंधान करता रहता है (अर्थात् समाधि और व्युत्थान में तत्त्ववित् की स्थिति समान ही रहती है ।) ॥ ५७ ॥ नाम से और अर्थ की दृष्टि से भी यदि प्रभु महादेव हैं तो ब्रह्मज्ञ क्या छोड़े और क्या ग्रहण करे ? (शिवातिरिक्त कुछ न होने से यह विभाजन नहीं हो सकता यह अभिप्राय है । वस्तुतः शिवातिरिक्त साधन व ग्राहक भी न होने से ग्रहण भी नहीं होता है ।) ॥ ५८ ॥ शंकर से अन्य यदि कुछ ग्राह्य या त्याज्य हो तो शंकर की महत्ता—व्यपकता—ही कट जायेगी और स्वभावभूत महत्ता कट नहीं सकती । अतः यह भेद नहीं ॥ ५९ ॥ महत्ता शंकर का धर्म तो है नहीं क्योंकि वह शिव से अन्य नहीं है । धर्म-धर्मिभाव वहीं होता है जहाँ भेद हो । (भेद मानने पर महत्त्व असत् होने से बाध्य हो जायेगा यह तात्पर्य है ।) ॥ ६० ॥ इसलिये भेद, अभेद तथा भेदाभेद

ग्राह्यं वा शंकरादन्यत्त्याज्यं वा यदि विद्यते ।
महत्त्वं तस्य हीयेत स्वभावो न विहन्यते ॥ ५९ ॥
महत्त्वं नैव धर्मोऽस्य भेदाभावात्परात्मनः ।
धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि विद्यते ॥ ६० ॥
भेदोऽभेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मना ।
नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा ॥ ६१ ॥
ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ।
तथा सति शिवज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम् ॥ ६२ ॥
मायया विद्यते सर्वमिति केचन मोहिताः ।
शिवरूपातिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः ॥ ६३ ॥
मायया वा शिवादन्यद्विद्यते चेच्छिवस्य तु ।
महत्त्वं परमं साक्षाद्धीयत सुरपुंगवाः ॥ ६४ ॥

महत्त्वं तस्येति । त्रिविधपरिच्छेदराहित्यं हि तस्य महत्त्वम् । तच्च तस्मात् सर्वप्रत्यग्भूतात्परशिवादन्यस्मिन्हेयोपादेयवस्तुनि स्वीक्रियामाणे विहन्येतेत्यर्थः । इष्टापत्तिशङ्कां निवारयति–**स्वभाव** इति । तद्धि महत्त्वं परमेश्वरस्य स्वरूपम् । न च तद्विहन्तुं युज्यते, तस्यैवाभावप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ ५९ ॥ ननु महत्त्वं परमेश्वरस्य न स्वभावोऽपि तु तस्य धर्म इति नोक्तदोषपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह–**महत्त्वं नैवेति** । **भेदाभावादिति** । परमात्मन एकमेवा द्वितीयमिति स्वगतसजातीयविजातीयभेदनिरासस्य श्रुत्या प्रतिपादितत्वात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणानां च भेदग्रहणासामर्थ्यस्य दशमेऽध्याये प्रागुपपादितत्वाच्चेत्यर्थः । **धर्मधर्मित्वेति** । न हि स्वयमेव स्वस्य धर्मो भवतीति धर्मधर्मिभावो नियमेन । भेदसापेक्षित इति व्यापकभेदाभावात्तद्व्याप्यधर्मधर्मिभावोऽपि न संभवतीत्यर्थः ॥ ६० ॥ ननु कुतश्चिदप्यात्मनो भेदो नास्ति चेद् दृश्यप्रपञ्चतादात्म्यलक्षणऽभेदः प्राप्नोतीति सविशेषत्वं ब्रह्मण इत्याशङ्क्याऽऽह–**भेद** इति । भेदवदभेदादेर प्याध्यासिकत्वादात्मस्वरूपव्यतिरेकेण सद्भावो नास्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥ हेयोपादेयविभागप्रतिपादकाभासराहित्यं विदुषो निगमयति–**ब्रह्मैवेति** । अध्यस्तप्रपञ्चस्य सदसद्विलक्षणत्वेन वस्तुतोऽवस्तुतश्चाधिष्ठानाद् ब्रह्मणः पृथगभावादद्वितीयं ब्रह्मैव सर्वतः प्रतिभातीति ज्ञानी किं जह्यात्किं वोपाददीतेत्यर्थः ॥ ६२ ॥ **नास्ति मायेति** । प्रपञ्चकारणत्वेन परिकल्प्यमानमायाया अपि सदसद्विलक्षणत्वान्मायामयं जगदस्तीति विरुद्धाभिधानमित्यर्थः ॥ ६३ ॥ **माययेति** । यदि मायायाः सत्यत्वमङ्गीकृत्य तन्मयं जगदस्तीति स्वीक्रियते तर्हि पूर्वोक्तं परशिवस्य त्रिविधपरिच्छेदराहित्यलक्षणं महत्त्वं भज्येतेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

ये तीनों ही स्वात्मा से अतिरिक्त वास्तविक नहीं । वास्तविक तो केवल एकमात्र स्वयंरूप परमात्मा है । (भेद तो अतएव वास्तविक नहीं कि सत् से भेद रखने वाला असत् फलतः बाध्य होता है । अभेद भी सम्बंधियों की अपेक्षा से ही कहा जाता है । संबंधी भिन्न ही होंगे । अतः भेद सिद्ध न होने पर अभेद सिद्ध नहीं हो सकता । अतएव भेदाभेद सिद्ध नहीं होता ।) ॥ ६१ ॥ अतः वस्तुतः और अवस्तुतः ब्रह्म ही है । इस स्थिति में शिवज्ञानी किसका ग्रहण करे और किसका त्याग ? ॥ ६२ ॥ कुछ मुग्धवादी कहते हैं कि मायावश सारा संसार स्थित है । किंतु वास्तविकता यह है कि शिव से अतिरिक्त माया भी तो नहीं है ॥ ६३ ॥ माया से भी यदि शिवातिरिक्त कुछ होगा तो शिव की महत्ता खण्डित हो ही जायेगी ॥ ६४ ॥ सही बात का निरूपण करें तो कहना ही होगा कि शिव के महत्त्व का कोई संकोच नहीं

महत्त्वस्य तु संकोचो नास्ति सम्यङ्‌निरूपणे ।

अस्ति चेदप्रमाणं स्याच्छ्रुतिः सत्यार्थवादिनी ॥ ६५ ॥

तस्मादस्ति महादेव एव साक्षात्स्वयंप्रभुः[1] ।

आनन्दरूपः संपूर्णो न ततोऽन्यत्तु किंचन ॥ ६६ ॥

इयमेव तु तर्काणां निष्ठाकाष्ठा सुरोत्तमाः । प्रत्यक्षादिप्रमाणानां वेदान्तानामपीश्वराः ॥ ६७ ॥

स्मृतीनां च पुराणानां भारतस्य तथैव च । वेदानुसारिविद्यानामन्यासामास्तिकोत्तमाः ॥ ६८ ॥

शैवागमानां सर्वेषां विष्णुप्रोक्तागमस्य च । अस्मदुक्तागमस्यापि सुराः सूक्ष्मनिरूपणे ॥ ६९ ॥

बुद्धागमानां सर्वेषां तथैवार्हागमस्य च । यक्षगन्धर्वसिद्धादिनिर्मितस्याऽऽगमस्य च ॥ ७० ॥

परमाद्वैतविज्ञानं कस्य मर्त्यस्य सिध्यति ।

कस्य देवस्य वा साक्षाच्छिवस्यैव हि सिध्यति ॥ ७१ ॥

[2]परमाद्वैतविज्ञानं शिवस्यामिततेजसः ।

स्वभावसिद्धं देव्याश्च शिवाया आस्तिकोत्तमाः ॥ ७२ ॥

अस्ति चेदिति । आकाशादीनामिव परशिवस्य महत्त्वमापेक्षिकं चेत्तर्हि 'अनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्' इति त्रिविधपरिच्छेदराहित्यप्रतिपादिका श्रुतिरप्रमाणं [3]स्यादित्यर्थः ॥ ६५ ॥ प्रतिपादितमर्थं निगमयति–**तस्मादिति** ॥ ६६–७२ ॥

है । यदि हो, तो सत्यबोधिका श्रुति को अप्रामाणिक मानना पड़ेगा जो असंगत है ॥ ६५ ॥ अतः यही स्वीकार्य है कि अपरोक्ष स्वयंरूप आनन्दघन व्यापक प्रभु महादेव ही हैं, उनसे अन्य कुछ नहीं ॥ ६६ ॥ तर्क भी चरम परीक्षा करने पर यही सिद्ध करते हैं । प्रत्यक्षादि प्रमाण और वेदान्त भी यही बताते हैं ॥ ६७ ॥ स्मृतियाँ, पुराण, महाभारत, वेदानुसारी सभी विद्यायें, शैवागम, विष्णुप्रोक्त आगम, ब्राह्मागम, बौद्धागम, जैनागम, यक्ष गंधर्व सिद्ध आदि निर्मित आगम–सभी की ठीक से विवेचना की जाये तो इसी अद्वैत शिव में उनका तात्पर्य संगत होता है ॥ ६८–७० ॥ पारमार्थिक अद्वैत का ज्ञान न किसी मनुष्य को होता है न देवता को (क्योंकि ये हैं ही नहीं), किन्तु शिव को ही होता है (क्योंकि वही एक है) ॥ ७१ ॥ शिव और उमा–इनको परम अद्वैत ज्ञान स्वभावतः है ॥ ७२ ॥ इनकी कृपा से ही विष्णु को, मुझे, विराट्

---

१ ङ. °प्रभः ॥ आ° । २ परमराद्धान्तं शिव एव संसरति मुच्यते चेत्युक्त्वा व्यावहारिकभेदमंगीकृत्य वक्ति–परमेति । ३ नन्वाकाशनित्यत्वादिश्रुतिवद् ब्रह्मश्रुतिरपि किन्न स्यात् ? आह–आकाशनित्यत्वश्रुतिरमुख्यनित्यत्वं ब्रूत इति कुतः ? 'आकाशः सम्भूत' इति श्रुतिविरोधादिति चेद् ? आयातोऽसि मार्गे । मानान्तरविरोधे श्रुतेरन्यार्थता नान्यथेति स्थितिः । ब्रह्मश्रुति र्न मानान्तरविरोधिनी तेषां तत्राप्रसरादिति तस्या न तत्तुल्यतेति ।

प्रसादादेव रुद्रस्य शिवायाश्च तथैव च । परमाद्वैतविज्ञानं विष्णोः साक्षान्ममापि च ॥ ७३ ॥

विराट्संज्ञस्य देवस्य स्वराट्संज्ञस्य चाऽऽत्मनः ।

सम्राट्संज्ञस्य चान्येषां प्रसादादेव वेदनम् ॥ ७४ ॥

युष्माकमपि सर्वेषां शिवस्य परमात्मनः । परमाद्वैतविज्ञानं प्रसादादेव नान्यथा ॥ ७५ ॥

यक्षराक्षसगन्धर्वसिद्धादीनामपीश्वराः । परमाद्वैतविज्ञानं प्रसादादेव शूलिनः ॥ ७६ ॥

मनुष्याणां च सर्वेषां पश्वादीनां तथैव च । परमाद्वैतविज्ञानं प्रसादादेव शूलिनः ॥ ७७ ॥

प्रसादे सति कीटो वा पतंगो वा नरोऽथ वा ।

देवो वा दानवो वाऽपि लभते ज्ञानमुत्तमम् ॥ ७८ ॥

एष एव हि जन्तूनां परज्ञानं[१] ददाति च ।

न विष्णुर्नाहमन्यश्च सत्यमेव मयोदितम् ॥ ७९ ॥

आदाने च तथा दाने न स्वतन्त्रो महान्हरिः ।

तथैवाहं सुरश्रेष्ठाः सत्यमेव मयोदितम् ॥ ८० ॥

'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इत्यादिकायाः श्रुतेरर्थं वक्तुमारभमाणस्तदुपोद्घातत्वेन तत्त्वज्ञानस्योमामहेश्वरप्रसादलभ्यत्वं दर्शयति–**प्रसादादेवेत्यादिना** ॥ ७३–७८ ॥

को, स्वराट् को, सम्राट् को तथा अन्यों को वह ज्ञान हुआ है । आप सबको भी शिवकृपा से ही अद्वैतनिष्ठा हो सकती है । यक्ष, राक्षस, गंधर्व, सिद्ध आदि को भी उनकी प्रसन्नता से ही उसकी प्राप्ति होती है । मनुष्यों को व सब पशुओं को भगवत्कृपावश ही अद्वैत ज्ञान होता है । शिवप्रसाद होने पर कीट, पतंग, मनुष्य, देव, दानव–सभी इस उत्तम ज्ञान को पा लेते हैं ॥ ७३–७८ ॥ शिव ही जंतुओं को परमाद्वैत ज्ञान देने वाले हैं, विष्णु, मैं या अन्य कोई नहीं ॥ ७९ ॥ इसके ग्रहण और प्रदान में हरि व मैं स्वतंत्र नहीं हैं, शिव ही इन कामों में स्वतंत्र हैं । उनकी कृपा के विना मैं किसी का उद्धार नहीं कर सकता ॥ ८०–८१ ॥ करुणानिधि महादेव के बिना विष्णु भी किसी को कैवल्य नहीं दे सकते ॥ ८२ ॥ मैं या

---

१ घ. ङ. परिज्ञानं ।

स्वतन्त्रः शिव एवायं स हि संसारमोचकः ।
तं विना न मयोद्धर्तुं शक्यते संसृतेर्जनः ॥ ८१ ॥
विष्णुना च परेणापि महादेवं घृणानिधिम् ।
विना जन्तुं[1] समुद्धर्तुं शक्यते न हि सत्तमाः ॥ ८२ ॥
दर्वीन्यायेन संसारादुद्धरामि जनानिमान् ।
न स्वातन्त्र्येण हे देवाः साक्षाद्विष्णुस्तथैव च ॥ ८३ ॥
देवदेवस्य रुद्रस्य स्वरूपं तस्य वैभवम् ।
को वा जानाति नास्त्येव स्वयं जानाति वा न वा ॥ ८४ ॥
दुर्विज्ञेयो महादेवो महतामपि देहिनाम् । प्रसादेन विना देवाः सत्यमेव मयोदितम् ॥ ८५ ॥
पुरा सुराणां सर्वेषामसुराणां दुरात्मनाम् । महामोहेन संग्रामः संजातो दुर्निवारकः ॥ ८६ ॥
असुरैः पीडिता देवा बलवद्भिः सुरा भृशम् ।
तान्दृष्ट्वा भगवानीशः सर्वज्ञः करुणाकरः ॥ ८७ ॥
देवानां विजयं देवा असुराणां पराजयम् ।
ददौ[2] तेन सुरैः शीघ्रमसुरास्तु पराजिताः ॥ ८८ ॥

उदीरितलक्षणस्य परतत्त्वस्यात्यन्तनिर्विशेषत्वेन दुर्ज्ञानत्वान्महतामिन्द्रादिदेवानामप्युपदेशगम्यत्वमीश्वरप्रसादलभ्यत्वं च दर्शयितुमाख्यायिकारूपा श्रुतिराम्नायते–'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इत्यादिका । अस्याः श्रुतेरभिप्रायं विवृणोति–पुरा सुराणामित्यादिना ॥ ८६–८८ ॥

विष्णु जो लोगों को मोक्ष दिया करते हैं उसमें हम कड़छी की जगह हैं–वस्तु तो डेकची में है, केवल थाली में डालने के लिए डेकची से निकालने का काम कड़छी करती है । ऐसे ही मोक्ष शिवरूप डेकची में है, कड़छीरूप हम जीवरूप थाली में उसे डाल देते हैं ॥ ८३ ॥ देवाधिदेव श्रीरुद्र का जो स्वरूपभूत वैभव है उसकी कोई सीमा है ही नहीं, अतः कोई, और वे स्वयं भी उसे नहीं जानते ॥ ८४ ॥ महान् लोग भी शिवकृपा के विना महादेव को समझ नहीं सकते ॥ ८५ ॥

प्राचीनकाल में मोहवश देवासुर संग्राम हुआ ॥ ८६ ॥ असुरों से देवताओं को पीडित देख कृपानिधान

१ घ. जन्तून्समु० । २ झ. ददाति च सु० ।

अविज्ञाय महादेववैभवं परिमोहिताः । वयं विजयमापन्ना असुराश्च पराजिताः ॥ ८९ ॥

इत्यहंमानसंछन्नाः सर्वे देवाः पुरातनाः । अतीव प्रीतिमापन्ना अभवन्सुरपुंगवाः ॥ ९० ॥

पुनर्विश्वाधिको रुद्रो भगवान्करुणानिधिः । स्वस्य दर्शयितुं तेषां दुर्ज्ञेयत्वं तथैव च ॥ ९१ ॥

तेषां भ्रान्तिनिवृत्त्यर्थमपि साक्षान्महेश्वरः । आविर्बभूव सर्वज्ञो यक्षरूपेण हे सुराः ॥ ९२ ॥

तं दृष्ट्वा यक्षमत्यन्तं विस्मयेन सहामराः । विचार्य सर्वे संभूय किमिदं यक्षमित्यपि ॥ ९३ ॥

पुनरग्निं समाहूय देवाः सर्वे विमोहिताः । अब्रुवंस्त्वं विजानीहि किमेतद्यक्षमित्यपि ॥ ९४ ॥

अग्निस्तथा करोमीति प्रोच्य यक्षं गतोऽभवत् ।
यक्षरूपो महादेवः कोऽसीत्याहानलं प्रति ॥ ९५ ॥

अग्निर्वा अहमस्मीति यक्षं प्रत्याह सोऽपि च ।
सोऽपि प्रोवाच भगवांस्त्वयि किं वीर्यमित्यपि ॥ ९६ ॥

'तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेव विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति' इति श्रुतिवाक्यस्याभिप्रेतमर्थं दर्शयति—**अविज्ञायेत्यादिना** ॥ ८९–९० ॥ 'तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव' इति श्रुतिवाक्यस्यार्थं ब्रूते—**पुनर्विश्वाधिक** इत्यादिना । **स्वस्य दर्शयितुमिति** । स्वस्याऽऽत्मनो दुरवगमत्वं तेषामिन्द्रादीनां दर्शयितुमित्यर्थः ॥ ९१–९२ ॥ 'तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति' इति श्रुतिवाक्यस्यार्थं ब्रूते—**तं दृष्ट्वेति** ॥ ९३ ॥ 'तेऽग्निमब्रुवन्' इत्यादिश्रुतिभागस्यार्थमाह—**पुनरग्निमित्यादिना** ॥ ९४–९९ ॥

महादेव ने देवताओं को विजय और असुरों को पराजय दिला दी ॥ ८७–८८ ॥ किन्तु देवता यह नहीं समझ पाये कि यह शिवकृपा का प्रताप है । वे सोचने लगे कि हम ही ने असुरों को हराया है । यह हमारी ही विजय है, हमारी ही महिमा है । यों अहंकाराविष्ट हुए वे बड़े प्रसन्न थे ॥ ८९–९० ॥ शंभु तो करुणासागर हैं । विश्वातीत रुद्र ने अपनी दुर्बोधता देवताओं को दिखाने के लिए और उनका वह भ्रम हटाने के लिए देवताओं को एक विचित्र यक्षरूप में दर्शन दिया ॥ ९१–९२ ॥ देवों ने देख बहुत विस्मय किया और सोचने लगे—यह है क्या ? ॥ ९३ ॥ उन सबने अग्निदेव को बुलाया और कहा, 'तुम पता लगाओ यह यक्ष क्या है ।' ॥ ९४ ॥ अग्नि ने सबका अनुरोध स्वीकारा और यक्ष के पास गया । यक्षरूप महादेव ने ही अग्नि से पूछा, 'तुम कौन हो ?' ॥ ९५ ॥ उसने उत्तर दिया, 'मैं तो अग्नि हूँ ।' भगवान् ने पूछा, 'तुम्हारी सामर्थ्य क्या है—तुम कर क्या सकते हो ?' ॥ ९६ ॥ अग्नि बोला, 'भूमि पर जो कुछ है उसे मैं जला सकता हूँ ।' परमेश्वर ने उसके सामने एक तिनका रख कर मुस्कुराते हुए कहा, 'इसे जलाओ ।' अग्नि ने पूरा जोर लगाया किंतु उसे जला न पाया, अतः लज्जा और भय से युक्त हो देवताओं के पास लौट आया और बोला, 'मैं उस यक्ष के विषय में पता नहीं लगा पाया । आप ही लोग उसका पता लगाइये ।' ॥ ९७–९९½ ॥ यह सुनकर देवताओं ने वायु को बुलाकर उससे कहा,

इदं सर्वं दहेयं यदिदं भूम्यां व्यवस्थितम् ।

इत्याहाग्निस्तृणं तस्मै निधाय परमेश्वरः ॥ ९७ ॥

एतद्दहेति भगवान्स्मयमानोऽभ्यभाषत । अग्निः सर्वजवेनैव तद्दग्धुं तृणमास्तिकाः ॥ ९८ ॥

अशक्तो लज्जया युक्तो भीतोऽगच्छत्सुरान्प्रति ।

मया तस्यैव विज्ञातुं न शक्यं वैभवं सुराः ॥ ॥ ९९ ॥

वित्त यूयं महायासादित्याहाग्निः सुरान्प्रति ।

तच्छुत्वा वायुमाहूय विजानीहीति चाब्रुवन् ॥ १०० ॥

सोऽपि गत्वा तथा तेन यक्षरूपेण शंभुना ।

भृशं प्रतिहतो भूत्वा तथाऽगच्छत्सुरान्प्रति ॥ १०१ ॥

पुनरिन्द्रः स्वयं मोहादहंताकञ्चुकावृतः । विज्ञातुं यक्षमगमत्स तत्रैव तिरोदधे ॥ १०२ ॥

इन्द्रोऽतीव विषण्णस्तु महातापसमन्वितः ।

विद्यारूपामुमां देवीं ध्यात्वा कारुणिकोत्तमाम् ॥ १०३ ॥

॥ ९७–९९ ॥ 'अथ वायुमब्रुवन्' इत्यादिश्रुतिवाक्यस्यार्थं संग्रह्णाति–**तच्छ्रुत्वा वायुमाहूयेत्यादिना** ॥ १०० ॥ तथेति । यथा 'अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मि' इत्यहंकारग्रस्तत्वेनाग्निर्ब्रह्मणाऽभिभूत एवं वायुरपि 'वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मि' इत्येवमहंकारयुक्तं वाक्यं ब्रुवन्**भृशं प्रतिहतो**ऽभवदित्यर्थः ॥ १०१ ॥ अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे' इतिश्रुतिवाक्यस्यार्थमाह–**पुनरिन्द्र** इति ॥ १०२–१०३ ॥

'तुम ही पता लगाओ ।' ॥ १०० ॥ वायु गया । शंभु ने उससे भी पूछा, 'तुम कौन हो, क्या कर सकते हो ?' वायु ने कहा, 'मैं मातरिश्वा वायु हूँ, पृथ्वी पर जो कुछ है उसे मैं उड़ा सकता हूँ ।' शिव ने तिनका रख कहा, 'इसे उड़ाओ ।' वायु ने पूरी ताकत लगाई किन्तु उड़ा न पाया । अतः वह भी लज्जित और भयभीत हो लौट आया और बोला, 'मैं नहीं पता लगा पाया ।' ॥ १०१ ॥ तब स्वयं देवराज इन्द्र यक्ष का पता लगाने गये । राजा होने से इन्हें सबसे अधिक अहंकार था । (इतने अहंकारी से तो बात भी नहीं करनी चाहिये ऐसा सोच) यक्षरूप महादेव इंद्र के संमुख तिरोहित हो गये–अंतर्धान हो गये । इन्द्र अत्यधिक दुःखी हुए और उन्हे बड़ा पश्चात्ताप हुआ । (देवराज होकर मैं एक यक्ष का पता न लगा पाया तो मेरी सामर्थ्य कितनी कम है, मैं वृथा ही सोचता रहा कि मैंने अपने बल से असुरों को जीता है, इत्यादि विचार उनके मन में उठने लगे ।) अतः इन्द्र ने विद्यारूप करुणामयी उमादेवी का ध्यान किया ॥ १०२–१०३ ॥ लौकिक व वैदिक स्तोत्रों से उनकी स्तुति की । वेदमयी जगन्माता वहाँ

लौकिकैर्वैदिकैः स्तोत्रैस्तुष्टाव परमेश्वरीम् ।
सा शिवा करुणामूर्तिर्जगन्माता त्रयीमयी ॥ १०४ ॥
शिवाभिन्ना परानन्दा शंकरस्यापि शंकरी । स्वेच्छया हिमवत्पुत्री स्वभक्तजनवत्सला ॥ १०५ ॥
महादेवस्य माहात्म्यं दुर्ज्ञेयं सर्वजन्तुभिः ।
इति दर्शयितुं देवी तत्रैवाऽऽविरभूत्स्वयम् ॥ १०६ ॥
तामाराध्य शिवामिन्द्रः शोभमानां तु सर्वतः ।
उमां पर्वतराजेन्द्रकन्यकामाह वज्रभृत् ॥ १०७ ॥
किमेतद्यक्षमत्रैव प्रादुर्भूतं तिरोहितम् । वक्तुमर्हसि देवेशि मम कारुणिकोत्तमे ॥ १०८ ॥
देवी परमकारुण्याद् ब्रह्म मे पतिरत्र तु । प्रादुर्भूतं तिरोभूतमित्याहाशेषनायिका ॥ १०९ ॥
दुर्विज्ञेयो महादेवो विष्णोः साक्षादजस्य च ।
अन्येषामपि देवानां तवापि मघवन्भृशम् ॥ ११० ॥
प्रदर्शयितुमीशानो दुर्ज्ञेयत्वं स्वकं परम् । आविर्भूतो न चान्येन कारणेन सुराधिप ॥ १११ ॥
स एव सर्वदेवानां तवापि विजयप्रदः । पराजयकरोऽन्येषां तमेव शरणं व्रज ॥ ११२ ॥
इत्युक्त्वा सा महादेवी चिद्रूपा सर्वसाक्षिणी ।
भक्तानां पाशहन्त्री तु तत्रैवान्तर्हिताऽभवत् ॥ ११३ ॥

एवं भग्नाहंकाराणां तद्ब्रह्मस्वरूपोपदेशाय पराशक्तेः संनिधानमाम्नायते–'स तस्मिन्नाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति' 'ब्रह्मेति होवाच' इत्येतद्वाक्यार्थमाह–लौकिकैरित्यादिना ॥ १०४–१११ ॥ 'ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वम्' इति वाक्यस्य तात्पर्यार्थमाचष्टे–स एवेति ॥ ११२–११४ ॥

प्रकट हुई । वे शिव से अभिन्न हैं, परमानंदरूपिणी हैं, शंकर को भी प्रसन्न करने वाली हैं । भक्तों पर वात्सल्य वाली हैमवती ने सोचा कि सभी के लिए शिवमाहात्म्य जानना कठिन है यह स्पष्ट करना चाहिये, अतः स्वेच्छा से वे इंद्र के संमुख पहुँचीं ॥ १०४–१०६ ॥ उनका आदर-सत्कार कर वज्रधारी इन्द्र ने उनसे पूछा, 'हे देवशि ! जो यहाँ प्रकट और अंतर्धान हो गया वह यक्ष क्या था ? कृपा कर हमें बताइये ।' ॥ १०७–१०८ ॥ देवी ने कहा, 'जो यक्ष यहाँ प्रकट और अंतर्धान हुआ वह ब्रह्म है, तुम्हारा मालिक है । १०९ ॥ विष्णु, ब्रह्मा, अन्य देव और खुद तुम्हारे लिए भी महादेव को समझना मुश्किल है । अपनी दुर्ज्ञेयता समझाने के लिये ही वे तुम लोगों के संमुख प्रकट हुए थे, और किसी प्रयोजन से नहीं । सब देवों को और तुम्हें विजय दिलाने वाले वे ही हैं । अन्यों की पराजय उन्हीं के कारण होती है । उन्हीं की शरण जाओ ।' ॥ १०९–११२ ॥ इतना कहकर सबकी चिदात्मक साक्षीरूप तथा

पुनर्देव्या महादेवं महाकारुणिकोत्तमम् । दुर्विज्ञेयं सुरश्रेष्ठाः स्वतन्त्रं भुक्तिमुक्तिदम् ।
विदुः सुनिश्चितं त्यक्त्वा मात्सर्यं[1] भवकारणम् ॥ ११४ ॥
प्रसादे सति विज्ञातुं शक्यते परमेश्वरः ।
प्रसादेन विना नैव शक्यते सर्वजन्तुभिः ॥ ११५ ॥
प्रसादेन विना विष्णुर्न जानाति महेश्वरम् ।
तथा[2] चाहं न जानामि देवताः सकला अपि ॥ ११६ ॥
प्रसादस्य तु सिद्ध्यर्थं खलु सर्वं सुरर्षभाः । प्रसादेन विना देवं ये जानन्ति सुरर्षभाः ।
ते जानन्ति विना घ्राणं गन्धं हस्तेन केवलम् ॥ ११७ ॥
प्रसादो नाम रुद्रस्य कर्मसाम्ये तु देहिनाम् ॥ ११८ ॥
देशिकालोकनाज्जातो विशिष्टातिशयः सुराः ।
प्रसादस्य स्वरूपं तु मया नारायणेन च ॥ ११९ ॥
रुद्रेणापि सुरा वक्तुं न शक्यं कल्पकोटिभिः ।
केवलं लिङ्गगम्यं तु न प्रत्यक्षं शिवस्य च ॥ १२० ॥
शिवायाश्च हरेः साक्षान्मम चान्यस्य चाऽऽस्तिकाः ।
प्रहर्षः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया कम्पनं तथा ॥ १२१ ॥

प्रसादे सतीति । उक्तरीत्या इन्द्रादीनामपि तत्त्वज्ञानस्य परमेश्वरप्रसादलभ्यत्वादन्येषामपीश्वरप्रसादे सत्येव परशिवस्वरूपं ज्ञातुं शक्यते नान्यथेत्यर्थः ॥ ११५–११७ ॥ प्रसादस्य स्वरूपमाह–**प्रसादो नामेति** । **कर्मसाम्य** इति ! सुखदुःखहेतुभूतयोर्धर्माधर्मलक्षणयोः कर्मणोरुपभोगेन प्रक्षीणत्वसाम्ये सतीत्यर्थः । प्रागुक्तं शक्तिपातस्वरूपनिरूपणप्रस्तावे चतुस्त्रिंशेऽध्याये ॥ ११८–१३३ ॥

भक्तों के बंधन काटने वाली महादेवी भी वहीं अंतर्धान हो गयीं ॥ ११३ ॥ तब देवताओं ने समझा कि भोग व मोक्ष देने वाले सर्वस्वतंत्र करुणामय महादेव अवश्य दुर्विज्ञेय हैं । अतः संसारकारणभूत अहंकार का उन्होंने परित्याग किया ॥ ११४ ॥

पारमेश्वर प्रसाद–प्रसन्नता, कृपा–से ही परमेश्वर जाना जा सकता है, उसके विना नहीं ॥ ११५ ॥ विष्णु, मैं या कोई भी देवता विना ईश्वर प्रसाद के उन्हें नहीं जानते हैं ॥ ११६ ॥ सारे साधन प्रसाद-प्राप्ति के लिए हैं । विना प्रसाद के शिव को जानने की कोशिश वैसी ही मूर्खता है जैसी नाक के विना केवल हाथ से गंध जानने की कोशिश ॥ ११७ ॥ भोगप्रद पुण्य व पाप जब क्षीण हों तब गुरु की कृपादृष्टि से जो शिष्य में विशिष्ट अतिशय होता है उसे शिव-प्रसाद समझना चाहिये । (पूर्वभाग के चौंतीसवे अध्याय में विवेचित शक्तिपात का यहाँ परामर्श कर लेना चाहिये ।) प्रसाद का स्वरूप तो विष्णु, मैं या रुद्र भी नहीं बता सकते । शिवज्ञान होना ही इसका सूचक है कि प्रसाद प्राप्त हो चुका । गाय घोड़े की तरह प्रसाद प्रत्यक्ष नहीं दीखता । शिव, पार्वती, मुझे या किसी को भी वह प्रत्यक्ष नहीं दीखता । उसका पता चिह्नों से ही लगता है । (संपूर्ण प्रसाद का चिह्न तो शिवज्ञानलाभ है ।) ॥ ११८–१२० १/२ ॥ (अन्य भी चिह्न हैं जिनसे समझा जा सकता है कि प्रसादप्राप्ति हो रही है–) अत्यधिक

---

१ मदी हर्षे (दि.प.से.) धातोः सरन् प्रत्यये (उणा. ३.७३) माद्यतीति मत्सरो मदोन्मत्त उच्यते तद्भावो मात्सर्यम् । अहंकारवशादेव 'कोन्योऽस्ति सदृशोमये'त्युक्तरीत्या माद्यति जनस्ततोऽसावेवेह मात्सर्यशब्दार्थः । अस्य भवकारणत्वमाचार्याअप्यवोचन्–'सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः । तेषामेकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकारः ॥' (विवेकचू. २९९) इति । २ च. ०थाऽहं च न ।

स्तोभः शरीरपातश्च भ्रमणं चोद्गतिस्तथा ।

आकाशेऽवस्थितिर्देवाः शरीरान्तरसंस्थितिः ॥ १२२ ॥

अदर्शनं च देहस्य प्रकाशत्वेन भासनम् ।

अनधीतस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रकाशनम् ॥ १२३ ॥

निग्रहानुग्रहे शक्तिः पर्वतादेश्च भेदनम् । एवमादीनि लिङ्गानि प्रसादस्य सुरर्षभाः ॥ १२४ ॥

तीव्रात्तीव्रतरः शंभोः प्रसादो न समो भवेत् ।

एवंरूपः प्रसादश्च शिवया च शिवेन च ॥ १२५ ॥

ज्ञायते न मया नान्यैर्नैव नारायणेन च ।

अतः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम् ॥ १२६ ॥

तमेव शरणं गच्छेत्सद्यो मुक्तिं यदीच्छति ।

विष्णुभक्त्या च मद्भक्त्या नास्ति नास्ति परा गतिः ॥ १२७ ॥

शंभुभक्त्यैव सर्वेषां सत्यमेव मयोदितम् ।

शंभुभक्तस्य देहेऽस्मिन्प्रसादो गम्यत यथा ॥ १२८ ॥

न तथा विष्णुभक्तस्य न मद्भक्तस्य देहिनः ।

तस्मान्मुमुक्षुर्मां विष्णुमपि त्यक्त्वा महेश्वरम् ॥ १२९ ॥

आश्रयेत्सर्वभावेन प्रसादं कुरुते हि सः ।

प्रसादे सति देवेशो दुर्ज्ञेयोऽपि सुरर्षभाः ॥ १३० ॥

शक्यते मनुजैर्द्रष्टुं प्रत्यगात्मतया सदा । प्रसादे सति देवेशो दुर्ज्ञेयोऽपि सुरर्षभाः ॥ १३१ ॥

हर्ष होना, गला भर जाना, आँसू आना, कंपन होना, किसी तरह का प्राशस्त्य आ जाना, शरीर गिर पड़ना, चक्कर आना, ऊँचा उठ जाना, आकाश में टिक जाना, अन्य शरीर में प्रवेश हो जाना, देह का न दीखना, शरीर का प्रकाशात्मक दीखना, न पढ़ा शास्त्र स्वतः ज्ञात हो जाना, किसी को दण्डित करने या किसी पर कृपाकर उसे पुरस्कृत करने की सामर्थ्य आ जाना, पर्वत आदि को छेद देना इत्यादि चिह्न हैं जो प्रसाद के सूचक हैं ॥ १२१–१२४ ॥ शिवकृपा अधिक, अधिकतर आदि होती है । समान ही हो ऐसा नहीं है । (अधिकारी के भेद से आधिक्यभेद होता है ।) ऐसे प्रसाद को शिव और भगवती शिवा ही ठीक से समझते हैं । मैं, नारायण या और कोई नहीं समझते । अतः यदि तुरन्त मोक्ष की इच्छा हो तो शिव से अन्य सब देवताओं को छोड़ उन्हीं की शरण लेनी चाहिये । मेरी या विष्णु की भक्ति से परा गति नहीं मिलनी । शंभुभक्ति से ही सबको परम गति मिलती है यह निश्चित है ॥ १२५–१२७१/२ ॥ शिवभक्त के शरीर में जैसे प्रसादचिह्न दीखते हैं वैसे विष्णुभक्त या मेरे भक्त के शरीर में नहीं । अतः मुमुक्षु को चाहिये कि मुझे व विष्णु को छोड़ महेश्वर का ही पूरी तरह

शक्यते मनुजैर्द्रष्टुं सदा[1] [2]मूर्त्यात्मनैव तु ।
प्रसादे सति देवेशो दुर्ज्ञेयोऽपि सुरर्षभाः ॥ १३२ ॥
शक्यते मनुजैर्द्रष्टुं सदा सर्वात्मरूपतः । सर्वसाक्षिणमात्मानं विदित्वा सकलं जगत् ॥ १३३ ॥
साक्षिमात्रतया नित्यं यः पश्यति स पश्यति ।
परमाद्वैतनिष्ठा हि निष्ठाकाष्ठा सुदुर्लभा ॥ १३४ ॥
शिवादन्यतया भ्रान्त्या द्वैतं वा वेद चेत्पशुः । परमाद्वैतविज्ञानी स्वयं तु परदेवता ॥ १३५ ॥
तस्यैव परमा मुक्तिर्न हि संशयकारणम् ।
गौतमस्य मुनेः शापाद्दधीचस्य च शापतः ॥ १३६ ॥
जन्मान्तरकृतात्पापादयमर्थो न रोचते । महापापवतां नृणां परमाद्वैतवेदने ॥ १३७ ॥
प्रद्वेषो जायते साक्षाद्वेदजन्ये शिवेऽपि च । महापापवतां नृणां शिवज्ञानस्य साधने ॥ १३८ ॥
सर्वाङ्गोद्धूलने तिर्यक्त्रिपुण्ड्रस्य च धारणे । रुद्राक्षधारणे रुद्रलिङ्गस्यैव तु पूजने ॥ १३९ ॥
प्रद्वेषो जायते नित्यं शिवशब्दजपेऽपि च । अनेकजन्मसिद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम् ॥ १४० ॥
परमाद्वैतविज्ञानं जायते सुरपुंगवाः । परमाद्वैतविज्ञानी मयाऽऽराध्यः सदैव तु ॥ १४१ ॥

साक्षिमात्रतयेति । सर्वज्ञमीश्वरं दृश्यं जगच्च स्वप्रत्यग्भूताद्वितीयसाक्षिचिन्मात्रतया यः पश्यति स एव यथार्थदर्शीत्यर्थः । निगदव्याख्यानमन्यत् ॥ १३४–१४१ ॥

आश्रयण ले । वे ही कृपा करते हैं । उनकी कृपा होने पर दुर्विज्ञेय होते हुए भी उन्हें प्रत्यगात्मरूप से समझा जा सकता है । अथवा मूर्तरूप से या सर्वात्मा रूप से उस सर्वसाक्षी परमात्मा का दर्शन उनकी कृपा होने पर हो सकता है । कृपा के विना वे दुर्ज्ञेय ही हैं ॥ १२८–१३३ ॥ सबके साक्षी निजरूप आत्मा को जान कर जो सारे जगत् को सदा साक्षिमात्र ही समझता है वही वास्तविक समझदार है । यह परम अद्वैत की निष्ठा है । इस निष्ठा की चरम सीमा पाना बहुत मुश्किल है । (चरमसीमा में, जहर देने वाला और दूध पिलाने वाला एक समान शिव ही लगते हैं !) ॥ १३४ ॥ भ्रान्ति से यदि हम शिव से अन्य कुछ भी हैं यह समझते हैं तो हम पशु ही हैं । परम अद्वैत का अनुभव करने वाला तो साक्षात् परमेश्वर है ॥ १३५ ॥ उसी की स्थिति परम मुक्ति है इसमें संशय नहीं । गौतम और दधीचि के शाप के कारण तथा पूर्वकृत पापवश यह बात समझ में नहीं आती । इस विषय में रुचि ही नहीं होती । घोर पाप वालों को तो परम अद्वैत ज्ञान से द्वेष होता है । वैदिक बातों पर, शिव पर, शिवज्ञान के उपायों पर, भस्मोद्धूलन पर, त्रिपुण्ड्रधारण पर, रुद्राक्षधारण पर, शिवलिंगपूजन पर, शिवनामजाप पर, (तथा अन्य शास्त्रसिद्ध पारमेश्वर चेष्टाओं पर) पापियों को सदा क्रोध आया करता है ॥ १३६–१३९ १/२ ॥ अनेक जन्मों तक जो श्रौतस्मार्त कर्म श्रद्धापूर्वक करते रहते हैं उन्हें ही शिवकृपा से परम अद्वैत का अनुभव होता है । अद्वैत-निष्ठ मेरा भी आराध्य है ॥ १४०–१४१ ॥ नारायण, रुद्र व अन्य देवों

१ उत्क्रमन्तरधिकरणे (१.१.७.२०) 'स्यात्परमेश्वरस्यापि इच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थमि'ति भाष्यकृता । २ च. °दा सर्वात्म° ।

नारायणेन रुद्रेण तथा देवैर्विशेषतः । परमाद्वैतविज्ञानी यत्र कुत्र स्थितः सुराः ॥ १४२ ॥

तत्र संनिहिता मुक्तिर्नात्र कार्या विचारणा । परमाद्वैतविज्ञाननिष्ठस्यैव महात्मनः ॥ १४३ ॥

शुश्रूषा क्रियते येन तत्पादौ मम मस्तके । परमाद्वैतविज्ञाननिष्ठस्य परयोगिणः ॥ १४४ ॥

समं देवा न पश्यामि न हरिर्न महेश्वरः । परमाद्वैतविज्ञाननिष्ठाय परयोगिणे ॥ १४५ ॥

शरीरमर्थं प्राणांश्च प्रदद्याच्छ्रद्धया सह ।

परमाद्वैतविज्ञाननिष्ठस्य परयोगिणः ॥ १४६ ॥

शुश्रूषा शुद्धविद्यायाः साधनं हि न संशयः ।

वेदबाह्येषु तन्त्रेषु नराणां वासनाऽपि च ॥ १४७ ॥

कुतर्कवासना लोकवासना च सुरर्षभाः । पुत्रमित्रकलत्रादौ वासना चार्थवासना ॥ १४८ ॥

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादावपि वासना । पाण्डित्यवासना भोगवासना कान्तिवासना ॥ १४९ ॥

प्रद्वेषवासना रुद्रवेदनारायणादिषु । ज्ञानसाधनभूतेषु त्रिपुण्ड्रोद्धूलनादिषु ॥ १५० ॥

प्रद्वेषवासना पापवासना सुरपुंगवाः । परमाद्वैतविज्ञानजन्मनः प्रतिबन्धकम् ॥ १५१ ॥

तस्मान्मुमुक्षुः श्रद्धालुर्वासनामखिलामिमाम् । विसृज्य परमाद्वैतज्ञाननिष्ठो[1] भवेत्सदा ॥ १५२ ॥

का भी वह आराध्य होता है । परमाद्वैत का अनुभविता जहाँ कहीं हो वहीं मुक्ति की संनिधि है इसमें कोई शंका नहीं । जो व्यक्ति शिवज्ञाननिष्ठ की सेवा करता है उसके चरणों को मैं मस्तक पर धारण करता हूँ ॥ १४२–१४३ १/२ ॥ मैं, हरि या महेश्वर तत्त्वज्ञानी के समान किसी को नहीं समझते । ब्रह्मनिष्ठ के लिए आवश्यक होने पर धन, शरीर व प्राण भी श्रद्धापूर्वक दे देने चाहिये । उसकी सेवा ही शुद्ध विद्या की प्राप्ति का साधन है ॥ १४४–१४६ १/२ ॥ परम अद्वैत के साक्षात्कार के ये प्रतिबंधक हैं– वेदबाह्य शास्त्रों की वासना, कुतर्क की वासना, लोकवासना (लौकिक उन्नति की इच्छा), पुत्र, मित्र, पत्नी, धन आदि की वासना (उनमें राग), देह इंद्रिय मन बुद्धि प्राण आदि की वासना (गौणात्मा में अहन्त्वाग्रह), पाण्डित्यवासना (विद्वत्ता पाने की इच्छा या अपने पाण्डित्य का अभिमान), भोगवासना, कान्तिवासना (शरीरद्वयनिष्ठ अतिशय की प्राप्सिता),

---

१ इहामानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तधर्मपूगो ज्ञानं, मुमुक्षुरित्युपक्रमात् ।

वेदोदितमहाद्वैतपरिज्ञानस्य वैभवम् । न शक्यं वक्तुमस्माभिस्तस्मादेवोपरम्यते ॥ १५३ ॥

कथितमखिलदुःखध्वंसकं वः समस्तं परमसुखशिवात्मप्रापकं सद्य एव ।

विगतसकलदोषा वेदवेदान्तनिष्ठा हृदयकुहरनिष्ठं कर्तुमर्हन्ति चैतत् ॥ १५४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु तलवकारोपनिषद्व्याख्याकथनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच—अतीव गुह्यमादेशमनन्तार्थप्रकाशकम् । वक्ष्ये युष्माकमद्याहं शृणुत श्रद्धया सह ॥ १ ॥

॥ १४२–१५४. ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे तलवकारोपनिषद्व्याख्याकथनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ सामशाखान्तरोपनिषदोऽप्युदीरितब्रह्मात्मैकत्वपरत्वमध्यायद्वयेन प्रतिपाद्यते । अत्र हि श्रुतौ निष्प्रपञ्चमद्वितीयं ब्रह्म स्वात्मत्वेनोपदेष्टुं कार्यप्रपञ्चस्य कारणभूताद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वेनैकविज्ञानात्सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय सदृष्टान्तमुपपादितं 'उत तमादेशमप्राक्ष्यः । येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादिना 'एवं सोम्य स आदेशो भवति' इत्यन्तेन एतां श्रुतिं तात्पर्यतः संगृह्णाति--**अतीवे**त्यादिना । **अतीव गुह्य**मत्यन्तं रहस्यम् । उपदेशगम्यमिति यावत् । आदिश्यते ज्ञाप्यते तदद्वितीयं सद्ब्रह्मानेनेत्यादेशः । यद्वाऽऽदिश्यत इत्यादेश इति कर्मणि व्युत्पत्त्योक्तविधं ब्रह्मैवाऽऽदेशशब्दार्थः । **अनन्तार्थप्रकाशकमिति** । अपरिच्छिन्नार्थप्रकाशकं ब्रह्म स्वात्मनि परिकल्पितस्य सकलस्य जडप्रपञ्चस्य भासकम् ॥ १ ॥

रुद्र नारायण वेद आदि से प्रद्वेष की वासना, ज्ञान के साधन त्रिपुण्ड्रधारण, भस्मोद्धूलन आदि से द्वेष की वासना, तथा पाप की वासना ॥ १४७–१५१ ॥ इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि श्रद्धापूर्वक इन सब वासनाओं को छोड़ सदा परमाद्वैतज्ञान के उपायों का अनुष्ठान करता रहे ॥ १५२ ॥ वेदोक्त महान् अद्वैत के ज्ञान की पूरी महत्ता हम बता नहीं सकते, अतः इतना कहकर ही संतोष करते हैं ॥ १५३ ॥ समस्त दुःखों को नष्ट करने का उपाय आप लोगों को बता दिया है । इसी से परम सुखरूप शिव की आत्मरूप से सद्यः प्राप्ति होती है । जिन वैदिक व वेदान्त में श्रद्धा वालों ने अपने मन से कामादि दोष निकाल दिये हैं उन्हें चाहिये कि अपनी बुद्धिगुहा में इस तत्त्व को ही स्थापित करें ॥ १५४ ॥

आदेशकथन नामक पाँचवाँ अध्याय

(छान्दोग्योपनिषत् के छठे अध्याय की श्वेतकेतुविद्या का विस्तार और सातवें अध्याय की भूमा विद्या का परिचय देते हुए) ब्रह्मा जी बोले–आज मैं आप लोगों को उस अत्यन्त रहस्यभूत तथा शास्त्रतात्पर्यविषय ब्रह्म का उपदेश देता हूँ जो अकेला ही जगत् के अनन्त पदार्थों का अवभासक है ॥ १ ॥ जिसके विषय

यस्य श्रवणमात्रेण श्रुतमेवाश्रुतं भवेत् । अमतं च मतं ज्ञातमविज्ञातं च सत्तमाः ॥ २ ॥

एकेनैव तु पिण्डेन मृत्तिकाया यथा सुराः । विज्ञातं मृन्मयं सर्वं मृदभिन्नत्वतः सदा ॥ ३ ॥

एकेन लोहमणिना[1] सर्वं लोहमयं यथा । विज्ञातं स्याद्यथैकेन नखानां कृन्तनेन[2] च ।

सर्वं कार्ष्णायसं ज्ञातं तदभिन्नत्वतः सुराः ॥ ४ ॥

कार्यं तु कारणाभिन्नं न भिन्नं नोभयात्मकम् ॥ ५ ॥

भिन्नपक्षे तु सद्वाऽसत्कार्यं सदसदेव वा । सच्चेत्कारणसत्ता वा कार्यसत्ताऽथवा परा ॥ ६ ॥

यदि कारणसत्तैव कार्यसत्ता न चापरा । तर्हि कारणसत्तैका कथं सत्ताभिदा भवेत् ॥ ७ ॥

स आदेशो विशेष्यते–**यस्येति** । **यस्य** खलु कारणभूतस्य सद्रूपस्य ब्रह्मणः । कर्मणि षष्ठी । ब्रह्मविषयेण श्रुतिजनितज्ञानेनाश्रुतं श्रुतिजनितज्ञानाविषयीकृतमपि सर्वं कार्यं जगत्स्वकारणब्रह्मानन्यतया **श्रुतमेव भवेत्** । तथाऽमतमतर्कितमपि कार्यं जगद्यन्मननेन **मतं** तर्कितं भवति । तथैवा**विज्ञात**मनिश्चितमपि तद्यद्गोचरनिश्चयज्ञानेन तदनन्यतया **विज्ञातं** निश्चितमेव भवति तथाविधमादेशमिति संबन्धः ॥ २ ॥ नन्वन्यस्मिन्विज्ञाते कथमन्यद्विज्ञातुं शक्यते ? इत्याशङ्क्य कारणभूतस्य ब्रह्मणः कार्याज्जगतोऽनन्यत्वं दृष्टान्तैरुपपादयति–**एकेनैवे**त्यादिना । **मृदभिन्नत्वत** इति । कारणत्वेनानुगृहीतमृद्व्यतिरेकेण घटादिकार्यस्य पृथगलब्धात्मकत्वात्तदभिन्नत्वम् ॥ ३–४ ॥ नन्वेवं कारणाद्ब्रह्मणः कार्यस्य जगतोऽनन्यत्वे तस्य सविशेषत्वापत्तिरित्यवश्यं जगतस्तद्भिन्नत्वमेवैष्टव्यमित्यत आह–**कार्यं त्विति** । न भिन्नमिति प्रतिज्ञातमर्थं साधयितुं विकल्पयति–**भिन्नपक्ष** इति । तत्राऽऽद्यं पक्षमनुवदति–**सच्चेदिति** ॥ ५–६ ॥ सा किं कार्यगतसत्ता कारणसत्तैवोत ततोऽन्येति विकल्प्याऽऽद्ये कार्यस्यासत्त्वमेवाऽऽयातमिति प्रतिपादयति–**तर्हीति** । **कारणसत्तैव** चेत्कार्यस्य सत्ता **तर्हि** सा चैकेति कार्यस्य पृथक्सत्त्वाभावात्कारणाभिन्नत्वमेवेत्यर्थः[3] ॥ ७ ॥

में श्रवण कर लेने से न सुनी बातें भी सुनी गयी हो जाती हैं, न सोचा गया सोचा गया हो जाता है, न जाना गया जाना गया हो जाता है (उस ब्रह्म के बारे में मैं बताने जा रहा हूँ ।) ॥ २ ॥ हे देवताओ ! जैसे मिट्टी के एक पिण्ड को जान लेने से जितना कुछ भी मिट्टी से बना है वह सब जान लिया जाता है क्योंकि मिट्टी का कार्य सदा मिट्टी से अभिन्न होता है; जैसे सोने के एक पिण्ड को जान लेने से स्वर्णमय सभी पदार्थ जान लिये जाते हैं क्योंकि स्वर्ण के सब विकार स्वर्ण से अभिन्न होते हैं; जैसे लोहे के एक पिण्ड को जान लेने से लोहे के सब कार्य जान लिये जाते हैं क्योंकि वे उससे अभिन्न ही होते हैं (ऐसे ही ब्रह्म को जाने लेने पर ब्रह्मकार्यभूत समस्त भूतभौतिक प्रपंच जान लिया जाता है क्योंकि कार्य होने से वह अपने कारण ब्रह्म से अभिन्न है । दार्ष्टान्त के अनुरोध से दृष्टान्तों को भी विवर्त रीति से समझना चाहिये ।) ॥ ३–४ ॥ कार्य अपने कारण से अभिन्न ही होता है (क्योंकि किसी संस्थानविशेष में स्थित कारण का ही नाम कार्य है ।) कार्य कारण से न भिन्न होता है, न भिन्नाभिन्न ॥ ५ ॥ यदि कार्य को कारण से भिन्न मानें तो प्रश्न होता है कि कार्य सत् है, असत् है या सदसत् है ? यदि कहो सत् है तो पुनः शंका होती है कि क्या कारण की सत्ता कार्य की सत्ता है या कारण की सत्ता से अलग

---

१ लोहमणिना स्वर्णपिण्डेनेति भाष्यमतएव लोहमयं स्वर्णमयमिति व्याख्येयम् । २ नखनिकृन्तनेनोपलक्षितेन कृष्णायसपिण्डेनेत्यर्थो भाष्ये । ३ ङ. °क्सत्ताभा° ।

सत्तैकाऽपि भवेद्भिन्नं कारणात्कार्यसंज्ञितम् । इति वार्ता च वार्तैव कार्यसंज्ञमसत्खलु ॥ ८ ॥

सत्ताहीनस्य कार्यस्यासत्त्वमेव हि युज्यते । प्राप्तेऽसत्त्वे तु कार्यस्य सत्कार्योक्तिर्वृथा भवेत्[1] *॥ ९॥*

नैव कारणसत्तैव कार्यसत्ताऽपरैव चेत् । तर्हि सा कार्यसत्ता तु तया कारणसत्तया ॥ १० ॥

सद्रूपेणैव भिन्ना स्यादसद्रूपेण वा भवेत् ।

सद्रूपेणेति चेदेका सत्ता भिन्ना न सा भवेत् ॥ ११ ॥

नन्वेवं सत्ताया एकत्वेऽपि कारणात्कार्यं पृथगेवानुभूयत इतीमामाशङ्कामनूद्य निराचष्टे—**सत्तेति** । कारणसत्तैव कार्यसत्तेत्यङ्गीकारात्स्वभावतः कार्यमसदेवोपपन्नमिति भिन्नं कार्यं सदित्येतद्वार्तामात्रमित्यर्थः ॥ ८ ॥ एतदेवासत्यत्वमुपपादयति—**सत्ताहीनस्येति** । सत्ताहीनस्य कार्यस्य नरविषाणवदसत्त्वमेव हि युक्तम् । न ह्यन्यदीयसत्तयाऽन्यत्सद्भवति, नरविषाणस्यापि सत्त्वप्रसङ्गादित्यर्थः । अत एवास्मिन्पक्षे[2] कार्यस्यासत्त्वे सति सत्कार्यमिति वचनं निरर्थकमित्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं तर्हि कारणसत्तातोऽन्यैव कार्यसत्तेति द्वितीयः कल्पोऽस्त्वित्याशङ्कते—**नैवेति** । तन्निराकरोति—**तर्हीति** ॥ १० ॥ कारणसत्तातः पृथग्भूता सा कार्यसत्ता किं **सद्रूपेण भिन्नोतासद्रूपेणेति** विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—**सद्रूपेणेति चेदिति** । उभयोरपि सत्तयोः सद्रूपेणैकरूप्यावगमात्तेन रूपेण भेदो न युक्त इत्येकैव सत्ता भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

ही कार्य की सत्ता है ? ॥ ६ ॥ अगर कारण की ही सत्ता है, कार्य की अलग सत्ता नहीं है तब अकेली कारणसत्ता ही हुई, कार्यसत्ता कुछ हुई ही नहीं ॥ ७ ॥ सत्ता एक होने पर भी कारण से कार्य भिन्न है—यह तो केवल कहने की बात है (इसका अर्थ कुछ नहीं । पृथक् सत्ता वाली वस्तुएँ ही पृथक् देखी गयी हैं ।) कारणसत्ता ही कार्यसत्ता है ऐसा मानने का तात्पर्य यह निकलता है कि कार्य की सत्ता नहीं अर्थात् वह असत् है ॥ ८ ॥ सत्तारहित कार्य को असत् ही मानना संगत है । यों कार्य की असत्ता सिद्ध करते हुए 'कार्य सत् है' ऐसा कथन व्यर्थ हो जायेगा ॥ ९ ॥ इस दोष की निवृत्ति के लिए कहो कि कारण की सत्ता से अलग ही कार्य की सत्ता है तो यह प्रश्न उठता है कि कार्यसत्ता क्या सद्रूप होते हुए कारण सत्ता से भिन्न है या असद्रूप होने के कारण उससे भिन्न है ? यदि कार्यसत्ता भी सद्रूप ही है तब सद्रूप से एक ही सत्ता हुई, दोनों की विभिन्न सत्तायें नहीं सिद्ध हुई । (सत्ता को सामान्य मानने वाले व्यक्तिभेद तो कह नहीं सकते ।) यदि कहो असद्रूप होने के कारण कार्यसत्ता कारणसत्ता से भिन्न है तब असद्रूप होने से कार्यसत्ता सत्ता ही नहीं हुई ! जैसे शून्य असद्रूप (सद्भिन्नरूप) होने के कारण सत्ता नहीं है ऐसे ही कार्यसत्ता भी सत्ता नहीं हो सकेगी । (फलतः कार्य की पृथक् सत्ता है यह प्रतिज्ञा कर वह सत्ता ही नहीं है यह सिद्ध करने वाले केवल हास्यास्पद बनेंगे ।) ॥ १२ ॥

---

१ प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्येतेत्यर्थः । २ घ. ङ. एवमस्मि° ।

असद्रूपेण सा भिन्ना कार्यसत्ता तया यदि ।

तर्हि सा नैव सत्ता स्यादसत्त्वादेव शून्यवत् ॥ १२ ॥

यद्यसत्कार्यमिष्येत न कार्यं [1]तर्हि तद्भवेत् ।

वन्ध्यापुत्रो न कस्यापि वस्तुनः कार्यमिष्यते ॥ १३ ॥

प्रध्वंसोऽपि न कार्यं स्यात्तस्योत्पत्तेरसंभवात् । नास्ति कारकसंबन्धः[2] प्रध्वंसस्य सुरोत्तमाः ।

शून्यवन्निरुपाख्यत्वात्ततो नास्ति जनिक्रिया ॥ १४ ॥

असत्त्वेऽपि विशेषोऽस्ति कार्यस्येति मतिर्यदि ॥ १५ ॥

द्वितीयमनूद्य दूषयति–**असद्रूपेण सा भिन्नेति** । सा सत्तैव न भवति शशविषाणवदसत्त्वादेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥ एवं सत्कार्यपक्षं निराकृत्यासदेव कार्यं कारणाद्भिन्नमिति पक्षमपि निराकरोति–**यद्यसदिति** । प्रागसतः सत्तासंबन्धो ह्युत्पत्तिः परैरभिमता, सा च वन्ध्यासुतवदसतः कार्यस्य न संभवतीति तस्य कार्यत्वमेव हीयेतेत्यर्थः ॥ १३ ॥ ननु प्रध्वंसाभाववदसतोऽपि कार्यता किं न स्यादित्यत आह–**प्रध्वंसोऽपीति** । प्रध्वंसस्यापि कार्यत्वं न संभवति । उदीरितलक्षणाया उत्पत्तेस्तत्रायोगात् । उत्पत्त्यसंभवं प्रतिपादयति–**नास्तीति** । कर्तृकरणादिकारकसंबन्धवतो हि घटादेर्जनिक्रियोपलभ्यते । असतः प्रध्वंसस्य शशविषाणवन्निर्धर्मकत्वात्तथाविधधर्माश्रयत्वेन[3] भावरूपत्वप्रसङ्गात्कारकसंबन्धलक्षणो धर्मो न संभवति । अतस्तदपेक्षया जनिक्रियाऽपि नास्तीति तस्य कार्यत्वं न युक्तमित्यर्थः ॥ १४ ॥

यदि यों कार्य सत् मानने में कठिनाई होने से कहो कि कार्य असत् ही है (और कारण से भिन्न है), तब तो वह कार्य ही नहीं हो पायेगा । असद् वन्ध्यापुत्रादि किसी के कार्य कभी नहीं हुआ करते ॥ १३ ॥ आप पूछ सकते हैं कि असत् प्रध्वंस कार्य होता हुआ देखा गया है, अतः वन्ध्यासुतादि की अकार्यता में असत्त्व प्रयोजक नहीं ? इसका उत्तर है कि प्रध्वंस भी कार्य नहीं है क्योंकि उसकी उत्पत्ति आदि होना असंभव है । शून्य की तरह निर्धर्मक होने से प्रध्वंस कारकों से सम्बन्ध वाला नहीं हो सकता (अन्यथा भाव ही हो जायेगा, अभाव नहीं रहेगा) । कारकसम्बन्ध न होने से प्रध्वंस का जन्म नहीं होता । (अतः असत्त्व अकार्यत्व का प्रयोजक है, इसमें व्यभिचार नहीं । इतना जान लेना चाहिये कि जागतिक भाव-अभाव सभी वस्तुएँ प्रतीतिमात्रसिद्ध हैं, कार्य या कारण नहीं । अतः ध्वंस अभाव होने से कार्य नहीं हो सकता यह निश्चित है । फिर भी दीखता है कि दण्डप्रहार का कार्य घटध्वंस है अतः अविद्यावश वैसा व्यवहार होता है । ऐसे ही लगता है जैसे माता से पुत्र पैदा हो गया, अतः अविद्यावश कार्य-कारण का व्यवहार होता है । वस्तुतः कार्य या कारण नहीं है । मायामय कार्य मान लेने से परपक्षहानि व सिद्धान्तसिद्धि होगी ।) ॥ १४ ॥ कहा जा सकता है कि असत् होने पर भी कार्य और वन्ध्यासुतादि में कुछ अन्तर है, अतः

---

१ घ. तद्धि त° । झ. तद्भवेत्खलु । व° । २ झ. °रणसं° । ३ तथाविधो धर्मः कारकादिसम्बंधः ।

को विशेषोऽस्य संबन्धः कारकैर्यदि तत्र हि ।

विशेषे सति संबन्धः संबन्धोऽस्य स एव हि ॥ १६ ॥

जनिक्रियाश्रयत्वं चेद्विशेषोऽस्य तदाऽपि तु ।

पूर्वोक्तदोषः संप्राप्तस्तस्य नास्ति निवारकः ॥ १७ ॥

सत्तासंबन्धवत्त्वं चेद्विशेषोऽस्य न तत्पटु[1] ।

तदाऽपि दोषः पूर्वोक्तः प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ १८ ॥

नन्वसत्त्वेऽपि[2] कार्यस्यात्यन्तासतो वन्ध्यासुताद्विशेषो विद्यते, तेन च तस्य कार्यत्वं सिध्यतीति शङ्कामनुभाषते—**असत्त्वेऽपीति** । कोऽसौ विशेषः—किं कारकसंबन्धः, उत जनिक्रियाश्रयत्वम् आहोस्वित् सत्तासंबन्ध इति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—**को विशेष** इत्यादिना । निर्विशेषस्यासतः कारकसंबन्धित्वे वन्ध्यासूनोरपि सत्संबन्धित्वसंभावनया कार्यत्वप्रसक्तिरित्यवश्यं केनचिद्विशेषेण विशेषितेऽसति कारकसंबन्धो वक्तव्यः । स च विशेषोऽयमेव संबन्धश्चेत्तर्हि स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरित्यात्माश्रयता । यदि संबन्धादन्यः स विशेषः, तेनापि केनचिद्विशेषित एवासति वर्तितव्यम्[3] । स च विशेषः किं पूर्वोक्तः संबन्ध एवान्यो वा तृतीयो विशेषः ? आद्येऽन्योन्याश्रयत्वम् । द्वितीयेऽपि चतुर्थादिविशेषानङ्गीकारे चक्रकापत्तिः । अङ्गीकारे त्वनवस्थेत्यसतः कार्यस्य कारकसंबन्धलक्षणो विशेषो दुर्निरूप इत्यर्थः ॥ १५–१६ ॥ द्वितीयं प्रत्याह—**जनिक्रियेति** । जनिक्रियाश्रयत्वलक्षणो विशेषोऽपि केनचिद्विशेषितस्यासत इति वक्तव्यम् । इतरथा नरविषाणस्यापि तादृग्विशेषत्वप्रसङ्गात् । स च विशेषः किमिदमेव जनिक्रियाश्रयत्वमन्यो वा । इदमेव चेदात्माश्रयत्वमित्यादिप्रागुक्तो दोषः पर्यावर्तत इत्यर्थः ॥ १७ ॥ उक्तदोषग्रस्तत्वादेव[4] सत्तासंबन्धलक्षणो विशेष इति तृतीयः कल्पोऽपि न युक्त इत्याह—**सत्तेति** ॥ १८ ॥

असत् होने पर भी कार्य उत्पन्न हो जाता है, वन्ध्यासुतादि नहीं । तो प्रश्न होता है कि वह अन्तर क्या है ? यदि कहो कि यही अंतर है कि कार्य का कारकों से सम्बन्ध हो जाता है जबकि वन्ध्यासुतादि का नहीं—तो ऐसा कहना गलत है । कारकसम्बंध उन्हीं से देखा गया है जिनमें कोई विशेषता होती है । अतः विशेषता होने पर ही कारकसम्बन्ध हो सकता है । असत् में विशेषता कोई है नहीं । यदि कारकसम्बन्ध ही असत् की विशेषता मानो तो आत्माश्रय दोष होगा—कारकसम्बन्ध रूप विशेषता होने पर निर्भर करेगा कारकसम्बन्ध होना, एवं च कारकसम्बन्ध असम्भव हो जायेगा । (अपने पहले खुद तो कहीं नहीं पहुँचा जा सकता ! कारकसम्बन्ध से भिन्न किसी विशेषता को कहो तो भी यही न्याय लगेगा । निर्विशेष में विशेषता मानने पर वन्ध्यासुतादि में भी उसका प्रसंग हो जायेगा ।) ॥ १५–१६ ॥ यदि कहो वन्ध्यासुतादि तथा कार्य में अन्तर यह है कि कार्य जन्मक्रिया का (पैदा होने का) आश्रय बनता है, वन्ध्यासुतादि नहीं—तो भी पूर्वोक्त दोष प्राप्त होगा ही, रुकेगा नहीं । (कारकसम्बद्ध में जन्मक्रियाश्रयत्व

---

१ झ. °त्पटुः । त° । २ ङ. °सत्त्वे च° । ३ इतरथा वन्ध्यासुतेऽपि संभवादिति पूर्ववद्बोध्यम् । ४ निर्धर्मके सत्तासम्बन्धे शशशृंगे प्रसंगात्, सधर्मके च धर्मानिरूपणादित्यादयउक्ता दोषाः ।

अतोऽसतो न कार्यत्वं सदसत्त्वं न संगतम् । उक्तदोषद्वयापत्तेरतः कार्यं तु कारणात् ॥
अभिन्नमेव भेदस्यासंभवादेव वस्तुतः ॥ १९ ॥
भेदाभेदसमाख्या तु सुतरां नैव सिध्यति । कारणात्कार्यजातस्य भेदाभावाच्च वस्तुतः ॥ २० ॥
कार्यकारणभेदश्च [1]कारकव्यावृतिस्तथा । उत्पत्तिश्च विनाशश्च तथैवार्थक्रियाऽपि च ॥ २१ ॥
नामरूपविशेषश्च[2] सर्वं भ्रान्त्या प्रसिध्यति ॥ २२ ॥
अतः सर्वो विकारश्च वाचा केवलमास्तिकाः ।
अस्तीत्यारभ्यते नामधेयमात्रं हि [3]सत्सदा ॥ २३ ॥

प्रतिपादितमसतः कार्यत्वासम्बन्धम् उपसंहरति–**अत** इति । यत उक्तरीत्या नरविषाणवाद असतो विशेषसम्बन्धो दुर्निरूपः **अतः** असत्त्वाविशेषात् तद्वदेव तस्य **कार्यत्वं न** युक्तमित्यर्थः । 'सदसदात्मकं कार्यम्' इति तृतीयं कल्पं निरस्यति–**सदसत्त्वमिति** । एवं कारणाद् भिन्नस्य कार्यस्य सदसदादिविकल्पेन निरुपयितुमशक्यत्वात् कारणाभिन्नमेव तत्कार्यमङ्गी कर्तव्यम् इत्युपसंहरति–**अतः कार्यमिति** । तत्र हेतुमाह–**भेदस्येति** । भेदावगमस्य धर्मिप्रतियोगिभेदाधीन निरूपणत्वेन आत्माश्रयादिदोषग्रस्ततया परमार्थतः क्वचिदपि निरूपणासम्भवादित्यर्थः ॥ १९ ॥ **भेदाभेदेति** । भावाभावयोरेकत्र समुच्चेतुमशक्यत्वाद्भेदपक्षोक्तदोषप्रसङ्गाच्च भिन्नाभिन्नं कार्यमिति भेदाभेदपक्षस्तु **सुतरां न** युक्त इत्यर्थः । ननु कार्यस्य कारणानन्यत्वे भेदप्रतीतेः का गतिरिति ? तामाह–**कारणादिति** । परमार्थतः कार्यस्य कारणादभेदेऽप्यविद्यावशात्कार्यकारणादिभेदप्रतिभासः सिध्यतीत्यर्थः ॥ २०–२२ ॥ एवं कार्यस्य कारणमात्रत्वं प्रसाध्यास्मिन्नर्थे श्रुतिं योजयति–**अत** इति । विक्रियते विविधं क्रियत इति विकारः कार्यवर्गः। यतस्तद्भेदप्रतिभासो भ्रान्त्याऽतः सर्वोऽपि विकारो वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते न तु वस्तुतोऽस्ति । अतो घटशराव इत्यादिनामधेयमात्रमेव । सदा सर्वदा प्रध्वस्तावस्थायामिव स्थितिकालेऽपि कार्यस्य कारणमात्रत्वमेवावशिष्यते ॥ २३ ॥

मानना होगा अन्यथा वन्ध्यासुतादि में अतिप्रसंग होगा, अतः पूर्वोक्त दोष हटे बिना निस्तार नहीं । किं च जन्मक्रियाश्रयत्व भी सविशेष में मानना होगा अन्यथा पुनः अतिप्रसंग होगा । इस तरह भी पूर्व के सब दोष आयेंगे । साथ ही असत् का जन्माश्रयत्व ही तो साध्य है, उसे सिद्धवत् माना भी नहीं जा सकता ।) ॥ १७ ॥ यदि कहो कि सत्ता से सम्बन्ध वाला होना कार्य की विशेषता है जो शून्यादि में नहीं तो यह भी कोई अच्छी सूझ नहीं । पूर्वोक्त दोष तो इसमें भी यथावत् रहेंगे । (निर्विशेष में सत्तासम्बन्ध होने पर अतिप्रसंग व सविशेष में होने पर विशेष का अनिरूपण, आत्माश्रयादि दोष पहले की तरह आयेंगे । अगर निर्विशेष-सविशेष से निरपेक्ष वस्तुमात्र में सत्तासम्बन्धादि विशेष माने जायें तो शून्यादि में उनकी प्रसक्ति होने लगेगी । यदि कहो कि शून्यादि वस्तु ही नहीं जबकि कार्य तो वस्तु है अतः इसमें विशेष हो सकने पर भी शून्यादि में प्रसक्ति न होगी–तो असत् होते हुए भी कार्य वस्तु है, शून्यादि वस्तु नहीं यह कैसे पता चले ? यदि कहो कि सत्तासम्बंधादि विशेष होने से तो वही आत्माश्रयादि दोषव्रात उपस्थित है । यदि व्यवहारवश विशेष मानो तो व्यवहार मायामय मानने से भी संभव होने के कारण अर्थापत्ति निर्वीर्य हो जायेगी ।) अतः असत् कार्य हो यह संभव नहीं ॥ १८ ॥ कार्य सदसत् है ऐसा तृतीय पक्ष था (श्लो. ६) । वह तो सुनने से ही असंगत मालूम पड़ जाता है । (एक ही वस्तु दो अत्यंत विरुद्ध रूपों वाली

१ घ. च. °व्यापृति° । २ ङ. °शेषाश्च । ३ ङ. तत्सदा ।

प्रातीतिकेन रूपेण विकारोऽसत्य एव हि ।

कारणाकार एवास्य सत्यः साक्षात्सदा सुराः ॥ २४ ॥

कारणाभिन्नरूपेण कार्यं कारणमेव हि । सद्रूपेण सदा सत्यं भेदेनोक्तिर्मृषा खलु ॥ २५ ॥

अतः कारणविज्ञानात्सर्वविज्ञानमास्तिकाः । सुतरामुपपन्नं हि न संदेहोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

नन्वेवं विकारस्य नामधेयमात्रत्वेऽर्थादसत्त्वमुक्तं भवति । तादृशस्य कथं कारणभूतसद् ब्रह्मानन्यत्वं सदसतोः परस्परविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह–**प्रातीतिकेने**ति । कार्यस्य हि द्वे रूपे–पृथुबुध्नोदराद्याकारविशेषात्मकमेकं प्रातीतिकं रूपम् । तथाऽनुगतमृदात्मकमपरं कारणरूपम् । तत्र **प्रातीतिकेन रूपेणासत्य एव** कार्यवर्गः, कारणमृद्रूपेण सत्यः ॥ २४ ॥ नन्वेवं कार्यसंबन्धिकारणरूपमेकं, कारणं चान्यदित्यद्वैतकारणत्वव्याकोप इत्यत आह–**कारणाभिन्ने**ति । कार्यसंबन्धिसत्कारणाभिन्नं रूपं तत्कारणमेव नानयोर्भेदो विद्यत इत्यर्थः । एवमुक्तेऽर्थे 'मृत्तिकेत्येव सत्यमि'त्यादिकां कारणमात्रसत्यत्वप्रतिपादिकां श्रुतिं योजयति–**सद्रूपेणे**ति । श्रुतिगतैवकारस्य फलमाह–**भेदेने**ति ॥ २५ ॥ प्रतिपादितमर्थं निगमयति–**अत** इति । यतो लोके मृदादिकारणेषु ज्ञातेषु तदनन्यतया तत्कार्यघटशरावादिकमपि कारणाकारेण ज्ञातमेव भवति अतः सर्वजगत्कारणभूतसद्ब्रह्मात्मज्ञानात्तत्कार्यं सर्वमपि कारणात्मना ज्ञातमेव भवतीत्येतदुपपद्यत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

हो तो वे रूप अत्यंत विरुद्ध ही नहीं रहेंगे । परस्पर अविरुद्ध सत्-असत् मायामयता के विना असंभव है । कार्यात्मना सत् और कारणात्मना असत्–यह भी तभी कह सकते हैं जब कार्य व कारण का भेद सिद्ध हो चुके । अतः सदसत् मानना बेतुका है ।) किं च सदसत् दोनों मानने पर सत्पक्ष वाले और असत्पक्ष वाले सभी दोष प्राप्त होंगे । अतः कारण से कार्य को अभिन्न ही समझना चाहिये । उनका वास्तविक भेद असंभव है ॥ १९ ॥ कारण से कार्य का वस्तुतः भेद न होने से उनका भेदाभेद है यह कहना असंगत है ॥ २० ॥ कार्य कारण का भेद, कारकों का व्यापार, उत्पत्ति, विनाश, अर्थक्रिया (प्रयोजनसाधकता) तथा नाम-रूप के विशेष–ये सब केवल भ्रम से सिद्ध हैं ॥ २१–२२ ॥ अतः जितना भी विकार है–विविध तरह से कृत है–वह केवल 'है' ऐसा कहा जाता है इतने से ही सत्ता वाला माना जाता है । उसका होना केवल कहनेभर को है, वस्तुतः नहीं ॥ २३ ॥ व्यावृत्त, प्रतीतिसिद्ध आकार से सारा विकार असत्य ही है । उसका अनुगत कारण-आकार ही स्वयं सत्य है । (दृष्टान्त में कारणाकार की व्यावहारिक सत्ता है । वस्तुतः वहाँ भी कारण तो अवच्छिन्न चैतन्य ही है जो चैतन्य होने से वस्तुसत् है ।) ॥ २४ ॥ कारण से अभिन्न रूप से–जिस रूप से वह सत्य है उस रूप से–कार्य कारण ही है (कार्य नहीं) । सद्रूप से कारण, परमात्मा रूप से–सदा सत्य ही है । उससे भिन्न कर विकार को समझना और कहना मिथ्या है–गैर-समझी है ॥ २५ ॥ इसलिये कारण समझ लेने से सब समझ आ जाता है यह बात बिल्कुल ठीक है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ २६ ॥ जगत् का कारण एक ही है, न भिन्न (भेद वाला) और न भिन्नाऽभिन्न है । (न भिन्न है–अर्थात् एक से अधिक कारण नहीं । न भिन्नाभिन्न है–अर्थात् ऐसा भी कारण नहीं है जो एक व अनेक दोनों समझा जा सके ।) भेद तो सर्वत्र प्रतीत होने पर भी मिथ्या ही है क्योंकि

तच्च कारणमेकं हि न भिन्नं नोभयात्मकम् ।
भेदः सर्वत्र मिथ्यैव धर्म्यादेरनिरूपणात् ॥ २७ ॥
भेदे ज्ञाते हि धर्म्यादिविभागस्य च वेदनम् ।
विभेदेनैव[1] धर्म्यादौ विज्ञाते भेदवेदनम ॥ २८ ॥
भेदानिरूपणादेव भेदाभेदो न संगतः । अतश्च कारणं नित्यमेकमेवाद्वयं सुराः ॥ २९ ॥
कुलालादेर्मृदादेश्च भेदे दृष्टेऽपि[2] भूतले । अचैतन्यान्मृदादेस्तु कुलालादिरपेक्ष्यते ॥ ३० ॥
अत्र कारणमद्वैतं शुद्धं चैतन्यमेव हि । तेन नापेक्षते ह्यन्यत्कारणं चेतनात्मकम् ॥ ३१ ॥
स्वयं चेतनमप्येतत्कारणं न कुलालवत् । अपेक्षते मृदा तुल्यमचिद्रूपं तु कारणम् ॥ ३२ ॥

ननु कार्यस्य कारणज्ञानज्ज्ञानेऽपि कारणजातीयस्य तेन ज्ञातुमशक्यत्वात्कथमेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानमित्यत आह–**तच्चेति** । **तच्च** जगत्**कारणमेक**मद्वितीयमेव **न** तु **भिन्नं** नापि भिन्नाभिन्नात्मकम् । भेदस्य क्वचिदपि लब्धात्मकत्वाभावेन कारणे शङ्कितुमप्यशक्यत्वादित्यर्थः । ननु घटात्पटो भिन्न इति भेदः प्रत्यक्षतोऽनुभूयत एवेत्यत आह–**भेदः सर्वत्रेति** । धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीननिरूपणो हि भेदावभासः । भेदेन ज्ञातयोरेव धर्मिप्रतियोगित्वमित्यन्योन्याधीननिरूपणत्वेन क्वचिदपि भेदस्याऽऽत्मलाभासंभवान्मिथ्याभूत एव प्रतीयमानो भेद इत्यर्थः ॥ २७–२८ ॥ **अतश्चेति** । यतो वेद्यस्य भेदस्याभावात्तद्विषयावभासोऽपि न पारमार्थिकः **अतः** कारणाद्विदारणात्मकभेदासंस्पर्शात्**कारणं नित्यं** स्वगतसजातीय-भेदाभावा**च्चैकमेवा**द्वितीयमिति सिद्धमित्यर्थः ॥ २९ ॥ ननु लोके घटादिकार्येषूपादानं निमित्तं चोभयं पृथग्दृश्यते । तथाऽद्वितीयस्य सद्वस्तुनो निमित्तत्वेन निरुपादानं कार्यं नोत्पद्यते, तदुपादानत्वे[3] च निर्निमित्तत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य तस्योभयरूपतामाह–**कुलालादेरि**त्यादिना । मृदादेरचेतनत्वेन हि स्वातिरिक्तचेतनकुलालाद्यपेक्षा । जगदुपादानं तु स्वयमेव चेतनत्वान्नान्यं चेतनमपेक्षते । तथा चेतनत्वेऽपि [4]कुलालवत्स्वातिरिक्ताचिद्रूपोपादानापेक्षाऽपि नास्ति । अभिन्ननिमित्तोपादानस्य श्रुतत्वात् । अत्रैव श्रूयते हि–'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति । तत्रेक्षणान्निमित्तत्वं बहुभवनेनोपादानत्वं चाद्वितीयस्य सद्वस्तुनोऽवगम्यते । अतो जगतो निमित्तमुपादानं च स्वयमेवेत्यर्थः ॥ ३०–३२ ॥

भेद किसमें रहता है, किसका भेद रहता है आदि कुछ बताया नहीं जा सकता ॥ २७ ॥ पहले भेद का ज्ञान हो तब जिसमें रहेगा और जिसका होगा उनका विभाजन किया जा सकता है और भेद का ज्ञान तब हो जब पता चले कि वह किसका है और कहाँ है । अतः भेद का निरूपण असंभव है । अंधपरंपरा से ही हम भेद मानकर चल रहे हैं । (उदाहरणारूढ करने पर यह स्पष्ट हो जाता है–घट में अघट का–जो घट नहीं है उसका–ही भेद रह सकता है । अघट वह है जिसमें घट का भेद रहता है । एवं च जो भिन्न हो–भेद वाला हो–उसी का और उसी में भेद रह सकता है यह स्थिति है । यहाँ दो भेद प्रतीत हो रहे हैं–एक वह जिसके होने पर, और दूसरा वह जो रहता है । प्रथम भी भेद होने से भेद वाले

---

१ च.° देन हि ध° । २ वस्तुतस्तु 'यस्मिन् कार्ये यः कर्ता स एवोपादानम् । घटादावपि कपालाकारनिर्गतमनोवृत्त्या कुलालादेः कपालाद्यवच्छिन्नचिद्रूपत्वसम्पत्त्या उपादानत्वमस्त्येव' (न्यायरत्ना. पृ. ३३० प्र. द्वा.) इति सूचयितुमत्राऽपिशब्दः । ३ तत्सद्वस्तु यद्युपादानमेव स्यात्तर्हीत्यर्थः । ४ घ. °रिक्तचि° ।

प्रतीत्या केवलं शक्तिरचिद्रूपा तमोमयी । सर्वप्रकारैर्विद्वद्भिरनिरूप्याऽस्ति शांकरी ॥ ३३ ॥

तया दुर्घटकारिण्या तादात्म्येनैव[1] संगतम् ।

कारणं सकलस्रष्टृ सर्वसंहर्तृ चाऽऽस्तिकाः ॥ ३४ ॥

पालकं च सदा सच्च चिद्रूपत्वात्सुरोत्तमाः ।

चिद्रूपस्य तु सत्यत्वं युक्तमेवाऽऽस्तिकाः सदा ॥ ३५ ॥

नन्वविक्रियस्यासंगस्य सद्रूपस्य ब्रह्मणः कथमीदृग्विधं कारणत्वं संभवति, माययेति चेत्तर्हि तया द्वैतापत्तेरित्यत आह–**प्रतीत्येति** । **प्रतीत्या** प्रतीतिमात्रेणैव सिद्धा प्रतीत्येकशरीरेति यावत् । स्वप्रकाशब्रह्मस्वरूपाच्छादकत्वात्तमःप्रधाना निरूपणसमर्थैरपि **विद्वद्भिः** सदसदादि**सर्वप्रकारैर्निर्व**क्तुमशक्या ॥ ३३ ॥ ईदृग्विधमायातादात्म्यस्य सद्रूपे ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात्तदीयसत्त्वरजस्तमोगुणोपाधिभेदेनाविक्रियस्यापि ब्रह्मणः स्रष्टृत्वादिकमुपपद्यते । नापि द्वैतापत्तिः । मायाया अनिर्वचनीयत्वेन[2] सदन्तराभावात् ॥ ३४ ॥ एवमद्वितीयत्वं प्रसाध्य सद्रूपत्वमपि साधयति–**सदा सच्चेति** । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेश्चिद्रूपं हि जगत्कारणं ब्रह्म । तथाच विमतं सत्, चिद्रूपत्वात्, यत्तु सद्विलक्षणं नासौ चिद्रूपः, यथा रज्जुसर्प इति भावः । व्याप्तिमुपपादयति–**चिद्रूपस्येति** । जडप्रपञ्चप्रतीतिबाधसाक्षितया सर्वदाऽवस्थानाच्चिद्रूपस्य तदधिष्ठानस्य ब्रह्मणो युक्तमेव सार्वकालिकं सत्यत्वमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

में ही रहेगा और अनवस्था उत्पन्न करेगा । दोनों को एक मानने पर आत्माश्रय है ही । किंच भेद सापेक्ष वस्तु है । 'भेद'–ऐसा कभी नहीं दीखता । अमुक का अमुक में भेद अथवा अमुक अमुक से भिन्न है–ऐसे ही उसकी प्रतीति होती है । फलतः 'जिसका' और 'जिसमें' का पता लगना आवश्यक है और वह भी यों पता लगना चाहिये कि दोनों अलग-अलग हों । दोनों को एक ही समझने पर भी भेद नहीं दीखेगा । एवं च 'जिसमें' और 'जिसका'–इन दोनों का भेद (अलग-अलग) ज्ञान हो तब इनका भेद ज्ञान हो सकता है । इस तरह भी आत्माश्रय स्पष्ट है । भेद को सनातन मानकर उत्पत्ति की परेशानी दूर भी करें तो उसे जानना तो असम्भव है ही । नित्य भी उसे मान नहीं सकते क्योंकि जिसमें भेद रहता है वे वस्तुएँ अनित्य हैं तो रहने वाले भेद को भी अनित्य होना ही पड़ेगा । अतः भेद भ्रममात्रसिद्ध है ।) ॥ २८ ॥ क्योंकि भेद का निरूपण असंभव है इसलिये भेदाभेद भी असंगत होना स्वाभाविक है । अतः संसार का एक अद्वितीय नित्य शिव ही कारण है ॥ २९ ॥ यद्यपि व्यावहारिक धरातल पर उपादानकारण मिट्टी आदि और निमित्त कारण कुम्हारादि पृथक् उपलब्ध होते हैं तथापि जगत्कारण में ये पृथक् नहीं हैं–शिव ही उपादान भी है निमित्त भी । मिट्टी आदि तो जड होने से कुम्हार आदि की अपेक्षा रखते हैं जबकि प्रकृत में अद्वैत शुद्ध चैतन्य ही कारण है अतः अन्य किसी चेतन की कोई आवश्यकता नहीं ॥ ३०–३१ ॥ स्वयं चेतन होने पर भी शिव कुम्हार जैसे कारण नहीं हैं कि अपने से अतिरिक्त उन्हें कुछ चाहिये हो संसार बनाने के लिए । कुम्हार तो मिट्टी की अपेक्षा रखता है पर शिव को कोई अचेतन कारण भी नहीं चाहिये ॥ ३२ ॥ (प्रश्न होता है चेतन का कार्य जड कैसे तथा अविक्रिय से कार्योत्पत्ति कैसे ? प्रसिद्ध उत्तर है–माया से । किंतु तब शिव और माया ये दो वस्तुएँ हुईं, अद्वैत कैसे ? इस पर

---

१ च. °त्म्येन च सं° । २ कालत्रयेप्यसत्त्वेनेत्यर्थः ।

अचिद्रूपाहिरज्ज्वादेर्मृषात्वं संमतं खलु । अतस्तत्कारणं देवाः सदेवैकं च शाश्वतम् ॥ ३६ ॥
इदं सर्वं जगत्पूर्वं सदेवाऽऽसीत्सुरर्षभाः । असदासीदिति भ्रान्ता वदन्ति सुरपुंगवाः ॥ ३७ ॥

चिद्रूपस्याप्यसत्वं कुतो न भवतीत्यत आह–**अचिदिति** । **अहिरज्ज्वादे** रज्जुसर्पादिरित्यर्थः । तत्र हि मिथ्यात्वमचिद्रूपत्वेन व्याप्तं दृश्यते । तच्च चिद्रूपाज्जगत्कारणाद् व्यावर्तमानं स्वव्याप्यं मिथ्यात्वमपि व्यावर्तयतीत्यभिप्रायः । अस्मिन्प्रतिपादितेऽर्थे 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिं योजयति–**अत** इति ॥ ३६ ॥ यत उक्तरीत्या जगत्कारणमद्वितीयं सदेवातः परिदृश्यमानं नामरूपात्मकं कार्यं **सर्वं जगत्सृष्टेः पूर्वं सदेवाऽऽसीत्**–सद्रूपकारणात्मनैव वर्तते न तु नामरूपात्मनेत्यर्थः । एवं सत्कारणवादं प्रस्तुत्यैतद्दार्ढ्यार्थं श्रुत्या शून्यवाद्यभिमतमसत्कारणपक्षमुपन्यस्य तस्य निरासः कृतः । 'तद्धैके' इत्यादिना 'कथमसतः सज्जायेत' इत्यन्तेन । तस्याः श्रुतेरभिप्रायमाविष्करोति–**असदा सीदित्यादिना** । विनष्टादेव हि बीजादेरङ्कुरादिकार्योत्पत्तिदर्शनात्कारणं नानुपमृद्य प्रादुर्भावोऽस्तीत्यभावस्यैव तत्र कारणत्वम् । एवं जगन्मूलकारणमपि तादृशमसद्रूपमेवेत्येवं वदन्तोऽसद्वादिनो **भ्रान्ताः** । मृतदेवदत्तस्य पुत्रोत्पादनशक्तिवन्नष्टस्य कारणस्य कार्यजननशक्त्ययोगात् । अङ्कुरादिकार्यसमये च बीजादिकारणसंस्थानादिविशेषाणां तदवयवानामनुवृत्तेश्च नासतः कारणत्वं युक्तमिति तेषां भ्रान्तत्वम् ॥ ३७ ॥

कहते हैं–) अचेतनरूप अज्ञानैकशरीर मायाशक्ति भी केवल प्रतीतिमात्ररूप से रहती है, अतएव वास्तविक वस्तु नहीं है । शंकर की जडशक्ति का निरूपण विद्वान् भी किसी तरह नहीं कर सकते क्योंकि प्रथमतः वही नहीं है तथा जैसी है वैसी निरूपणार्ह नहीं है ॥ २३ ॥ जिसका घट पाना असंभव है उसे घटित प्रतीत करा देने वाली उस मायाशक्ति से अविविक्तरूप से सम्बद्ध शिव ही कारण हैं, सबके स्रष्टा व पालक हैं तथा संहारक हैं । (क्योंकि माया इस ढंग से शिव से सम्बद्ध है कि वह सर्वथा शिव से अलग कर नहीं समझी जा पाती इसलिये शिव का उससे भी ऐसा ही सम्बन्ध है, जैसे हम और हमारी सामर्थ्य यों जुड़े हैं कि दोनों को अलग-अलग समझना कठिन है ऐसे ही समझना चाहिये । अथवा स्फटिक में दीखने वाली लालिमा इस ढंग से उससे सम्बद्ध होती है–उसमें अध्यस्त होती है–कि स्फटिक से अलग नहीं लगती, लाल स्फटिक ऐसा ऐक्य ही लगता है, इसी प्रकार माया शिव पर अध्यस्त यों है कि मायी शिव–ऐसा ही लगता है । मायी ही सर्जनादि करता है 'मायी सृजते' (श्वे.४.९) । अध्यस्त माया के गुणवैषम्य से सृष्टि आदि कार्यवैषम्य प्रतीत हो जाता है । जैसे 'जगह बना दी, जगह है, जगह समाप्त हो गयी' आदि सारे व्यवहार होने पर भी जगह बनी आदि नहीं, नित्य है, ऐसे ही शिव स्रष्टा आदि कुछ होते हों, फलतः सृष्टि आदि कुछ होता हो, ऐसा नहीं, व्यवहारमात्र है । व्यवहार का कारण भी व्यवहार ही हो सकता है, अव्यवहार नहीं । अतः माया और तत्सम्बद्ध शिव–दोनों व्यवहार ही हैं । परमार्थ तो शिव ही हैं । अतः अद्वैत में कोई अनुपपत्ति नहीं ।) ॥ ३४ ॥ वे शिव सदा सत् हैं क्योंकि चेतन हैं । जो चित् होता है वह सत् अवश्य होता है । (चित् का असत्त्व निःसाक्षिक होने से अप्रामाणिक व अननुभाव्य है ।) किं च, अचित् रज्जुसर्पादि ही असत् देखा गया है । अतः निश्चित है कि जो असत् होता है वह अचित् होता है । एवं च चित् होने से तथा अचित् न होने से शिव सत् ही हैं तथा नित्य अद्वितीय हैं । (सत् अर्थात् जिसका कभी बाध न हो सके और चित् अर्थात् स्वप्रकाश ज्ञप्तिरूप ।) ॥ ३५–३६ ॥ यह सारा जगत् व्यक्त होने से पहले अनभिव्यक्त नाम-रूपवाला सत् ही था । कुछ भ्रान्त लोग कहते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व जगत् असत् था ॥ ३७ ॥ किन्तु वास्तविकता का विचार करें तो स्पष्ट होता है कि कारणावस्था असद्रूप नहीं हो सकती अन्यथा वन्ध्यापुत्र सभी चीजों का

असन्न कारणं युक्तं वस्तुतत्त्वनिरूपणे ।
वन्ध्यापुत्रोऽपि सर्वेषां कारणं स्यात्स्वयं खलु ॥ ३८ ॥
स्वशक्त्याऽसच्च सर्वेषां कारणं भवतीति चेत् ।
शक्तिरप्यसतो नास्ति सतो बीजस्य दर्शनात् ॥ ३९ ॥
अङ्कुरोत्पादिका शक्तिः सद्रूपस्यैव दृश्यते । खलु बीजस्य सर्वत्र नासतस्तददर्शनात् ॥ ४० ॥

तदेवोपपादयति–**असन्न कारणमित्यादिना** । न तावदसतः कारणत्वं युक्तम् । तस्य सर्वप्रकारेणापि निरुपाख्यस्य कारणत्वलक्षणभावरूपधर्माश्रयत्वायोगात्तदाश्रयत्वे च वन्ध्यासुतस्याप्यसत्त्वाविशेषात्सर्वकारणत्वं प्रसज्येतेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ नन्वसतोऽपि जगन्मूलकारणस्य स्वशक्तिवशात्कारणत्वं सेत्स्यतीति शङ्कांदूषयितुमनुभाषते–**स्वशक्त्येति** । तदेतद् दूषयति–**शक्तिरिति** ॥ ३९ ॥ अङ्कुरादिकार्यजननशक्तिरपि **सद्रूपस्यैव** बीजादेरन्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते **नासतः** । अतो दृष्टविरोधादसतः शक्तिकल्पनमयुक्तमित्यर्थः ॥ ४० ॥

कारण होने लगेगा । (उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य है ऐसा ही मानना पड़ता है क्योंकि न हो और उत्पन्न हो जाये तब तो बालू से तेल भी उत्पन्न हो सके । तिल में तेल है, इसीलिये उससे उत्पन्न हो सकता है । पेरने से पहले तरलादि रूप और तेल यह नाम प्रयोग में नहीं आता, पेरने के बाद आने लगता है । यही उत्पत्ति है । अतः 'होना' ही कारण है, 'न होना–असत्' नहीं ।) ॥ ३८ ॥ क्या यह नहीं हो सकता कि असत् अपनी सामर्थ्य से सबका कारण हो जाये ? नहीं हो सकता । (शक्ति सत् होगी या असत् । यदि असत् होगी तब तो असत् की तरह वह भी कारण नहीं हो पायेगी । यदि सत् होगी तो) शक्ति सत् बीजादि में ही देखी गयी है असत् में नहीं । अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य सब जगह सद्रूप बीज आदि में ही मिलती है, असत् में कहीं नहीं मिलती । ('न होने' में कोई सामर्थ्य हो ऐसा कोई अनुभव नहीं होता । जो कुछ लोग कहते हैं कि मणि आदि के न होने में यह सामर्थ्य है कि आग दाह आदि कर पाती है वह भी गलत है । दाह की सामर्थ्य आग में है । मणि उसे रोक सकती है क्योंकि इतना ही अनुभव है कि मणि रहने पर आग दाह नहीं कर पाती । इससे मणि के न होने में किसी सामर्थ्य की कल्पना गौरवग्रस्त, अननुभूत अतएव अप्रामाणिक है । और वहाँ भी मणि के न होने मात्र में तो कोई सामर्थ्य नहीं, मणि के न रहते जो आग है उसी में सामर्थ्य होगी । एवं च सत् में ही सामर्थ्य हो सकती है, असत् में नहीं । फिर प्रतिबंधकाभाव यदि कारणकोटि में हो तो कारणाभाव के प्रयोजकरूप प्रतिबंधक का ज्ञान असंभव ही होगा : प्रतिबंधकज्ञान तत्प्रयुक्त कारणाभावज्ञान के अधीन, वह पुनः प्रतियोगी प्रतिबंधक के ज्ञान के अधीन है । अतः प्रतिबंधक का ज्ञान असंभव है । सामान्यलक्षणा अस्वीकार्य होने से समस्त प्रतिबंधकों का ज्ञान भी होना नहीं । तब तो तदभावविशिष्ट कारणका ज्ञान सुतराम् असंभव होगा ही । पूर्व में (श्लो. १४) ध्वंसाभाव की कार्यता का भी खण्डन किया जा चुका है ।अतः जो नैयायिकों का कहना है कि जैसे अभाव कार्य होता है वैसे कारण भी, वह निराकृत हो गया । एवं च उदयन का मत कि 'भावो यथा तथाऽभावः कार्यवत् कारणं मतम् । प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥' (कुसु. १.१०) सर्वथा असंगत सिद्ध होता है । अद्वैतदीपिका एवं पंचपादिकाप्रस्थानकी व्याख्या में नृसिंह स्वामी ने बहुत विस्तार से इस विषय की परीक्षा की है ॥) ॥ ३९–४० ॥ और भी जिज्ञासा होती है

साऽपि शक्तिः सती किंवाऽसती सदसती तु वा ।

सती चेत्सा सती शक्तिः कथं वन्ध्यासुताश्रया ॥

आश्रयत्वं सतो दृष्टं खलु लोके न चासतः ॥ ४१ ॥

साऽसती चेत्कथं शक्तिः कार्यनिर्वाहिकाऽसती ॥ ४२ ॥

वन्ध्यापुत्रः स्वयं नैव कार्यनिर्वाहकः खलु ।

निर्वाहकत्वधर्मश्च सत एव हि दृश्यते ॥ ४३ ॥

शक्तिः सदसती सा चेद्दोषद्वयसमागमः ।

अतः स्वशक्त्या चासत्तु सर्वेषां नैव कारणम् ॥ ४४ ॥

विकल्पासहत्वेनापि दूषयति–**साऽपीति** । आद्यं कल्पमनूद्य निराचष्टे–**सती चेदिति** । भावरूपा शक्तिर्निरुपाख्यस्यासतः कथं धर्मः स्यात् ? न ह्यत्यन्तासतो वन्ध्यासुतादेस्तादृशशक्तियोगो दृश्यते युज्यते वा । तथाविधशक्त्याश्रयत्वं च सत एव हि बीजादेर्दृष्टं न **त्वसतो** नरविषाणादेः । अतस्तदाश्रयत्वे बीजादिवदेव भावरूपत्वप्रसङ्गादतोऽसतः सद्रूपा शक्तिरस्तीति न युक्तं कल्पयितुमित्यर्थः ॥ ४१ ॥ द्वितीयं कल्पमनूद्य निराचष्टे–**साऽसती चेदिति** । असतः कारणत्वोपपादनाय हि या शक्तिः परिकल्प्यते साऽपि यद्य**सती** स्यात्तर्हि तस्या अपि [1]वन्ध्यासुतादिवत्कार्यनिर्वहणसामर्थ्यानुपपत्तिः । नन्वसतोऽपि तथाविधसामर्थ्यदर्शनबलादभ्युपगम्यतामित्यत आह–**निर्वाहकत्वेति** । एवं चासद्रूपा शक्तिः परिकल्पिताऽपि नासतः कारणत्वमुपपादयितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ ४२–४३ ॥ तृतीयं निरस्यति–**शक्तिः सदसतीति** । **दोषद्वयसमागम** इति । सत्त्वासत्त्वपक्षोक्तयोर्द्वयोरपि दोषयोः प्रसङ्ग इत्यर्थः । प्रतिपादितमसतोऽकारणत्वं निगमयति–**अत** इति ॥ ४४ ॥

कि असत् में जो सामर्थ्य मानी जाये वह सत् हो, असत् हो या सदसत् हो ? सत् होने पर उसका असत् में रहना नहीं बनेगा । संसार में सत् का आश्रय सत् ही देखा गया है असत् नहीं (अतः सत् शक्ति का आश्रय मानने पर असत् की सत्त्वापत्ति होगी जिससे प्रतिज्ञाहानि हो जायेगी) ॥ ४१ ॥ यदि शक्ति असत् है तब वह, जो असत् है–नहीं है–कार्य का निर्वाह करने वाली कैसे होगी ? (कहीं नहीं देखा कि जो रोटी नहीं है वह पेट भरने का कार्य कर दे !) जब वन्ध्यापुत्रादि स्वयं ही असत् होने से कार्यकारी नहीं तो उनमें स्थित असत् शक्ति क्योंकर वैसी होगी ? कार्य का निर्वाह करना–यह विशेषता भी संसार में सत् वस्तुओं में ही देखी गयी है । (अतः शक्ति या उसके आश्रय में इस विशेषता को मानने का पर्यवसान उन्हें सत् मानने में होने से प्रतिज्ञाहानि ध्रुव है ।) ॥ ४२–४३ ॥ यदि शक्ति को सदसत् उभयरूप मानें तो (प्रथमतः एक ही वस्तु सद् व असत् दोनों हो यही असंभव है, तथा) सत् पक्ष व असत् पक्ष–दोनों ही पक्षों के दोष प्राप्त हो जायेंगे जिससे सदसत् भी उसे मान नहीं सकते । अतः अपनी शक्ति से असत् सबका कारण है–यह मत भ्रममात्र ही है ॥ ४४ ॥ असत्कारणवाद गप्प ही है, किसी युक्ति पर स्थित नहीं । इसलिये हे आस्तिको ! सत् ही सबका कारण है, असत् नहीं ॥ ४५ ॥

सृष्टि से पूर्व यह सारा प्रपंच कारणरूप सत् ही था । वह सत् कारण अद्वितीय है और उत्पत्ति

---

१ घ. ङ. °सुतव° ।

तस्मात्सोऽयमसद्वादो जल्पमात्रं न युक्तिमान् ।

अतः सदेव सर्वेषां कारणं नासदास्तिकाः ॥ ४५ ॥

सृष्टेस्तु प्रागिदं सर्वं सदेवाऽऽसीत्तु कारणम् । तच्च कारणमाद्यन्तविनिर्मुक्तं सदद्वयम् ॥ ४६ ॥

पूर्वकल्पप्रपञ्चोत्थसंस्कारेणानुरञ्जितम् । कालकर्मविपाकेन[1] सत्त्ववृत्तिसमाश्रितम् ॥ ४७ ॥

एवमसत्कारणवादस्यायुक्तत्वाच्छ्रुतौ तुशब्देन तन्निराकृत्य यत्प्रकृतसत्कारणवादनिगमनम् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति तद्दर्शयति–**अत** इति । **नासदि**ति श्रुतिगततुशब्दाभिप्रायकथनम् ॥ ४५ ॥ एवमेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तदुपपादनाय मृदादिदृष्टान्तैः[2] कार्यस्य कारणानन्यत्वं प्रसाध्य, किं तदेकं वस्तु यद्विज्ञानात्सर्वं विज्ञायेतेत्याकाङ्क्षायां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इति सदद्वितीयं ब्रह्मोपदिष्टम् । तत्कार्यत्वे हि जगतस्तत्कारणविज्ञानेन विज्ञातत्वमित्यभिप्रेत्य[3] तत्कार्यत्वप्रतिपादनाय तत्सकाशात्सृष्टिराम्नायते 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिना । तां सृष्टिं श्रुत्यभिप्रेतार्थाभिधानपुरःसरं गृह्णाति–**तच्चे**त्यादिना । **आद्यन्तविनिर्मुक्तमि**ति । आदिरुत्पत्तिरन्तो विनाशस्तदुभयविनिर्मुक्तम् ॥ ४६ ॥ नन्वद्वितीयात्सद्रूपादेकविधात्कथमनेकविधकार्यप्रपञ्चोत्पत्तिरित्यत आह–**पूर्वकल्पे**ति । अतीतकल्पप्रलीनप्रपञ्चजनिता या वासना तदनुभवजनितो यश्च संस्कारस्तदुभयसंवलितमित्यर्थः । **कालकर्मविपाकेने**ति । कालकृतः प्राणिकर्मणां पुण्यपापरूपाणां यः परिपाकः फलप्रदानौन्मुख्यं तेनेत्यर्थः । **सत्त्ववृत्तिसमाश्रितमि**ति । अन्तःकरणोपादानभूतसत्त्वपरिणामरूपा स्रष्टव्यकार्यप्रपञ्चविषया वृत्तिस्तयाऽवच्छिन्नमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

व नाश से रहित है ॥ ४६ ॥ युक्तकाल और कर्मविपाक के निमित्त से पूर्व कल्प के प्रपंच से उत्पन्न संस्कारों से माया की सात्त्विक वृत्ति से अवस्थित उस मायाशक्ति वाले चित् ने सृष्टि के उद्देश्य से विचार किया 'मैं बहुत हो जाऊँ' । तदनंतर पूर्वकृत सृष्टि के संस्कारों के अनुसार पहले उसने स्वयं को आकाश बनाया । आकाश बने हुए उसी शिव ने स्वयं को वायु बनाया । इसी तरह तेज, जल और पृथ्वी बनाये । प्रकृत उपनिषत् में पृथ्वी को अन्न कहा गया है ॥ ४७–४९ ॥ पुनः उस कारणब्रह्म ने उन पाँचों भूतों के जितने अंशों का पंचीकरण करना था उतने अंशों को पहले दो-दो बराबर हिस्सों में बाँटा । फिर एक-एक हिस्से को चार-चार हिस्सों में बाँटा और एक-एक हिस्से को यथावत् रखा । यों पचास प्रतिशत का एक और साढ़े बारह प्रतिशत के चार–इस प्रकार पाँच-पाँच हिस्से महाभूतों के हो गये । तब आकाश के पचास प्रतिशत वाले हिस्से में वायु आदि के साढ़े बारह प्रतिशत वाले एक-एक हिस्से का संमिश्रण किया जिससे पुनः एक सौ प्रतिशत वाली अर्थात् पूरी वस्तु बन गयी जिसमें अधिक हिस्सा आकाश का होने से तथा जो पाँचों भूतों का मिला हुआ रूप होने से पंचीकृत आकाश कहा जाता है । ऐसे ही पचास प्रतिशत वाले वायुभाग में वायु से अतिरिक्त चारों भूतों के साढ़े बारह प्रतिशत वाले हिस्से मिलाकर पंचीकृत वायु बनी । इसी तरह पंचीकृत तेज, पंचीकृत जल और पंचीकृत पृथ्वी बने ।

---

१ कालः कर्मविपाकश्चानयोः समाहारस्तेनेत्यर्थः । कालश्च मायाचित्सम्बन्ध इत्युक्तं (२.२.१०) इति बोध्यम् । अतएव टीकाव्याख्यापि युक्ता, कालस्य पदार्थान्तरत्वानभ्युपगमात् । २ घ. ०न्तैः कार० । ३ ङ. च ०ज्ञानत्व० ।

सृष्ट्यर्थमैक्षत प्राज्ञा बहु स्यामिति शक्तिमत् । पुनस्तत्पूर्वसंस्कारादाकाशं वायुमादितः ॥ ४८ ॥

सृष्ट्वा तेजस्ततः सृष्ट्वा पुनः सृष्ट्वा त्वपस्ततः ।

अन्नशब्दोदितां देवाः ससर्ज पृथिवीं पराम् ॥ ४९ ॥

तत्पुनः कारणं ब्रह्म तानि भूतानि पञ्च च ।

एकैकं द्विविधं कृत्वा तेषां मध्ये सुरोत्तमाः ॥ ५० ॥

अंशान्पञ्च समादाय तेषामेकैकमास्तिकाः । कृत्वा चतुर्धा तेष्वंशानादाय चतुरः सुराः ॥ ५१ ॥

यथाक्रमेण भूतानां चतुरस्तांश्च कारणम् । यथाक्रमेण भूतार्धेनैकेनैकं करोति तत् ॥ ५२ ॥

एवमंशान्तरानेतानादाय चतुरः स्वयम् । एकं भूतान्तरार्धेन करोति क्रमशः सुराः ॥ ५३ ॥

बहु स्यामिति । उपादानान्तरनैरपेक्ष्येण स्वात्मरूपेणैव बहुविधं जगद्भवेयमित्यर्थः । ननु निर्विकारस्य निरवयवस्य चिद्रूपस्याऽऽत्मनो बहुभवनासंभवात्तद्योग्यं सांख्याद्यभिमतप्रधानमेव 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति श्रुतिवाक्येन प्रतिपाद्यत इति चेत् ? मैवम् । तस्याचेतनत्वेनेक्षणासंभवात् । अत एव भगवान्बादरायणः सूत्रयामास–'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति । कथं तर्ह्युक्तविधस्य ब्रह्मणो बहुभवनसंभव इति ? तत्राऽऽह–**शक्तिमदिति** । शक्तिः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका माया तस्याः सांख्याद्यभिमतप्रकृतिवत्स्वातन्त्र्यशङ्का मा भूदिति शक्तिपदेनाभिधानम् । शक्तिमत्त्वं च परशिवस्य श्वेताश्वतरैराम्नायते–'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इति । यद्यपि छन्दोगशाखायां तेजःप्रभृतेरेव सृष्टिराम्नाता न वियद्वाय्वोस्तथाऽपि[1] तैत्तिरीयके तयोरपि सृष्टिराम्नातेति गुणोपसंहारन्यायेन तामत्रोपसंहृत्य दर्शयति–**पुनस्तदिति** । बादरायणोऽपि वियद्वाय्वोरुत्पत्तिम् 'न वियदश्रुतेः' 'एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः' इत्यधिकरणाभ्यां निर्णीतवान् । श्रुतौ 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादिना यां तेजोवन्नसृष्टिराम्नाता तामाह–**सृष्ट्वेति** । **ततस्तस्माद्वायुरूपापन्नात्परमात्मनस्तेजः सृष्ट्वा पुनस्तेजोरूपापन्नात्त्वस्मादेवापः** ससर्जेत्यर्थः । एवं चात्र तत इति 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इतिविहितापादाने पञ्चमी न, तु दिग्योगलक्षणानन्तर्यपञ्चमी । अनन्तरमित्यध्याहारसापेक्षाया उपपदविभक्तेस्तन्निरपेक्षत्वेन कारकविभक्तेर्बलीयस्त्वात् । न चैवं तेजसः सद्रूपब्रह्मजत्वव्याकोपः । वायोस्तत्त्वतो ब्रह्माभेदात् । बादरायणोऽप्यमुमर्थं सूत्रयामास–'तेजोऽतस्तथा ह्याह' इत्यादिना । **अन्नशब्दोदितामिति** । 'अन्नमसृजन्त' इति श्रुतौ या पृथिव्यन्नशब्देनाभिहिता तामित्यर्थः । श्रुतिगतान्नशब्दस्य पृथिव्यभिधायकत्वं च व्यासेन प्रतिपादितम्–'पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः'[2] इति । **परामिति** । अपञ्चीकृतत्वेन सूक्ष्मामित्यर्थः ॥ ४८–४९ ॥ श्रुतौ तेजोबन्नसृष्टेरनन्तरं यत् त्रिवृत्करणमाम्नातं 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्' इति, तद् भूतसृष्टौ वियद्वायुसृष्टेरपि उपसंहारात् पञ्चीकरणस्योपलक्षणम् इति तद् दर्शयति–**तत्पुनरित्यादिना** । एतच्च पञ्चीकरणं शिवमाहात्म्यखण्डस्य दशमेध्याये विस्तरेण प्रागस्माभिः प्रतिपादितम् । **तेष्वंशानादायेति** । तेषु विंशति संख्याकेषु चतुर्धा कृतांशेषु वियदर्धसम्बन्धिनः चतुरोंशान् आदाय वाय्वादीनां चतुर्णां भूतानां सम्बन्धिनः तांश्चतुरोऽर्धांशांश्च आदाय कारणं ब्रह्म एकैकेन अर्धेन एकैकमंशं योजयति । एवं वाय्वादिभूतार्धसम्बन्धिनोऽपि चतुरोंशानादाय तत्तद्भूतव्यतिरिक्तभूतार्धैश्चतुर्भिरेकमेकं संयोजयतीत्यक्षरार्थः ॥ ५०–५४ ॥

इस प्रकार सारे भूतों को पंचीकृत कर कारणब्रह्म ने ब्रह्माण्ड व भुवन बनाये ॥ ५०–५४ ॥ कालानुसार तथा प्राणिकर्मों के हिसाब से अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज्ज–चारों तरह के प्राणी बनाये । (प्राणी अर्थात् शरीर, क्योंकि चेतन तो प्रविष्ट शिव पृथक् कहा जा रहा है और जीव की उत्पत्ति होती भी

---

१ घ. °द्वायोस्त° । २ इहच्छान्दोग्येऽन्नशब्दः पृथ्वीपरः, भूतोत्पत्तिप्रवाहस्य प्रवृत्तत्वात्, 'यत्कृष्णं तदन्नस्ये'ति तस्या एव यत्कृष्णरूपं तस्यान्नवाच्य उक्तत्वात्, 'अद्भ्यः पृथिवी'ति वाक्यान्तराच्चेति प्रसिद्धिरपि बाध्यतेऽधिकारादिभिरिति सूत्रार्थः ।

एवं भूतानि सर्वाणि पञ्चीकृत्य सुरर्षभाः ।

अण्डानि भुवनान्याशु करोति ब्रह्म कारणम् ॥ ५४ ॥

अण्डजं जारजं चैव स्वेदजं चोद्भिजं तथा । करोति कालपाकेन प्राणिकर्मवशेन च ॥ ५५ ॥

[1]ब्रह्म सर्वत्र चिद्रूपेणैवानुप्राप्य सात्त्विकाः । पृथङ्नामानि रूपाणि कुरुते पूर्वकल्पवत् ॥ ५६ ॥

इदं सर्वं जगत्सत्यमिव भातमपि स्वतः । कारणव्यतिरेकेण नास्त्येवात्र न संशयः[2] ॥ ५७ ॥

'अण्डजं[3] जारजमुद्भिज्जमि'तिश्रुतेरभिप्रेतमर्थं दर्शयति–अण्डजमिति । स्वेदजस्य यूकादेरण्डजान्तर्भावमभिप्रेत्य श्रुतौ त्रैविध्यमाम्नातम् । अत एवाऽऽहुर्भाष्यकाराः–'स्वेदजसंशोकजयोरण्डजोद्भिज्जयोरपि (रेव) यथासंभवमन्तर्भावः' इति । 'सेयं देवतैमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्' इति श्रुतिवाक्यस्यार्थमाह– ब्रह्मेति । जगत्कारणं ब्रह्म जलतरङ्गबुद्बुदादिषु सूर्यबिम्बवत्सर्वत्र ब्रह्मेन्द्रादिसर्वशरीरेषु चिद्रूपेणैवानुप्राप्य पूर्वकल्पानुसारेणासौनामाऽयमिदंरूपमिति नामरूपे व्याकरोदित्यर्थः ॥ ५५–५६ ॥ मृदादिदृष्टान्तैः प्रागुपपादितं कार्यस्य कारणानन्यत्वं पुनर्द्रढयितुं त्रिवृत्कृतस्थूलभूतकार्यप्रपञ्चस्याप्यत्रिवृत्कृतकारणभूततेजोबन्नमात्रत्वमग्न्यादिभिश्चतुर्भिरुदाहरणैः श्रुतौ दर्शितम् 'यदग्ने रोहितं रूपम्' इत्यादिना । इदं पञ्चीकृतभूतकार्यं सर्वं जगत्परमार्थवद्भातमपि कारणसूक्ष्मभूतव्यतिरेकेण नैवास्ति ॥ ५७ ॥

नहीं ।) ॥ ५५ ॥ जैसे सूर्य जल तरंग बुद्बुदा आदि में प्रविष्ट हो जाता है ऐसे ब्रह्म ही सर्वत्र प्रविष्ट हुआ और पूर्वकल्प की तरह उसने अलग-अलग नामों को और रूपों को व्यवस्थित किया । (अचिन्त्य अनन्त शक्ति वाले महादेव का बुद्धि आदि से सम्बन्ध होता है जिससे बुद्धि ही चेतना वाली लगने लगती है जैसे सूर्य से सम्बन्ध होने पर दर्पण प्रकाश वाला दीखने लगता है । इससे महादेव का स्वरूप बुद्धि से अलग कर समझना मुश्किल हो जाता है और लगने लगता है कि महादेव ही–मैं ही–सुखी, दुःखी, मूढ इत्यादि हूँ । बुद्धि आदि से पृथक् हो प्रतीत न होना, उससे एकमेक हो प्रतीत होना, यही जीवरूप से शिव का प्रवेश है । 'अनुप्रवेश' में 'अनु' का अर्थ है लिंगसम्बन्ध के पश्चात् ।) ॥ ५६ ॥ यह सारा जगत् सत्य की तरह प्रतीत होता हुआ भी कारण शिव से पृथक् स्वतः कुछ भी नहीं है । (अथवा श्लोकार्थ है– पंचीकृत भूतों का कार्य यह सारा जगत् स्वतः–अपने स्थूल रूप से–सत्य लगता हुआ भी अपने कारणरूप सूक्ष्म महाभूतों से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।) ॥ ५७ ॥ पंचीकृत अग्नि में जो लाल रूप है वह तो अपंचीकृत तेज का है । जो सफेद है वह अपंचीकृत जल का है । जो काला है वह सूक्ष्म पृथ्वी का है ॥ ५८ ॥ इन तीन रूपों से अतिरिक्त पंचीकृत अग्नि कुछ नहीं है । ये तीन रूप तो (व्यवहारदृष्ट्या) सच्चे हैं, इनसे भिन्न जो स्थूल अग्नि है वह केवल बात ही बात है, कहने को

---

१ ङ. कर्म । २ अस्यानुवादस्थानीयं भाष्यम्–'सर्वं च नामरूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातं स्वतस्त्वनृतमेवे'ति (पृ. २३८ छां. म.अ.सं.) । ३ घ. °जं जरायुज° ।

[1]यदग्ने रोहितं रूपं तद्रूपं तेजसः सदा ।
यच्छुक्लं तदपां रूपं यत्कृष्णं भौममेव तत् ॥ ५८ ॥
नास्ति रूपातिरेकेण सदा सोऽग्निः सुरर्षभाः ।
वाचारम्भणमात्रो[2] हि विकारो वह्निसंज्ञितः ॥ ५९ ॥
त्रीणि रूपाणि हे देवा एव सत्यं न चानलः ।
यद्भानो रोहितं रूपं तद्रूपं तेजसः सदा ॥ ६० ॥
यच्छुक्लं तदपां रूपं यत्कृष्णं भौममेव तत् ।
नास्ति रूपातिरेकेण सदाऽऽदित्यो न संशयः ॥ ६१ ॥
भ्रान्त्या केवलमादित्य इत्याहुरविवेकिनः । एवं चन्द्रश्च विज्ञेयो विद्युच्च सुरपुंगवाः ॥ ६२ ॥
घटकुड्यादयो भावा भूतानि भुवनानि च । सर्वं ब्रह्मातिरेकेण नास्ति ब्रह्मैव सत्सदा ॥ ६३ ॥

कथमेतदुपपद्यत इत्याशङ्क्योपपादयति–**यदग्नेरिति**[3] । त्रिवृत्कृतभूतकार्येष्वग्न्यादिषु लोहितशुक्लकृष्णात्मकास्त्रयो वर्णा अवभासन्ते । तत्र यल्लौहित्यं तदत्रिवृत्कृतस्य सूक्ष्मस्य तेजसो रूपम् । यच्छौक्ल्यं तदपाम् । यत्कार्ष्ण्यं तद्भूमेः ॥ ५८ ॥ नन्वेषां रूपाणामन्यदीयत्वेऽप्यग्निर्नाम धर्मी कुतो न स्यादित्यत आह–**नास्तीति** । एतद्रूपत्रयमेव हि मिलितमग्न्यादिपदेनाभिधीयते, न तु ततोऽतिरिक्तं किंचित्तत्त्वान्तरमस्तीत्यर्थः । ननु दाहपाकादिसमर्थत्वेनानुभूयमानोऽग्न्यादिपदार्थः कथमपलपितुं शक्यत इत्यत आह–**वाचारम्भणमात्र** इति । कारणभूतरूपत्रयव्यतिरेकेण योऽयमग्न्यादिपदाभिधेयो विकारः संस्थानविशेषः स वाचैव केवलमारभ्यते न तु वस्तुतोऽस्तीत्यर्थः ॥ ५९–६१ ॥ **भ्रान्त्येति** । कार्यस्य कारणात्पृथक्त्वेन व्यवहारो भ्रमकृत इत्यर्थः । 'यच्चन्द्रमसो रोहितं रूपम्' इत्यादिना श्रुतौ विस्तरेणोक्तमर्थमतिदेशेन कथयति–**एवमिति** ॥ ६२ ॥ **घटकुड्यादय** इति । यथा चेमेऽग्न्यादयः कारणभूततेजोबन्नव्यतिरेकेण न सन्त्येवं भूतभौतिकात्मकं सर्वं जगत्कारणभूतब्रह्मव्यतिरेकेण नैवास्ति । सद्रूपं तदेव सर्वदा विद्यत इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

तो वह अग्नि है लेकिन वस्तुतः कुछ नहीं है । इसी तरह सूर्य के लाल, सफेद और काला ये तीनों रूप कारणरूप सूक्ष्म भूतों के ही हैं । उनसे अतिरिक्त सूर्य भी केवल नाममात्र है, कोई वस्तु नहीं । कारण से पृथक् कार्यरूप सूर्य कोई वस्तु है ऐसा अविवेकी लोग केवल भ्रम से कहा और समझा करते हैं । ऐसे ही चाँद, बिजली, घड़ा, दीवाल आदि वस्तुएँ, प्राणिशरीर, भुवन आदि सभी स्वकारणातिरिक्त कुछ नहीं

---

१ ङ. ॰दग्नौ रो॰ । २ वागेवालम्बनमस्येति नाममात्रं वर्तते नतु वस्तुसत्किंचनास्त इत्यर्थः । ननु वाह्यार्थापलापकक्षपणपक्ष एवमिति चेन्नान्तर्वहिश्च परमार्थसन्नित्यज्ञानं शिवरूपं वरीवर्तीति नो मतं तन्मते तथानभ्युपगम इति विशेषात् ।

पूर्वपूर्वभ्रमोत्पन्नवासनाया बलेन तु । देहेन्द्रियादिसंघातेऽहंमतिर्जायते दृढम् ॥ ६४ ॥
देहेन्द्रियादयो भावा नाहमर्था निरूपणे । भौतिकत्वाच्च भूतांशैः सदैवाऽऽप्यायितत्वतः ॥ ६५ ॥
मृदम्भसा यथा भित्तिर्निर्मिता वै मृदम्भसा । आप्यायते तथा भुक्तैर्भूतैर्देहादयोऽपि च ॥ ६६ ॥
अतो देहादिसंघातेऽहंममेत्यादिकां[1] मतिम् । विसृज्य साक्षिचैतन्ये विद्वान्कुर्यादहंमतिम् ॥ ६७ ॥

ब्रह्मणः परमार्थत्वे तत्त्वमसीति तदात्मकतयाऽनन्तरमुपदेक्ष्यमाणो जीवोऽपि परमार्थ इति तदेकविषयोऽहंप्रत्ययः [2]कथमसत्यभूतकार्येष्वसत्येषु देहादिष्वहं मनुष्य इति जायत इत्यत आह–**पूर्वपूर्वेति** । गतजन्मभ्रमजनितवासनामूल इदानीं देहादावहमिति भ्रमः[3] । इत्थं गतजन्मन्यपीत्यनादित्वान्नानवस्थेत्यर्थः ॥ ६४ ॥ 'अन्नमशितम्' इत्यारभ्य 'दध्नः सोम्य' इत्यतः प्राक्तनया श्रुत्या मनोवाक्प्राणमांसलोहितमज्जाद्यात्मकस्य शरीरस्य जडभूतत्रयकार्यत्वेन जडत्वाच्चेतनैकगोचरमहंप्रत्ययं प्रति परमार्थतो न विषयत्वमिति प्रपञ्चितम् । तत्संग्रहेण व्याकरोति–**देहेन्द्रियादय** इति । भ्रान्त्यैवाहमर्था देहादयो नतु निरूपणे । पितृमातृभुक्तभूतकार्यत्वात्स्वयं भुज्यमानतेजोबन्नलक्षणभूतत्रयांशैः स्थविष्ठमध्यमसूक्ष्मैरुपचयाच्चेत्यर्थः ॥ ६५ ॥ उपचयस्तावद्देहादेरन्नादिभिरुपलभ्यते, अत एव तस्य निर्माणमपि तैरेवेत्यत्र निदर्शनमाह–**मृदम्भसेति** ॥ ६६ ॥ व्याख्यातायाः श्रुतेः फलितं तात्पर्यमाह–**अत** इति । यतो देहेन्द्रियमनसां वाचारम्भणमात्रं तेजोबन्नभूतकार्यत्वेनानात्मत्वमतस्तत्राहमित्यात्ममतिं परित्यज्य कूटस्थनित्यचिदात्मन्येव तां कुर्यादित्यर्थः ॥ ६७ ॥

हैं और अंतिम कारण ब्रह्म ही है अतः ये सभी ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी नहीं हैं ॥ ५९–६३ ॥ **पूर्व-पूर्व भ्रमों से उत्पन्न वासनाओं के निमित्त से देह-इन्द्रियसंघात में प्रतिजन्म 'यह मैं हूँ' ऐसा दृढ भ्रम हो जाता है** । (यहाँ इस शंका का परिहार है कि सत्य वस्तु का ज्ञान संस्कार द्वारा भ्रम का कारण रज्जुसर्पादि स्थलों में देखा गया है अतः प्रपंचभ्रम भी सत्य प्रपंच के ज्ञान की अपेक्षा रखेगा जिससे कोई प्रपंच सत्य मानना पड़ेगा और न मानने पर भ्रम अनुपपन्न होकर दृश्यमान प्रपंच को ही सत्य स्वीकारना होगा । पुराण बता रहा है कि भ्रम के लिए संस्कार भले ही आवश्यक हो किन्तु वह सत्य वस्तु के ज्ञान से उत्पन्न होना चाहिये ऐसी बात नहीं । पूर्व-भ्रम-जनित संस्कार भी उत्तर-भ्रम का कारण देखा गया है । जादूगर द्वारा दिखाये मायिक साँप के ज्ञान से उत्पन्न संस्कारवश भी कभी रस्सी में साँप दीख जाता है । पागलपनरूप दोष से किसी को लगता है 'मैं भारत का प्रधान मंत्री हूँ' तो क्या यह जरूरी है कि माना जाये वह सचमुच कभी प्रधान मंत्री रह चुका है ? अथवा 'मैं ही मसीहा हूँ' ऐसे भ्रम वाले को किसी सच्चे मसीहे का ज्ञान हो चुका है ? एवं च न पुरतः दृश्यमान और न संस्कारप्रद कोई प्रपंच सत्य है ।) ॥ ६४ ॥ **देह इन्द्रिय आदि पदार्थ वस्तुतः 'मैं' शब्द का अर्थ नहीं हैं, आत्मा नहीं हैं–क्योंकि ये भौतिक हैं । इनकी उत्पत्ति, वृद्धि आदि सब महाभूतों से ही होती है अतः इनका भौतिकत्व निश्चित है** ॥ ६५ ॥ **मिट्टी व जल से निर्मित दीवाल जैसे मिट्टी और जल से ही उपचित होती है वैसे ही खाये गये महाभूतों से देहादि भी उपचित (पुष्ट)**

---

१ आदिना देहेन्द्रियादिगतोत्तमत्वादिना श्रेष्ठोहमित्यादयो निश्चया गृह्यन्ते । २ झ. कथं सत्य° । ३ एतेन सत्यवस्तुज्ञानं संस्कारद्वारा भ्रमहेतुरिति शंकाऽपास्ता लाघवादनुभवाच्च ज्ञानमेव तथा तत्पुनः सत्यस्यासत्यस्य वा वस्तुनोऽस्तु । अतएव पूर्वं जीवः शिव एव ततो विस्मृत्य स्वशिवत्वमसौ बद्धः प्रत्यभिज्ञया च मोक्ष्यत इत्यपि निराकृतं, सादित्वे बन्धस्य किमिति दुष्टात्माऽयं न पुनरुत्पत्स्यते ॥

दध्नः सर्पिर्यथा जातं मन्थनेन सुरर्षभाः ।

तथा बुद्ध्यादयो भावा भूतेभ्यश्चोद्भवन्ति हि ॥ ६८ ॥

भौतिकं देहसंघातं विसृज्य मतिमान्पुनः । सर्वसाक्षिणि चिद्रूपे कुर्यान्नित्यमहंमतिम् ॥ ६९ ॥

[1]अन्नेनाऽऽप्यायतेऽभुक्ते[2] नाधीतं तस्य भासते ।

ततोऽपि बुद्धिरन्नस्य कार्यमेव न संशयः ॥ ७० ॥

अतोऽपि बुद्धिमन्नस्य कार्यं त्यक्त्वा विविक्तधीः ।

सर्वसाक्षिणि चिद्रूपे कुर्यान्नित्यमहंमतिम् ॥ ७१ ॥

देहेन्द्रियादिसंघातेऽहंममेत्यादिकां मतिम् ।

त्यक्त्वा स्वात्मनि चिद्रूपे यदाऽपीतो भवत्ययम् ॥ ७२ ॥

तदा स्वपिति दुःखादिदर्शनं च न विद्यते । स्वात्मरूपसुखप्राप्तिरेवं दृष्टाऽस्य देहिनः ॥ ७३ ॥

अतोऽपि मतिमान्नित्यं त्यक्त्वा देहादिगां धियम् ।

सर्वसाक्षिणि चिद्रूपे साक्षात्कुर्यादहंमतिम् ॥ ७४ ॥

तेजोवन्नविलक्षणानां भूतेन्द्रियमनसां कथं तत्कार्यतेति चेत् ? दधिविलक्षणस्य सर्पिषो यथा दधिकार्यतेत्युदाहृतं श्रुत्या 'दध्नः सोम्य' इति तद्विशदयति–**दध्नः सर्पिरिति** । दध्नो यथा मन्थनेन विलक्षणः **सर्पिष्परिणामः** । एवं तेजोवन्नानामौदर्याग्निकृतपाकविशेषेण देहेन्द्रियमनोरूपपरिणामविशेष इत्यर्थः ॥ ६८ ॥ दधिसर्पिर्दृष्टान्तेन देहादेर्भौतिकत्वसमर्थनेन प्रागुक्ताया व्यतिरिक्तात्मनिष्ठाया निरपवादत्वं सिद्धमित्याह–**भौतिकं देहसंघातमिति** ॥ ६९ ॥ वाक्प्राणयोः कार्ययोरस्तु भौतिकत्वं मनस्तु नित्यमिति वैशेषिकाः तत्कथं तस्य भौतिकत्वमित्याशयवता पुत्रेण पृष्टम्–'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' इति । तत्र पितुरुत्तरम् 'षोडशकलः' इत्यादि[3] । षोडशदिनपर्यन्तमनशनेनोपक्षयादधीतवेदानामनवभासः पुनरशनेन तदुपचयादवभास इत्यन्नेनोपचयदर्शनादन्नमयं मन इति पितुराशयस्तं संगृह्णाति–**अन्नेनाऽऽप्यायतेऽभुक्ते** नेति[4] । **बुद्धिरिति** मन एवोक्तम् ॥ ७० ॥ मनसोऽन्नमयस्याऽऽक्षिप्तस्य यत्कृतं समर्थनं तस्यापि प्रागुक्तव्यतिरिक्तात्मनिष्ठासिद्धिरेव फलमित्याह–**अतोऽपि बुद्धिमन्नस्येति** ॥ ७१–७४ ॥

होने से उन्हीं से निर्मित हैं यह पता चल जाता है ॥ ६६ ॥ अतः बुद्धिमान् को चाहिये कि देहादि संघात में 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है' इत्यादि निश्चय छोड़कर 'साक्षी चैतन्य मैं हूँ' ऐसा निश्चय करे ॥ ६७ ॥ जैसे मथने से दही से घी पैदा होता है ऐसे ही बुद्धि (अंतःकरण) आदि पदार्थ महाभूतों से उत्पन्न होते हैं ॥ ६८ ॥ भौतिक देहसंघात मैं हूँ ऐसा निश्चय छोड़ सबका साक्षी चिद्रूप मैं हूँ–सदा ऐसा निश्चय करना चाहिये । (पृथक् वस्तुएँ आपस में मिलकर व्यवस्थित कार्य करें तो उन वस्तुओं के समुदाय को संघात और उस समुदाय की प्रत्येक वस्तु को संहत कहा जाता है । शरीर, इंद्रियाँ, प्राण आदि इसीलिये संघात कहा जाने वाला समुदाय है ।) ॥ ६९ ॥ अंतःकरण अन्न का कार्य है क्योंकि अन्न से पुष्टि पाता है ।

---

१ घ. ङ. च. ०प्यायिते । २ च. झ. भुङ्क्ते । ३ झ. ०दि पञ्चदशादि० । ४ घ. ङ. च. ०प्यायिते० । झ. भुङ्क्ते ।

यदिदं साक्षिणा वेद्यं तत्सर्वं ब्रह्म केवलम् ।
तत्सत्यं पूर्णचैतन्यं तत्त्वमर्थो न संशयः ॥ ७५ ॥

'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यद्वितीयं ब्रह्म प्रतिज्ञाय तेजोबन्नलक्षणस्य भूतत्रयस्य तदुत्पन्नस्य भौतिकस्य भोग्यजातस्य भोगायतनानां शरीराणां भोगोपकरणानामिन्द्रियाणां च तत्कार्यतयैव वाचारम्भणत्वान्न तत्प्रतियोगिकभेदादद्वैतप्रतिज्ञाभङ्ग इत्यध्यायस्य प्रथमभागार्थो व्याख्यातः । तथाऽपि भोक्तॄणामात्मनां नित्यत्वेन तत्प्रतियोगिकभेदादद्वैतप्रतिज्ञाभङ्ग इति शङ्कां निरसितुमुत्तरो भागः 'उद्दालको हाऽऽरुणिः' इत्यादि । तत्र यद्यपि भोग्यवद्भोक्ता न कल्पितः किंतु परमार्थ एव, तथाऽपि न तत्प्रतियोगिकभेदादद्वैतप्रतिज्ञाहानिः तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन भेदाभावादित्युक्तम् 'स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति । यदेतदवाङ्मनसगोचरत्वादतिसूक्ष्मं ब्रह्मास्मिन्नारोपितत्वाद् दृश्यं सर्वमेतेनैवाऽऽत्मवद्रजतमिव शुक्तिशकलेन तदेव च ब्रह्म सकलकल्पनाधिष्ठानत्वात्सत्यं सर्वस्य कल्पितस्य सत्तासफूर्तिप्रदत्वादात्मा च । यदेतदुक्तलक्षणं ब्रह्म तदेव त्वमसि न ततो भिद्यसे हे श्वेतकेतो इति । श्वेतकेतुश्च सकलभोक्तृवर्गोपलक्षणमिति । तामिमां श्रुतिं व्याकरोति–**यदिदमित्यादि** । **ब्रह्म केवलमिति** । ब्रह्मण्यारोपितत्वाद्व्यतिरेकेणाभावात् । योऽयं सर्पः स रज्जुर्यदिदं रजतं तच्छुक्तिशकलमिति तद्बाधायां सामानाधिकरण्यम् । **तत्त्वमर्थ** इति । त्वंशब्दार्थो जीवः पुनः परमार्थतस्तदेव पूर्णचैतन्यं ब्रह्म न पुनर्दृश्यवत्तत्र कल्पित इत्यसंशयितव्यमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

कुछ दिन कुछ न खाने पर पूर्व में पढ़ा हुआ विस्मृत हो जाता है । अतः बुद्धि अन्न का कार्य है इसमें संदेह नहीं ॥ ७० ॥ अन्नकार्यरूप बुद्धि मैं हूँ ऐसा निश्चय छोड़ विवेकी को यही निश्चय रखना चाहिये कि मैं सर्वसाक्षी चिद्रूप शिव हूँ । (यद्यपि 'मैं बुद्धि हूँ' इत्यादि किसी को प्रतीति नहीं होती तथापि बुद्धि आदि के व्यापार मैं कर रहा हूँ ऐसा सभी को लगता है–'मैं चल रहा हूँ, देख रहा हूँ, सोच रहा हूँ' इत्यादि । इससे अर्थसिद्ध है कि बुद्धि को हम अपना स्वरूप समझे हुए हैं । वही गलत समझना छोड़कर यह निश्चय बनाना चाहिये कि मैं सोचने आदि वाला नहीं किंतु वह हूँ जो सोचने को भी जान रहा है । यद्यपि यह भी बुद्धिका निश्चय है तथापि यह मोचक है व अन्य निश्चय बंधक हैं अतः यही उपादेय है ।) ॥ ७१ ॥ स्वभावतः भी जब देह-इंद्रिय आदि संघात में 'मैं-मेरा' ऐसा सोचना छोड़कर जब यह जीव स्वात्मा चैतन्य में चला जाता है –अज्ञानेतर आज्ञानिक विकारों के न रहते चेतन ही रहता है– तब यह सोया रहता है और इसे दुःखादि का अनुभव नहीं होता । देहधारी को ऐसी अवस्था में निज आत्मरूप सुख की प्राप्ति देखी गयी है ॥ ७२–७३ ॥ इस कारण भी बुद्धिमान् को सदा देहादि में आत्मधी न कर सर्वसाक्षी साक्षात् चिद्रूप आत्मा में ही आत्मधी करनी चाहिये ॥ ७४ ॥ साक्षी द्वारा जो कुछ इदङ्कारास्पद ('यह' इस तरह समझा जा सकने वाला) वेद्य है वह सब केवल ब्रह्म ही है (क्योंकि कारण से अतिरिक्त कार्य नहीं और कारण एक ब्रह्म ही है ।) वह ब्रह्म ही सत्य है, वही पूर्ण अर्थात् अनुपचरित चेतन है और 'तू' ('मैं' आदि प्रत्यगात्मद्योतक शब्दों) का अर्थ है, इसमें संशय नहीं । (छान्दोग्य में प्रसिद्ध महावाक्य है 'तत्त्वमसि'–वह तू है । इसमें 'वह' शब्द का विषय है सत् परमात्मा जिसने ईक्षणादि कर संसार बनाया और तू शब्द का विषय है जिसका हम 'तू' शब्द से व्यवहार करते हैं व 'मैं' रूप से जिसकी हमें अनुभूति होती है वह प्रत्यगात्मा । दोनों अभिन्न हैं–एक ही हैं–यह वाक्यार्थ है । स्पष्ट ही इसमें विरोध है–मैं जो देहादि से सीमित जन्ममरणप्रवाहपतित हूँ जगत् का स्रष्टा, पालक व संहर्ता नहीं हूँ इसमें क्या संदेह । प्रमाणभूत श्रुति की उपपत्ति के लिए आवश्यक है श्रुति के तात्पर्य को समझना । इसके लिए जब अन्य औपनिषद प्रसंग देखते हैं तो मालूम पड़ता है कि श्रुति ने बताया है जगद्रचना आदि वस्तुतः परमेश्वर

त्वंशब्दार्थो य आभाति सोऽहंशब्दार्थ एव हि ।

योऽहंशब्दार्थ आभाति स त्वंशब्दार्थ एव हि ॥ ७६ ॥

ननु त्वंशब्दः परागर्थवाचकोऽहंशब्दस्तु प्रत्यगर्थवाचक इति परस्परप्रतिद्वंद्वितया[1] ह्रस्वदीर्घशब्दवत्तौ विरुद्धार्थौ । अहं ब्रह्मास्मीति प्रतीचो ब्रह्मत्वमुक्तं श्रुत्यन्तरे तदिह 'तत्त्वमसि' इति कथं पराचो ब्रह्मत्वमुच्यत इत्यत आह–**त्वंशब्दार्थ** इति । एक एव देवदत्तो यथा पुत्रेण तात इत्युच्यते पित्रा च पुत्र इति न तत्र तातपुत्रपदाभ्यामभिधीयमानं देवदत्तस्वरूपं भिद्यते । वक्तृभेदनिबन्धनस्तु पितृपुत्रव्यवहारभेदो न वक्तव्यनिबन्धनः । तथा जीवस्यैव ब्रह्मतादात्म्यं स्वयमनुभूयमानावस्थमहं[2] ब्रह्मास्मीति व्यपदिश्यते, तदेव च जीवपरैक्यं परस्मै बोध्यमानं तत्त्वमसीति व्यपदिश्यते[3] । अतो वाक्यद्वयस्य समानार्थत्वादविरोध इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

नहीं करता–'न तस्य कार्यम्' । ऐसे ही श्रुति ने कहा है प्रत्यगात्मा वस्तुतः शरीर आदि से सीमित नहीं 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ. ३.४.१), 'योऽयं विज्ञानमय····ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ ४.३.७), 'महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः' (बृ. ४.४.२२) इत्यादि । इससे समझ आता है कि 'तत्त्वमसि' का अभिप्राय है कि जो यह भेद लग रहा है कि एक संसारस्रष्टा ईश्वर है और दूसरा बद्ध मैं–यह अवास्तविक अतः भ्रम है । इसे निवारण कर समझना चाहिये एक ही शिव तत्त्व है जो जगत्कारण और बद्ध लग रहा है । यह अभेद–मैं ही वह शिव हूँ–वाक्य का तात्पर्य है । 'मैं' और 'शिव' दोनों शब्द मुझे ही विषय कर रहे हैं । किस मुझे ? जो न बद्ध है, न जगत्कारण है। यह मैं ही 'वह' और 'तू' का अभिप्रेत अर्थ है । इस मुझे ही लक्ष्य अर्थ कहा जाता है । 'वह' का सीधा किंवा वाच्य अर्थ है जगत्कारण और 'तू' का सीधा–वाच्य–अर्थ है बँधा हुआ मैं । इन दोनों का–वाच्यों का–अभेद असंभव है और अनावश्यक भी क्योंकि ये दोनों अवास्तविक हैं । इनका कथंचिद् अभेद सिद्ध भी हो, तो व्यर्थ है । जब ये ही अवास्तविक हैं तो इनका अभेद भी अवास्तविक होने से बेकार है । सत्य तो लक्ष्य है तथा वही अभिन्न है यह वाक्य का तात्पर्य है । छांदोग्य के महावाक्य के अनुसार तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ आदि व्यवहार होता है । सभी महावाक्यों में एक शब्द ईश्वर का और एक जीव का वाचक मिलता ही है तथा दोनों निर्विशेष का लक्षणा से बोध कराते हैं । इसे स्पष्ट करने के लिए उत्तर-श्लोक है ।) ॥ ७५ ॥ जो त्वंशब्दाका–तू शब्द का–अर्थ है वही ('मैं ब्रह्म हूँ' इस शातपथ महावाक्य में) 'मैं' शब्द का अर्थ है । जो यहाँ 'मैं' शब्द का अर्थ है वही छांदोग्य में 'तू' शब्द का अर्थ है । (वही आथर्वण वाक्य में 'यह आत्मा' से और ऋग्वेद में 'प्रज्ञान' शब्द से कहा गया है ।) ॥ ७६ ॥ 'तू' और 'मैं' शब्दों का लक्ष्य अर्थ वह ज्ञानरूप

१ घ. ङ. झ. °द्वंद्वत । २ ङ. च. °वस्थायाम° । ३ अतएव तत्त्वमसीत्युपदेशवाक्यमहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यमिति साम्प्रदायिक-प्रसिद्धिः ।

त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थः साक्षात्प्रत्यक्चितिः परा ।

तच्छब्दस्य च लक्ष्यार्थः सैव नात्र विचारणा ॥ ७७ ॥

नन्वेवं तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मीत्यनयोः परस्परविरोधो मा भूत् तत्र त्वमहंशब्दाभ्यां पुनरज्ञः संसारी[1] जीवोऽभिधीयते ब्रह्मपदेन तत्पदेन च पुनरसंसारी सर्वज्ञ ईश्वरस्तस्य कथं तेन सह तादात्म्यमित्यत आह–**त्वमहंशब्देति** । अयमर्थः– सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकमिति प्रतिपादितमखण्डमद्वितीयमेकरसमनाद्यनन्तं परमार्थभूतं वस्तु । सत्त्वरजस्तमोलक्षणत्रयात्मिका या प्रकृतिरनादिरन्तवती तत्त्वज्ञानैकनिवर्त्यतया मिथ्यैव परिकल्पितत्वादवस्तुभूता, सा च द्विविधा । रजस्तमसी अभिभूय विशुद्धसत्त्वैका, सा मायेत्युच्यते । रजस्तमोभ्यामभिभवेन मलिनसत्त्वा चापरा, साऽविद्येत्युच्यते । तत्र, मायासत्त्वांशे प्रतिबिम्बितः स परमात्मा तां मायां वशीकृत्य सर्वज्ञः सर्वेश्वर इत्युच्यते । अविद्यासत्त्वांशे पुनः प्रतिबिम्बितः स एव[2] परमेश्वरस्तया वशीकृतोऽस्वतन्त्रः कर्ता भोक्ता संसारी जीव इति । स एव तु परमात्मा तमःप्रधानप्रकृत्युपाधिकः सम्भूतभौतिकप्रपञ्चलक्षणभोग्यात्मना विवर्तते । तत्रैक एव परमात्मा तमःप्रधानप्रकृत्युपाधिकतया जगदुपादानम् । विशुद्धसत्त्वप्रधानप्रकृत्युपाधिकतया जगतो निमित्तमित्यभिन्ननिमित्तोपादानं सत् 'सदेव सोम्येदम्' इत्यत्र सच्छब्देनोक्तम् । तत्र हि 'तदैक्षत' इति चेतनत्वेन निमित्तत्वम्, 'बहु स्याम्' इति कार्याकारेण विवर्तमानतयोपादानत्वमित्यभिन्ननिमित्तोपादानत्वं विशदम् । तदिह प्रकृतत्वात्तत्त्वमसीति वाक्ये प्रकृतपरामर्शिना तच्छब्देनोच्यते । अविद्योपाधिकस्तु जीवः सकलोऽपि पुरोवर्तिनं श्वेतकेतुं निमित्तमात्रं कृत्वोद्दालकेन पित्रा त्वंशब्देनोच्यते । तयोश्च तत्त्वंशब्दवाच्यार्थयोर्मायाविद्योपाधिकचैतन्ययोः परस्परमत्यन्तविलक्षणतया तादात्म्यविरोधात्तत्त्वंशब्दौ मायाविद्ययोर्भागपरित्यागेनोभयानुगतमेकं चैतन्यमात्रं लक्षयतः । एवमहं ब्रह्मास्मीत्यत्रापि ॥ ७७ ॥

आत्मा है जो साक्षात् है अर्थात् स्वप्रकाश है और प्रत्यक् है अर्थात् 'यह' इस प्रकार अपने से भिन्न हो कभी प्रतीत नहीं हो सकता । 'वह' ('ब्रह्म' आदि ईश्वरवाचक शब्दों) का भी लक्ष्यार्थ वही है । इसमें संदेह नहीं । (यद्यपि समझाते हुए कह दिया जाता है 'लक्ष्यार्थों की एकता' तथापि यह भ्रम नहीं करना चाहिये कि लक्ष्यार्थ दो हैं । तब तो एकता वास्तविक हो ही नहीं पायेगी, फलतः लक्षणा ही व्यर्थ हो जायेगी । लक्ष्यार्थ एक ही है । क्योंकि दो शब्दों का लक्ष्य है इसलिए उसमें द्वित्व का उपचार हो जाता है । लोक में भी 'जो घट है वही कलश है' इत्यादि प्रयोगों में 'जो,' 'वह' आदि भेदेन कहे जाने वाला कम्बुग्रीवादि वाला पदार्थ एक ही होता है । ऐसे भी यहाँ समझ सकते हैं ।) ॥ ७७ ॥ 'तत्त्वमसी'– तू ब्रह्म है–आदि प्रसिद्ध महावाक्य 'तू', 'मैं' आदि शब्दों के वाच्य अर्थ देहादि वस्तुओं को 'वह' शब्द का अर्थ नहीं बताते, यह नहीं कहते कि देहादि या देहादिवाला ब्रह्म है । (वे तो कहते हैं कि देहादि

---

१ झ. °सारी चाभि° । २ यो मायायाम्बिम्बितः स एव । मायाऽविद्ययोर्बिम्बभूत एको, नत्वेकत्र प्रतिबिम्बितोऽपरत्र प्रतिबिम्बीभवति ।

त्वमहंशब्दावाच्यार्थस्यैव देहादिवस्तुनः । न तच्छब्दार्थतां वक्ति श्रुतिस्तत्त्वमसीति सा[1] ॥ ७८ ॥
तदर्थैक्यविरुद्धांशं त्यक्त्वा वाच्यगतं श्रुतिः । अविरुद्धचिदाकारं लक्षयित्वा ब्रवीति हि ॥ ७९ ॥
तदर्थे च त्वमर्थैक्यविरुद्धांशं विनैव तु । कारणत्वादिवाच्यस्थं लक्षयित्वा तु केवलम् ॥ ८० ॥
चिदाकारं पुनस्तस्य त्वमर्थैक्यं ब्रवीति च ।
तत्त्वंशब्दार्थलक्ष्यस्य चिन्मात्रस्य परात्मनः ॥ ८१ ॥
एकत्वं यत्स्वतःसिद्धं स हि वाक्यार्थ आस्तिकाः ।
इतोऽन्यथा यो वाक्यार्थः सोऽवाक्यार्थो न संशयः ॥ ८२ ॥

ननु चिदंशे तादात्म्याविरोधेऽपि त्वमहंशब्दवाच्यार्थस्य तत्पदवाच्यार्थेन तादात्म्यं विरुद्धमेवेति चेत् ? सत्यं विरुद्धं, न त्विह तद्विवक्षितमित्याह–**त्वमहंशब्दवाच्यार्थस्येति** । संसारित्वस्य सर्वज्ञत्वात्मकता नेह श्रुत्या विवक्षितेत्यर्थः ॥ ७८ ॥ शब्देनाभिधीयमानस्य संसारित्वादेरविवक्षाकारणमाह–**तदर्थैक्येति** समभिव्याहृतपदान्तरसामानाधिकरण्यविरोध एवाविवक्षाकारणमित्यर्थः ॥ ७९ ॥ त्वमहंशब्दार्थे कथितमर्थं तच्छब्दार्थेऽपि योजयति–**तदर्थे चेति** । तत्पदवाच्येन जगत्कारणत्वसर्वज्ञत्वादिना विरुद्धं सांसारिकत्वादिकं त्वंपदवाच्यगतं यथा न विवक्षितं तथा त्वंपदवाच्यगतसंसारित्वादिना विरुद्धं जगत्कारणत्वसर्वज्ञत्वादिकं तत्पदवाच्यगतं न विवक्षितमित्यर्थः । त्वमर्थैक्यविरुद्धं विशेषणभूतं जगत्कारणत्वसर्वज्ञत्वं विना केवलं विशेष्यभूतं चिदाकारं लक्षयित्वा तस्य त्वमर्थैक्यं ब्रवीतीत्युत्तरेण संबन्धः । एवं तत्त्वंपदार्थयोर्विरुद्धांशपरिहारे सति यो वाक्यार्थः सम्पद्यते तं दर्शयति–**तत्त्वं शब्दार्थलक्ष्यस्येति** ॥ ८०–८१ ॥ उक्तरीत्या तत्त्वंशब्दाभ्यां यल्लक्ष्यं चिन्मात्रं निरस्तसमस्तोपाधिकं स एव हि परमात्मा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतेः । तस्य च त्रिविधपरिच्छेदराहित्येन यतः स्वाभाविकमेकत्वमभेदः सोऽत्र तत्त्वमसिवाक्येन प्रतिपाद्यते, न तु जीवब्रह्मणोरन्यतरोद्देशेनान्यतरस्य प्रागसिद्धमेकत्वं बोध्यत इत्यर्थः । ननु परमार्थतो भिन्नस्यैव संसारिणो जीवस्य रससंपर्कवशेन ताम्रस्य सुवर्णत्वापत्तिवदीश्वरानुग्रहवशात्तत्तादात्म्यसंभवात्तादृक्तादात्म्यपरत्वं किमिति वाक्यस्य न स्यादित्यत आह–**इतोऽन्यथेति** । **इतो**ऽस्मात्स्वाभाविकैकत्वलक्षणात्प्रकारान्तेरण जीवब्रह्मणोः संसर्गरूपो विशिष्टैकत्वरूपो वा यो वाक्यार्थः स वाक्यार्थ एव न भवति, वस्तुतो भिन्नयोस्तयोरन्योन्याभावस्यानाद्यन्तत्वेन तादात्म्यानुपपत्तेरित्यर्थः ॥ ८२ ॥

रहित जो वह ब्रह्म है ।) ॥ ७८ ॥ 'वह' शब्द के अर्थ से अभेद होने में जो विरुद्ध हिस्सा 'तू' शब्द के अर्थ का है, उन दोनों विरुद्ध हिस्सों को छोड़कर केवल चित्स्वरूप ब्रह्म को लक्षणा से अभिन्न बताना महावाक्य का कार्य है । ('वह' शब्द का अर्थ है चेतन ईश्वर । 'तू' शब्द का अर्थ है चेतन जीव । इनके अभेद का विरोध इसी से है कि एक ईश्वर अर्थात् शासक है और दूसरा जीव अर्थात् शासित है । यदि इन दोनों हिस्सों को छोड़े दें तो बचा हिस्सा है चेतन और उसका अभेद निर्विरोध है । जीव जीव रहते हुए ईश्वर हो यह असंगत है । यह वेदांतों का उपदेश नहीं । उनका कहना तो यह है कि जो स्वयं को

---

१ अतएव भिन्नधर्मविशिष्टयोस्तादात्म्यधीरप्रमेति लघुचन्द्रिकादावुक्तम् एतद्रहस्यमविज्ञायैवाधुनिकाः केचन माध्वा अभेदधीरुपनिषदर्थो न नापि वेदान्तिनां स्वसम्प्रदायेऽपि स्वीकृता इति लिलिखुः । यद्यपि वैशिष्ट्यमपि संसर्ग एव तथापि क्रियासंसर्गो वैशिष्ट्यमित्यभिप्रेत्य 'संसर्गो वा विशिष्टो वे'त्याद्याचार्योक्ति स्तदनुसारेणेहाप्युक्तम् । यद्वा संसर्गो भेदघटितो विशिष्टैकत्वं च विशिष्टयोरेकत्त्वमित्यभेदो वा नेह विवक्षित इत्यर्थः । विशिष्टयोरभेदायोगात् । अत्र चान्यतरोद्देशेनेत्याद्युक्ति-र्व्यतिहाराधिकरणन्यायं (३.३.२४.३७) सूचयितुम् । न चापोहस्य वाक्यार्थत्वा तत्त्वमसीत्येव वाक्यार्थोऽस्तु न तु त्वन्तदितीतिवाच्यम्, अपोहस्य वाक्यार्थताऽसम्भवस्य भट्टाचार्यैर्वार्तिक एव व्यक्तत्वात्तदनभ्युपगमात् ।

एकत्वप्रमितिं वाक्यं न करोति सुरर्षभाः । व्यावहारिकमज्ञानं बाधते विद्ययैव तु ॥ ८३ ॥

सदा प्रमितमेकत्वं स्वत एव न चान्यतः ।

अतो न प्रमितिं वाक्यं कुरुतेऽज्ञानबाधकम् ॥ ८४ ॥

वस्तुतो नास्ति चाज्ञानं चित्प्रकाशाविरोधतः ।

अतो वाक्यं न चाज्ञानबाधकं च निरूपणे ॥ ८५ ॥

ननु तत्त्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः स्वरूपभूतमेकत्वमपि तथाविधमिति तस्य वाक्यवोध्यत्वे स्वप्रकाशत्वभङ्ग इत्यत आह–**एकत्वप्रमितिमिति** । यदि वाक्यमेकत्वविषयां प्रमितिं न जनयते तर्हि तस्य वैयर्थ्यं जातमित्यत आह–**व्यावहारिकमिति** । वाक्यं स्वजन्यया विद्ययैवोदीरितब्रह्मात्मैक्यविषयया मनोवृत्त्या तदज्ञानं वाधते । अतो न निष्प्रयोजनतेत्यर्थः ॥ ८३ ॥ नन्वेकत्वप्रमितौ वाक्यव्यापारो नास्ति चेत्प्रमाणाविषयत्वात्तस्य नरविषाणवदसत्त्वमित्यत आह–**सदा प्रमितमिति** । परप्रकाश्यस्य हि प्रमाणाविषयत्वनिभि तमसत्त्वमुदीरितमेकत्वं तु स्वप्रकाशचितोऽनन्यत्वात्सदा प्रकाशमानमेवेति नोक्तदोषापत्तिः । अतो वाक्यस्याऽऽवरणज्ञाननिवृत्तावेवोपयोगो, न स्वरूपप्रकाशन इत्यर्थः ॥ ८४ ॥ नन्वज्ञानस्यासत्त्वे निवृत्त्यनुपपत्तेर्ब्रह्माभेदे च तस्यापि निवृत्तिप्रसङ्गादतोऽन्यत्किंचिदज्ञानाख्यं वस्त्वङ्गीकर्तव्यम् । तथाच द्वैतापत्तिरित्यत आह–**वस्तुतः** इति । **वस्तुतः** परमार्थतोऽ**ज्ञानं नास्त्येव** । ब्रह्मस्वरूपभूतचित्प्रकाशविरोधित्वेन तस्याज्ञानस्याऽऽलोकविरोधिनस्तमस इव तत्र स्वरूपलाभासंभवादतस्तत्स्वरूपे पूर्वपूर्वभ्रमसंस्कारवशादध्यस्तमेवाज्ञानं विद्यया निवर्तत इति । विचार्यमाणे वस्तूपाधौ वाक्यमज्ञानस्यापि बाधकं न भवति व्यवहारदृष्ट्यैव, तस्याज्ञानबाधकत्वव्यपदेशः ॥ ८५ ॥

जीव माने बैठा है वह जीव है नहीं और जब शास्य जीव नहीं तो शासक ईश्वर किसका ? अखण्ड चिन्मात्र में जीव और ईश्वर ये विकल्प अज्ञान से माने गये हैं । इस अज्ञान की निवृत्ति से निश्चित होना है न जीव है न ईश्वर, एक अखण्ड शिव ही है ।) ॥ ७९–८१ ॥ जो अभेद स्वतःसिद्ध है (किसी की अपेक्षा से सिद्ध या साध्य नहीं है), वही महावाक्य का अर्थ है । इससे अन्य यदि समझा जाये तो वह वाक्यार्थ ही नहीं है ॥ ८२ ॥ महावाक्य को भी एकत्व की–अभेद की प्रमा नहीं उत्पन्न करनी पड़ती । उससे जन्य अखण्डाकारवृत्ति केवल व्यावहारिक अज्ञान को नष्ट करती है, एकत्व तो स्वतःसिद्ध है ॥ ८३ ॥ एकत्व सदा स्वतः ही निःसंदिग्ध रूप से प्रकाशमान रहता है । किसी अन्य के द्वारा इसका प्रकाशन नहीं होता । अतः अज्ञान-बाधक वाक्य अभेदज्ञान का जनक नहीं । (अज्ञान को ज्ञान ही नष्ट कर सकता है । वह ज्ञान यथार्थविषयक हो तभी प्रमा है और तभी वस्तुतः अज्ञानबाधक होता है । यदि आत्मविषयक ज्ञान न होगा तो अज्ञान का बाधक कैसे ? उत्तर है कि आत्मविषयक वृत्तिज्ञान तो होता है किन्तु वह स्वयं अपना निवारक भी होता है और वही अज्ञान का बाधक भी है । फलभूत ज्ञान स्वरूपज्ञान ही है जो वाक्य का कार्य नहीं । व्यवहारभूमि पर अविद्याबाधोपलक्षितत्वेन स्वरूपज्ञान भी वाक्य का कार्य कहा जा सकता है पर) वस्तुतः अविद्या ही नहीं है क्योंकि चित्प्रकाश से उसका विरोध है । (अविद्या चेतन पर ही रह सकती है और चेतन ज्ञानरूप है अतः अविद्या उस पर रहे कैसे ? अन्यत्र तो वह स्वरसतः ही नहीं रहती । जिसे रहने को जगह नहीं वह वस्तु ही कहाँ ?) अतः परमार्थतः वाक्य अविद्या का भी बाधक नहीं है (अतः अविद्याबाधोपलक्षितचित् की वाक्यकार्यता नतराम् हो पायेगी ।) ॥ ८४–८५ ॥

एकत्वं यत्पुरा प्रोक्तं तत्स्वयं सेद्धुमर्हति ।

न प्रमाणेन, मानानि तस्मिन्कुण्ठीभवन्ति हि ॥ ८६ ॥

व्यावहारिकमज्ञानमपि ब्रह्मैव वस्तुतः । अज्ञानमिति वार्ताऽपि त्वर्थसद्भाव[1] एव हि ॥ ८७ ॥

सत एव हि सद्भावो नासतः सूक्ष्मदर्शने । सदसत्कोटिनिर्मुक्तमित्युक्तिश्चार्थभासने ।

खलु नाऽऽभासते भानं ब्रह्म वस्त्वेव केवलम् ॥ ८८ ॥

ननु वाक्येनाद्वितीयब्रह्मविषयान्तःकरणवृत्तिः स्वविषयावरणाज्ञाननिवर्तिका या जन्यते घटपटादिविषयवृत्त्यन्तरवत्तस्या अपि स्वविषयप्रकाशनसामर्थ्यं कुतो नेत्यत आह–**एकत्वं यदिति** । यद् ब्रह्मात्मनः स्वाभाविकमेकत्वं प्रागुक्तं तत्स्वरूपभूतचित्प्रकाशानन्यत्वात्**स्वयमेव** स्वात्मनैव **सेद्धुं** प्रकाशितु**मर्हति** न प्रमाणवशात् । अत्र हेतुमाह–**मानानीति** । **हि** यस्मात्कारणात्तत्स्वरूपप्रकाशनाय प्रवृत्तानि प्रमाणानि तेनैव साक्षिरूपेणावस्थितेन प्रकाशमानानि, सवितृप्रकाशेन दीपवत् तस्मिन्स्वप्रकाशे चिदात्मनि निरुद्धशक्तीनि भवन्ति । अत एवान्यत्राऽऽम्नायते–'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः' इति ॥ ८६ ॥ **व्यावहारिकमज्ञानमि**त्यादि । यद्वाक्यजन्यया विद्यया निवर्त्यमज्ञानं तदपि वस्तुतो निरूपणे ब्रह्मैव । शुक्त्यादावध्यस्तस्य रजतादेरिव तस्य च ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन तदव्यतिरेकादित्यर्थः । अतश्च वस्तुनिरूपणेऽज्ञानमिति व्यवहारोऽपि न युज्यत इत्याह–**अज्ञानमितीति** ॥ ८७ ॥ ननु व्यवहारबलादेवाज्ञानस्य सद्भावः किं न स्वीक्रियते ? तत्राऽऽह–**सत एवेति** । सद्रूपस्यैव हि वस्तुनः सद्भावो न तद्विलक्षणस्येत्यर्थः । ननु सन्घटः सन्पटः सत्कुड्यमिति सद्भावोऽनुभूयत एवेति चेत्तत्राऽऽह–**सूक्ष्मदर्शन** इति । अधिष्ठानसत्त्वमेवाऽऽरोप्यगतसत्त्वेन तत्र प्रतिभासत इत्यर्थः[2] । ननु प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्त्या सदसद्विलक्षणं तदज्ञानमस्तीति ? तत्राऽऽह–**सदसत्कोटीति** । सदसद्वैलक्षण्यप्रतिपादनमपि तत्त्वप्रकारनिरूपणासहत्वप्रतिपादनपरं, न तादृगर्थसद्भावपरम्[3] । अत ईदृग्विधार्थभासने हि सदसद्विलक्षणं तदित्यपि व्यवहारो नावभासते । भानरूपब्रह्मवस्त्वेवाज्ञानविनिर्मुक्तं केवलं[4] भासत इत्यज्ञानस्य भासनं न संभवतीत्यर्थः ॥ ८८ ॥

पूर्वोक्त अभेद स्वतः ही सिद्ध हो सकता है, किसी प्रमाण से नहीं, क्योंकि प्रमाण उसे विषय कर पाने में असमर्थ हैं । (प्रमेय ही प्रमाणों का क्षेत्र है । अभेद, अद्वैत शिव तो 'अप्रमयम्'–अप्रमेय है, अतः प्रमाणों का क्षेत्र ही नहीं । अप्रकाशमान प्रकाश की अपेक्षा रखता है तब प्रमाणप्रकाश उसे प्रकाशित करता है । स्वप्रकाश न अपेक्षा रखता है न प्रकाशित होता है ।) ॥ ८६ ॥ व्यावहारिक अज्ञान भी वस्तुतः तो ब्रह्म ही है । (अतः अज्ञान ऐसा कहना भी व्यर्थ है, क्योंकि) 'अज्ञान' यह कथन भी तभी संगत होता यदि अज्ञान कोई पदार्थ होता । सत् की ही विद्यमानता होती है, असत् की नहीं । (अज्ञान सत् तो है नहीं क्योंकि वाध्य है अतः इसकी विद्यमानता कहाँ ?) जो तो अज्ञानादि पदार्थों की प्रतीति होने से उसे सद् व असत् से विलक्षण कहा जाता है वह भी इसी अभिप्राय से कि वह कोई वस्तु नहीं है । अभेदज्ञान हो जाने पर अज्ञान का ध्वस्तरूप से भी भान नहीं होता । भानरूप ब्रह्म ही अकेला रहता है ॥ ८७–८८ ॥

---

१ च. त्वर्थास॰ । २ तदनभ्युपगमे घटः सन्, जातिः सतीत्युभयत्र समाना सत्प्रतीति र्न संभवेत्, घटसत्त्वयोर्जातिसत्त्वयोश्च सम्बन्धभेदध्रौव्यात् तद्भेदे च विशिष्टधियामभेदासम्भवादन्यथा सम्बन्धभेदवैयर्थ्यात् । लाघवतर्कोऽपि । तदेतत् सिद्धिग्रन्थे प्रथमपरिच्छेदे विस्तरेणोक्तम् । ३ घ. ॰गर्थ॰ । ४ अज्ञानविनिर्मुक्तत्वभानमपि नेति केवलशब्दार्थः ।

भानसंबधन्तोऽभानमिति वार्ताऽप्यसंगता ॥ ८९ ॥

संबन्धिरूपसद्भावे सति संबन्धसंभवः । सद्भावे सति संबन्धिरूपं ब्रह्मैव केवलम् ॥ ९० ॥

अनिरूपितरूपेण सद्भाव इति चेन्मतम्¹ । अनिरूपितरूपस्य रूपं तु ब्रह्म केवलम् ॥

ब्रह्मैव रूपं नैवान्यत्र रूपमपरस्य हि ॥ ९१ ॥

अस्ति चेदपरस्यापि रूपं तर्हि सुरोत्तमाः । रूपरूपेण रूपं च ब्रह्मरूपं भवेत्खलु ॥ ९२ ॥

ननु मा भूदज्ञानस्य स्वतो भानं, भानरूपब्रह्मसंबन्धवशात्कुतो न भायादित्याशङ्क्याऽऽह–**भानसंबन्धत** इति । **संबन्धिरूपसद्भाव** इति । संबन्धस्य संबन्धिद्वयसापेक्षत्वाद् ब्रह्मवदज्ञानस्यापि स्वरूपसद्भावोऽवश्यमेष्टव्यः । स च सद्भावोऽधिष्ठानब्रह्मगत एवेति तदेव सत्केवलं न ततोऽतिरिक्तमज्ञानमिति संबन्धिद्वयाभावात्संबन्धो दुर्निरूप इत्यर्थः ॥ ८९–९० ॥ ननु मा भूद् ब्रह्मण इवाज्ञानस्य पारमार्थिकसद्भावः । आरोपितसद्भावो विद्यत इति तेनैव संबन्धः किं न स्यादित्याशङ्कते–**अनिरूपितेति** । विचारासहत्वाकारेणेत्यर्थः । परिहरति–**अनिरूपितेति** । अविचारितरमणीयरूपस्याध्यस्तस्याधिष्ठानभूतं ब्रह्मैव केवलं स्वरूपं नान्यत्तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्याज्ञानतत्कार्यस्य तस्मिन्नध्यस्तत्वेन स्वतो निःस्वरूपत्वादित्यर्थः ॥ ९१ ॥ **अस्ति चेदपरस्यापीति** । रूप्यत इति रूपं निरूपणार्हस्वरूपं तद् ब्रह्मणोऽन्यस्यापि विद्यते चेत्तदाऽपि रूपं ब्रह्मरूपमेव रूपात्मनोभयोरपि भेदाभावादित्यर्थः ॥ ९२ ॥

(शंका होती है कि नियमतः आत्मसम्बद्ध ही भासने से अज्ञान आत्मातिरिक्त कुछ नहीं यह कैसे, आत्मा के सम्बन्ध से उसका भान वैसे ही हो सकता है जैसे दीपकसम्बन्ध से घट का; अतः अज्ञान को वस्तु क्यों न माना जाये ? इसका परिहार करते हैं–) भानरूप आत्मा के सम्बन्ध से अभानरूप अज्ञान सिद्ध होता है–यह तो बात ही असंगत है । (कहीं भान और अभान का संबंध हो सकता है ? किं च–) सम्बन्धी का स्वरूपतः सद्भाव सिद्ध होने पर सम्बन्ध संभव हुआ करता है और शंकावादी द्वारा कहा जा रहा है कि सम्बन्ध का सद्भाव होने से सम्बन्धी का स्वरूपतः सद्भाव माना जाये । यों बात उल्टी है । (पहले अज्ञान सिद्ध हो तब उसका सम्बन्ध है या नहीं यह सोचा जा सकता है । 'सम्बद्ध है' कहने का अर्थ है कि स्वरूपसद्भाव स्वीकृत हो चुका । किंतु यह स्थिति है नहीं । सिद्धान्ती स्वरूपतः सद्भाव अज्ञान का स्वीकारता नहीं । अतएव सम्बन्ध भी नहीं स्वीकारता । (श्लोक में 'सद्भावे' का अर्थ है 'सम्बन्धसद्भावे' और 'सम्बन्धिरूपम्' के बाद 'सिषाधयिषसीति' यह अध्याहार कर 'वार्ताऽपि असंगता' से अन्वय करना चाहिये । यों अज्ञान असिद्ध होने पर निगमन है–) अतः एकमात्र ब्रह्म ही वस्तु है ॥ ८९–९० ॥ यदि कहो कि अनिर्वचनीय रूप से अज्ञान का सद्भाव मान लिया जाये, तो भी हमारी ही बात सिद्ध होती है क्योंकि अनिर्वचनीयका वास्तविक रूप तो अधिष्ठानभूत ब्रह्म ही हो सकेगा । अतः ब्रह्म से अन्य जो कुछ भी है उसका वास्तविक रूप ब्रह्म ही है और कुछ नहीं ॥ ९१ ॥ यदि कहो कि ब्रह्मान्य अज्ञानादि का भी निरूपण किया जा सकने

---

१ ब्रह्मान्यतद्रूपयोरित्यर्थः । यद्ब्रह्मणोऽन्यत् तद्रूपं निरूपणार्हत्वात्, तस्य यद्रूपं तदपि रूपमेव, तस्मादेव हेतोरित्युभयोः समानयोगक्षेमतेत्यर्थः । यथा ब्रह्मान्यदध्यस्ततया ब्रह्मैव तथा तद्रूपमपि । यद्वा सत्यमित्यादिना निरूपणीयत्वाद् ब्रह्म रूपमस्ति, तदेव जगतश्चेत्तद्ब्रह्मैव स्यात्तदन्यच्चेदिति कल्पस्योत्तरस्मिन् पद्ये निराकृतिः ।

ब्रह्मरूपेण नान्यस्य रूपं रूपान्तरेण चेत् ॥ ९३ ॥

तर्हि रूपान्तरं रूपाद्भिन्नं वाऽभिन्नमेव वा ।

भिन्नाभिन्नं न वा भिन्नं यदि रूपाद्विभेदतः ॥ ९४ ॥

तुच्छवत्तदरूपं स्यादभिन्नं चेत्तदेव तत् । उक्तदोषद्वयापत्तेर्भिन्नाभिन्नं न तद्भवेत् ॥ ९५ ॥

भवेदेवं यदि रूपमात्राभेदेन,[1] ब्रह्मणो यद्रूपं ततोऽन्येनैव रूपेणाज्ञानस्य रूपवत्त्वमिति शङ्कते–**ब्रह्मेति** । तदेतद्दूषयितुं विकल्पयति–**तर्हीति** । तत्किं रूपान्तरं निरूपणार्हद्वस्तुस्वरूपाद्भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्नं वा । नाऽऽद्य इत्याह–**भिन्नं यदीति** । विमतं[2] न रूपं निरूपणार्हात्स्वरूपाद्भिन्नत्वान्नृशृङ्गवदित्यभिप्रायः[3] । द्वितीये ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याज्ञानस्य पृथक्स्वरूपलाभो नास्तीत्याह–**अभिन्नं चेदिति** । तृतीयं निरस्यति–**उक्तदोषेति** । भेदाभेदपक्षयोर्यौदोषावुक्तौ तयोरापत्तिरित्यर्थः ॥ ९३–९५ ॥

वाला स्वरूप है (अतः ब्रह्म की तरह वे भी वस्तु हैं) ? तो प्रश्न उठता है कि अज्ञानादि का जो निरूपणयोग्य स्वरूप कह रहे हो वह ब्रह्म का निरूपणयोग्य स्वरूप ही है या उससे पृथक् ? (अर्थात् जो ब्रह्म का निरूपणयोग्य स्वरूप है क्या वही अज्ञान का भी है या अज्ञान का निरूपणयोग्य स्वरूप अलग ही है ? यदि कहो अलग नहीं वही है, तब तो अज्ञानादि स्वरूपात्मतया ब्रह्मस्वरूप ही हुए, एवं च पृथग्वस्तुत्व सिद्ध नहीं हुआ । ('रूपरूपेण' अर्थात् निरूपणयोग्य स्वरूप की दृष्टि से । 'रूपम्' अर्थात् निरूपणीय अज्ञानादि । तात्पर्य है कि ब्रह्म का निरूपणीय स्वरूप है सत्य । यदि अज्ञानादि का भी वही स्वरूप है, सत्य ही स्वरूप है, तब तो अज्ञानादि ब्रह्मस्वरूप हैं यही अर्थ निकला । तथा च अज्ञानादि पृथग् वस्तुएँ हैं यह प्रतिज्ञा कट गयी ।) ॥ ९२ ॥ यदि ब्रह्म के निरूपणार्ह स्वरूप से अज्ञानादि का निरूपणीय स्वरूप पृथक् ही है–ऐसा कहो ॥ ९३ ॥ तो पुनः प्रश्न होगा कि वह स्वरूप स्वरूप वाले से भिन्न है, अभिन्न है, या भिन्नाऽभिन्न है ? अगर स्वरूप वाले से भिन्न है तब स्वरूपवाला अज्ञानादि असत्य होना निश्चित है क्योंकि भेदपक्ष का अभिप्राय हुआ निरूपणार्ह स्वरूप से अज्ञान भिन्न है, और यह व्याप्ति है कि जो निरूपणयोग्य स्वरूप से भिन्न होता है वह शशशृंगादि की तरह तुच्छ–असत् होता है अतः स्वरूप से स्वरूप वाले को भिन्न मानने पर स्वरूप वाला सत्य वस्तु है यह कभी सिद्ध न होगा । यदि स्वरूप और स्वरूप वाले को अभिन्न ही मानो तब यह कहना नहीं बनेगा कि 'अज्ञानादि वस्तु है, स्वरूप वाले होने से ले'; क्योंकि इसका अर्थ होगा 'अज्ञानादि वस्तु है, अज्ञानादि होने से'– अज्ञान और उसका स्वरूप अभिन्न ही है–जो कहना असंगत है । (केवलव्यतिरेकी हो नहीं सकता क्योंकि आत्मा की वस्तुता तुम स्वीकार ही रहे हो । यदि न स्वीकारो तो भी तर्क की अनुकूलता न होने से उक्ति असंगत ही रहेगी) यदि स्वरूप को स्वरूपवाले से भिन्न-अभिन्न दोनों कहोगे तो उक्त दोनों दोष इकट्ठे आ पड़ेंगे जिससे वह असंभव होगा । (आत्मा के विषय में क्या ये विकल्प नहीं उठेंगे ? नहीं उठेंगे । आत्मा का स्वरूप आत्मा से अभिन्न ही है, आत्मा सत्य ही है । हम निरूपणार्हस्वरूपवत्ता के कारण तो आत्मा की वस्तुता सिद्ध कर नहीं रहे कि उक्त कोई दोष आये ।) ॥ ९४–९५ ॥ अतः यह कहना कि अनिर्वचनीय रूप

---

१ यदि रूपमात्राभेदेनैव भवेत्तर्हीति योज्यम् । २ ङ. °तं रूपं न नि° । ३ ध. °त्वान्नरशृ° ।

अत एव सुरश्रेष्ठा अनिरूपितरूपतः ।

सद्भाव इति वार्ता च वार्तैव खलु केवलम् ॥ ९६ ॥

तस्मादज्ञानमेवैतद्[1] ब्रह्मैव सततोदितम् । अज्ञानमयमेवेदं सर्वमित्यपि भाषणम् ॥

नैव भाषणमज्ञानाभावादेव शिवं विना ॥ ९७ ॥

तस्मादज्ञानमज्ञानकार्यं च सुरपुंगवाः ॥ ९८ ॥

एकं ब्रह्मैव नैवान्यदिति मे निश्चिता मतिः ।

ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्याह हि परा श्रुतिः ॥ ९९ ॥

तथा चानिरूपितरूपेण सद्भाव इति यत्प्रतिज्ञातं तदनया रीत्या वार्तामात्रमेवावशिष्यत इति निगमयति–**अत एवेति** ॥ ९६ ॥ एवमज्ञानस्य पृथगात्मत्वाभावाद्व्यावहारिकमज्ञानमपि ब्रह्मैव वस्तुत इति यत्प्रतिज्ञातं तत्सिद्धमिति निगमयति–**तस्मादिति** । **अज्ञानमयमित्यादि** । इदं सर्वं जगदज्ञानकार्यमिति यदेतद्वचनं तदपि केवलं शब्द एव न तस्यार्थोऽस्ति । अधिष्ठानपरशिवस्वरूपव्यतिरेकेणाज्ञानस्यैव दुर्निरूपत्वात् ॥ ९७ ॥ तस्मादज्ञानं तत्कार्यं च ब्रह्मात्मकमेव नान्यदस्तीति प्रतिपादितेऽर्थे श्रुतिं योजयति–**ऐतदात्म्यमिति** । श्रुतेरक्षरार्थः प्रागेव[2] वर्णितः ॥ ९८–९९ ॥

से अज्ञानादि का सद्भाव है, केवल (साधक घबरा न जाये इसलिये की जाने वाली) बात ही है । (वस्तुतस्तु अज्ञान है ही नहीं) ॥ ९६ ॥ इसलिये नित्य प्रकाशमान ब्रह्म ही अज्ञान है (ब्रह्मातिरिक्त अज्ञान कुछ नहीं । 'अज्ञान भी ब्रह्म ही है'–इतना वाक्यार्थ है । श्लोक में 'अज्ञानमपि' यों अपिकार का अध्याहार है और 'अज्ञानमेव' का एवकार अत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थ है ।) यह कथन कि यह सब जो प्रतीत हो रहा है वह अज्ञानमय है, वह भी उचित नहीं है क्योंकि शिव से अतिरिक्त अज्ञान कुछ है ही नहीं । (अतः सब शिवमय है यही कहना चाहिये ।) ॥ ९७ ॥ अतः मेरा निश्चय है कि अज्ञान और उसका कार्य एक ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं । परमप्रमाणभूत श्रुति ने कहा ही है कि 'यह सब सद्-आत्मरूप ही है' (छां. ६.८.७) ॥ ९८–९९ ॥ यह तथा ऐसी अन्य अभेदश्रुतियाँ जैसी सच्ची बात है वैसा ही उसे बताने में प्रवृत्त हुई हैं । किंतु श्रोताओं के चित्त को इसे समझ पाने में असमर्थ देखकर खिन्न व कृपापरवश हुई श्रुति कभी कहीं ब्रह्म से अन्य बातें भी बता देती है जैसे साध्य से साधनसंबंध, फल, जगत् की विचित्रता, धर्म, अधर्म, अर्थ (धर्म व काम के साधनरूप से पुरुष-प्रार्थित वस्तुएँ), वर्णविभाग, आश्रमविभाग, उनके कर्तव्य, शुभ वस्तुएँ, अशुभ वस्तुएँ, भूत तथा भौतिक प्रपंच, नाना शब्द, अर्थों से शब्दों का अलगाव, आत्मातिरिक्त सब वस्तुओं की सत्यता, मिथ्यात्व, माया की विद्यमानता, माया का स्वरूप, माया की बंधनरूपता, गुरू-शिष्य की वार्ता, ब्रह्मविद्या, अनेक शास्त्र, विभिन्न तर्क, अन्य विपरीत तर्कों का संक्षेप, ब्रह्म की अन्यशेषता इत्यादि । किंतु इन बातों में श्रुति का तात्पर्य नहीं है । (क्रमशः इन श्रौत स्थलों को यहाँ समझा जा

---

१ ङ. °ज्ञातमथ्येत° । २ पंचसप्ततितमश्लोकव्याख्याने । भाष्ये 'एतत् सदात्मा यस्य सर्वस्य तदेतदात्म तस्य भाव ऐतदात्म्यमि'ति व्याचख्यौ । एतदात्मकता ब्रह्मात्मकतेत्यर्थः ।

साक्षादर्थस्वभावेन श्रुतिः सेयं प्रवर्तते । श्रोतुश्चित्ताविपाकेन[1] विषण्णा विवशा श्रुतिः ॥ १०० ॥

क्वचित्कदाचिदन्यार्थं वक्ति च ब्रह्मणः पृथक् । साध्यसाधनसंबन्धकथनं फलभाषणम् ॥ १०१ ॥

जगद्वैचित्र्यनिर्देशो धर्माधर्मार्थभाषणम् । वर्णाश्रमविभागोक्तिस्तद्धर्मोक्तिस्तथैव च ॥ १०२ ॥

शोभनाशोभनोक्तिश्च भूतभौतिकभाषणम् ।

शब्दानां भेदनिर्देशस्तथाऽर्थानां च भाषणम् ॥ १०३ ॥

आत्मनोऽन्यस्य सर्वस्य सद्भावोक्तिः सुरर्षभाः ।

मिथ्यात्वभाषणं तस्य मायासद्भावभाषणम् ॥ १०४ ॥

मायात्वोक्तिश्च मायाया बन्ध इत्यभिभाषणम् ।

गुरुशिष्यकथोक्तिश्च[2] ब्रह्मविद्याभिभाषणम् ॥ १०५ ॥

शास्त्राणामपि निर्देशस्तर्काणामपि[3] भाषणम् । अन्यद्वितर्कजालं[4] यत्तदुक्तिश्च समासतः ।

अन्यार्थेन परं ब्रह्म श्रुतिः साध्वी न तत्परा ॥ १०६ ॥

ननु क्रियाकारकफलरूपस्य प्रपञ्चस्य भेदमपि श्रुतिः प्रतिपादयति 'आत्मन आकाशः संभूतः', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिना । तत्कथं सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वमिति ? तत्राऽऽह–साक्षादिति । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्येषा श्रुतिरर्थस्वाभाव्येन साक्षाद्विद्यमानमेवार्थं प्रतिपादयितुं प्रवृत्ता । ईदृग्विधस्यार्थस्यासंस्कृतचित्तैर्दुरधिगमत्वात्तच्चित्तपरिपाकानुसारेण भेदश्रुतिर्मायामयव्यवहारसिद्धं भेदमनुवदन्ती साध्यसाधनफलादिलक्षणं जगद्वैचित्र्यं प्रतिपादयति, न परमार्थत इत्यर्थः ॥ १००–१०६ ॥

सकता है–'यं कामं कामयते तमागायति' (बृ. १.३.२८) । **'यजेत स्वर्गकामः'** (ताण्ड्य. १६.१५.५) । **'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'** (क. १.२०) । **'धर्मं चर'** (तै. १.११) **और 'ब्राह्मणं न हन्यात्'** (तै. सं. २.६.११) **'चित्रया यजेत पशुकामः'** (तै.सं.२.४.६) **'ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्' इत्यादि** (बृ १.४.११) । **'त्रयो धर्मस्कन्धाः'** (छा. २.२३.१), **'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहीभवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'** (जाबा. ४) । **'दम इति नियतं ब्रह्मचारिणः·····शम इत्यरण्ये मुनयः' इत्यादि** (महाना-२१) **'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति'** (छा. ५.२.९) । **'एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे'** (कठ. १.८) । **'आकाशः सम्भूतः' इत्यादि** (तै. २.१.१) । **'भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्'** (छां. ६.३.१) । **'इन्द्रं मित्रं वरुणम्'** (ऋ. सं. २.३.२२) । **'इयमेवर्गग्निःसाम'** (छां. १.६.१) ॥ **प्राणा वै सत्यम्'** (बृ. २.१.२०) । **'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्'** (श्वे. ४.१०) । **'मायया संनिरुद्धः'** (श्वे. ४.९) । **'अधीहि भगव इति'** (छां. ७.१.१) । **'ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तः'** (बृ. १.४.९) । **'पित्र्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यम्'** (छां. ७.१.२) । **'ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'** (छां. ३.१४.१) ।) ॥ १००–१०६ ॥ **श्रोताओं की बुद्धियों की परिपक्वता**

---

१ ङ. °श्चित्तवि° । २ झ. °ष्यतयोक्ति° । ३ ङ. °मभिभा° । ४ ङ. °न्यद्धि त° ।

चित्तपाकानुगुण्येन श्रोतॄणां परमा श्रुतिः ।
सोपानक्रमतो देवा[1] मन्दं मन्दं हितं नृणाम्[2] ॥ १०७ ॥
उपदिश्य विषण्णाऽपि पुनः पक्वाधिकारिणः । ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्याह परमाद्वयम् ॥ १०८ ॥
जगज्जीवेश्वरत्वादिविचित्रविभवं विना । केवलं चित्सदानन्दब्रह्मात्मैक्यपरा श्रुतिः ॥ १०९ ॥
जगज्जीवेश्वरत्वादि सर्वं ब्रह्मैव केवलम् । इति स्वपूर्णताज्ञानं परमाद्वैतवेदनम् ॥ ११० ॥
इतोऽन्यद्यत्परिज्ञानं तदज्ञानं न संशयः । विचारेणायमेवार्थस्त्वयमेवाविचारणे ॥ १११ ॥
न कदाचिद्विशेषोऽस्तीत्येतज्ज्ञानं सुदुर्लभम् ॥ ११२ ॥

सोपानक्रमत इति । श्रोतॄचित्तपरिपाकानुसारेण पूर्वकाण्डेऽग्निहोत्रादिधर्मान् क्रमेणोपदिश्य, तैः संस्कृतचित्तानां संहितोपासनादिकमुपदिश्यते, न प्राप्तैकाग्र्यमनस्कानामुत्तमाधिकारिणाम् एवं सोपानक्रमेणैतदात्म्यमिदं सर्वमिति श्रुतिरद्वितीयं ब्रह्मवस्त्ववगमयतीत्यर्थः ॥ १०७–१०८ ॥ इदानीमनुसंधानप्रकारमाह–**जगज्जीवेश्वरत्वादी**ति । भोक्तृभोग्यभोगप्रदरूपं यदिदं तत्सर्वं विशुद्धं ब्रह्मैवेति स्वात्मनो यत्परिपूर्णब्रह्मस्वरूपत्वज्ञानं तदद्वैतवेदनमित्यर्थः ॥ १०९–११० ॥ **इतोऽन्यदि**ति । **इतो**ऽस्मात्सार्वात्म्यज्ञानाद्यदन्यज्ज्ञानमहमन्यो ब्रह्मान्यदित्येवंविधं **तदज्ञानमेव** । श्रुतिरप्येवमाह–'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' इति । **सुदुर्लभमि**ति । निर्विशेषब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारस्य वर्णाश्रमधर्मपरितोषितपरमेश्वरप्रसादैकसमधिगम्यत्वादित्यर्थः । ॥ १११–११२ ॥

के अनुसार परम करुणामयी श्रुति सोपानक्रम से (जैसे सीढ़ी पर जो व्यक्ति जहाँ खड़ा है वहीं से एक-एक कदम ऊपर चढाया जाता है, हर चढ़ने वाला अपनी पूर्वस्थिति से ऊँचा पहुँच जाता है चाहे अन्य की अपेक्षा नीचा ही हो; उसी प्रकार) धीरे-धीरे लोगों को हित का उपदेश दे परेशान होने पर भी जब समझने योग्य अधिकारी पाती है तो 'यह सब कुछ शिवात्मक है' यों परमाद्वैत का बोध करा ही देती है ॥ १०७–१०८ ॥ जगत्, जीव, ईश्वर आदि विचित्र तथा विविधतया होने वाले भेद से रहित केवल चेतन, सत्य, आनन्द रूप ब्रह्म की प्रत्यगात्मा से एकता में श्रुति का तात्पर्य है ॥ १०८ ॥ जगत्, जीव, ईश्वर आदि सब केवल ब्रह्म ही हैं–यों अपनी पूर्णता का ज्ञान ही परम अद्वैत का अनुभव है ॥ ११० ॥ इससे अतिरिक्त जो कुछ भी समझा जाये वह निःसन्देह गैरसमझी है । विचार से भी यही सार निकलता है और विचार-समाप्ति पर यही स्वप्रकाश तत्त्व भासता है ॥ १११ ॥ कभी भी कोई विशेष नहीं है (शिव से भिन्न कभी कुछ नहीं है) ऐसा निश्चय बहुत कठिनाई से प्राप्त होता है ॥ ११२ ॥ जो-जो चीज़

---

१ च. देवाः श्रुतिर्मन्दहिते नॄ" । २ तदुक्तमाचार्यैः 'सन्मार्गस्थास्तावद्भवन्तु ततः शनैः परमार्थसदपि ग्राहयिष्यामीति मन्यते श्रुतिः' (छा. ८.१.१. पृ ३४६ म.अ.स.) ।

यथा यथा स्वभावेन यद्यद्भाति सुरर्षभाः ।

तथा तथा शिवो भाति स्वयमेव न चापरः ॥ ११३ ॥

यथा यथा प्रभा[1] साक्षाच्छांभवी सा न चापरा ।

इति निश्चयविज्ञानं परमाद्वैतवेदनम् ॥ ११४ ॥

यथा यथाऽवभासोऽयं शिव एवेति पश्यति ।

तथा तथा महादेवं भजतेऽयत्नतस्तु सः ॥ ११५ ॥

यथा यथा स्वभावेनेत्यादि । यद्यद् घटपटादिकं वस्तु येन येन प्रकारेण स्वभावभूतेन भाति तेन तेन प्रकारेण तदधिष्ठानभूतश्चिद्रूपः शिव एव प्रकाशते । अधिष्ठानस्फुरणमेव [2]तद्गतसत्त्ववदारोप्यधर्मतया[3] भासत इत्यर्थः ॥ ११३ ॥ एवं भावनामात्रस्य शिवरूपत्वमुपपाद्य तस्यानुसंधानप्रकारमाह—**यथा यथे**ति । घटो भाति पटो भातीत्यादौ येन येन प्रकारेण चित्प्रभाऽनुस्यूता लभ्यते सैव तत्तद्विषयांशपरिहारेण साक्षात्परमेश्वरस्वरूपभूतेति संशयविपर्यासरहितं यदनुसंधानं तत्परमाद्वैतज्ञानमिति[4] योजना ॥ ११४ ॥ अपि चैवमनुसंदधानस्य[5] बाह्यः सकलोऽपि व्यापारः परमेश्वरभजनरूपेण संपद्यत इत्याह—**यथा यथाऽवभास** इति । यद्यद्वस्तु चक्षुःश्रोत्रादिभिः प्रमाणैरवभासते तत्सर्वं व्यवहरन्नेव तदीयं सर्वमवभासमनुगतभानात्मकः शिव एवेति येन येन प्रकारेणानुसंधत्ते स योगीलतो यत्नव्यतिरेकेणैव तेन तेन प्रकारेण वाक्कायनिर्वर्त्यं परमेश्वरभजनमेव करोति न लोकव्यवहारम् ॥ ११५ ॥

जैसे-जैसे स्वभावतः प्रतीत होती है उस-उस प्रकार से शिव ही प्रतीत होता है इसमें संदेह नहीं ॥ ११३ ॥ जिस-जिस प्रकार से लांछित चित्प्रभा उपलब्ध होती है उस-उस लांछन को मानो लिए हुए उपलब्ध तो स्वयं शांकरी चिति ही हो रही है—ऐसा निश्चित अनुभव परम अद्वैत का विज्ञान है ॥ ११४ ॥ ज्यों-ज्यों समझ आता जाता है कि यह अवभास शिव ही है त्यों-त्यों व्यक्ति प्रयत्न किये विना महादेव का भजन करता चलता है । (अवभास अर्थात् भेदज्ञान, क्योंकि वही अवमत प्रतीति है । वीची, बुद्बुदा आदि जल ही है यह जैसे समझ आ सकता है ऐसे ही शत्रु, मित्र, सुख, दुःख आदि सब शिव ही है यह समझना संभव है । जैसे वहाँ एक बार लहर आदि से पृथक् जल क्या है यह समझ लेना आवश्यक है, तदनंतर लहर देखते हुए उसे पानी जानते रह सकते हैं, ऐसे ही एक बार विवेक आदि कर शान्त चित्त में अखण्डसाक्षात्कार करना आवश्यक है, फिर विक्षेप से व्यवहार करते हुए सबको ब्रह्म जानते रह सकते हैं ।) ॥ ११५ ॥ मनुष्य की बुद्धि उन-उन वस्तुओं में चाहे जैसे चंचल होती रहे, यदि उन नाना प्रकारों से होने वाले भान को शिव समझा जा रहा है तो वह स्वाभाविक मानस पूजन है ॥ ११६ ॥ सब कुछ

---

१ च. झ. प्रथा । २ झ. °सत्त्वादा° । ३ घ. °धर्म्यत° । ४ घ. °तविज्ञा° । ५ ङ. झ. °संधा° ।

यथा यथा प्रथा [1] पुंसस्तद्वस्तुष्वनवस्थिता । तथा तथाऽनुसंधानं स्वभावेनैव पूजनम् ॥ ११६ ॥

शिवरूपतया सर्वं यो वेद स हि तत्त्ववित् ।

अशिवं वेद यत्किंचित्स एव परिमोहितः ॥ ११७ ॥

शिवादन्यतया किंचिदपि यो वेद सोऽधमः ।

शिवस्यैवापचारं हि कुरुते स पशुर्नरः ॥ ११८ ॥

शिवरूपतया सर्वं यस्य भाति स्वभावतः ।

स्वेच्छाचारः समाचारस्तस्य चार्चा च शूलिनः ॥ ११९ ॥

यथा यथा प्रथा शंभोः प्रथा सा सा तदर्चनम् ।

इत्ययत्नेन विज्ञानात्पूज्यते परमेश्वरः ॥ १२० ॥

तथा येन येन प्रकारेण पुरुषस्य मतिरपि तत्तद्वस्तुष्वनवस्थिता चञ्चला भवति तेन तेन प्रकारेण तत्र सर्वत्र भानरूपं शिवमनुसंदधानस्तस्य मानसमेव पूजनं करोतीत्यर्थः । अयं योगोऽपि भगवता गीतायामुक्तः– 'पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् । प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥ इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् । ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ॥ लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति ॥ ११६–११८ ॥ एतत् सार्वात्म्यवेदनमन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपपादयति–**शिवरूपतये**त्यादिना ॥ ११९–१२० ॥

शिवरूप है–ऐसा समझने वाला ही तत्त्ववेत्ता है । शिव से भिन्न कुछ भी जो है मानता है वही मोह में पड़ा हुआ है ॥ ११७ ॥ वह अधम है जो शिव से अन्य कुछ है ऐसा समझता है । ऐसा व्यक्ति शिव का अपमान करने वाला पशु ही है ॥ ११८ ॥ जिसे स्वभावतः ही सब कुछ शिवरूप दीखता है उसका स्वेच्छाचरण ही सम्यग् आचरण है, वह त्रिशूलधारी की अर्चना है । चाहे जैसा जो कोई भी भान हो रहा है वह शंभु का ही भान है–यह अनुभव शिवार्चन है । इस विज्ञान से विना प्रयत्न शिवार्चन चलता रहता है ॥ ११९–१२० ॥ आत्मरूप देवता खेल-खेल में स्वयं ही जगत् के आकार वाला बन

१ घ. ञ. पुंसः स्वत एव व्यव° । २ ङ. ञ° °संधा° ।

[1]*क्रीडया जगदाकारा नान्यतश्चाऽऽत्मदेवता ।*

क्रीडयैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं भुङ्क्ते सा तद्धि वेदनम् ॥ १२१ ॥

इन्द्रियाकारभासा सा विषयाकारभासनम् ।

क्रीडया देवता भुङ्क्ते स्वत इत्यर्चनं मतम् ॥ १२२ ॥

परमाद्वैतविज्ञानमिदं भवभयापहम् । भवप्रसादतो लभ्यं भावनारहितं परम् ॥ १२३ ॥

यथा नक्तंदृशः सूर्यप्रकाशो नावभासते । तथेदं परमाद्वैतं मनुष्याणां न भासते ॥ १२४ ॥

प्रकारान्तरेणानुसंधानमाह–**क्रीडयेति** । येयम**आत्मदेवता सा** स्वाश्रितमायावशेन लीलयैव भोक्तृभोग्यभोगप्रदरूपजगदाकारा[2] जाता [3]तथा तथैव लीलया भोग्यरूपेणावस्थितमात्मानमेव[4] भोक्तृरूपेणाऽऽत्मना **भुङ्क्ते** ॥ १२१ ॥ तथेन्द्रियैरर्थव्यवहारसमये चक्षुरादिकरणजनितवृत्त्यभिव्यक्तेन भानेन शब्दस्पर्शादिविषयाकारं तदधिष्ठानभूतं भानं क्रीडयैवाऽऽत्मदेवता भुङ्क्ते । एवं यदनुसंधानं तदेवाद्वैतविज्ञानमित्यर्थः ॥ १२२ ॥ **परमाद्वैतविज्ञानमि**त्यादि स्पष्टम् । **भावनारहितमि**ति । भावनाजन्यसाक्षात्कारस्य मृतपुत्रसाक्षात्कारवदप्रमाणत्वात्तद्रहितमेव ज्ञानं पुरुषार्थसाधनमित्यर्थः । उक्तं ह्याचार्यैः–'भावनाजं फलं यत्स्याद्यच्च स्यात्कर्मणः फलम् । न तत्स्थास्न्विति[5] मन्तव्यं पण्यस्त्रीसंगतं यथा' इति ॥ 'द्रविडेष्विव संगतमि'ति नैष्कर्म्यसिद्धौ ॥ १२३ ॥ ननु ज्ञानिनो व्यवहारसमयेऽपि ब्रह्मात्मकत्वं भासते चेदन्येषामपि तत्किमिति न भासत इति ? तत्राऽऽह–**यथेति** । [6]मनुष्यादीनां प्रकाशमानोऽपि **सूर्यप्रकाशो यथा नक्तंदृशो** घूकस्य नैव भासत एवं व्यवहारेऽपि ज्ञानिनः सुलभमद्वैतमज्ञानिनां **मनुष्याणां न भासत** इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

गया है और वैसे ही स्वयं अपना ही भोग कर रहा है–यह ज्ञान है ॥ १२१ ॥ आत्मदेवता स्वंय ही इंद्रियरूप से प्रतीत होकर उससे विषयरूप से प्रतीत अपना भोग करती है–यह अर्चना है ॥ १२२ ॥ यह पारमार्थिक अद्वैत का अनुभव संसारभय का निवारक है । उपासनादि की अपेक्षा के बिना यह प्रामाणिक अनुभूति शिवकृपा से ही प्राप्त होती है ॥ १२३ ॥ जैसे उल्लू को भानु प्रभा नहीं दीखती ऐसे हीं अज्ञानी मनुष्यों को यह वास्तविक अद्वैत स्फुरित नहीं होता ॥ १२४ ॥ इसका स्फुरण तभी होता है जब रुद्र की कृपा हो, अपने में श्रद्धा तथा धैर्य हो (धैर्य अर्थात् मन की स्थिरता), गुरु की कृपादृष्टि हो और पापादि कर्म अधिक न हों ॥ १२५ ॥ सनातन शुद्ध श्रुति दुःखी साधकों के लिए इस अद्वैतरूप परमार्थ को बड़े आयास से बहुत तरह से कई वार समझाती है ॥ १२६ ॥ शिव ही है, और कुछ नहीं–यह जो स्थिर निश्चय है वही सिद्धान्त है, बाकी सब पूर्वपेक्ष हैं ॥ १२७ ॥ यही वेद का भी अर्थ है, इससे

---

१ झ. क्रीडायां । २ घ. ङ. °राज्जाता । ३ च. यथा । ४ झ. °व मोक्षरू° । ५ ङ. °स्थायीति । ६ ङ. मनुष्याणां ।

प्रसादादेव रुद्रस्य श्रद्धया स्वस्य धैर्यतः । देशिकालोकनाच्चैव कर्मसाम्ये प्रकाशते ॥ १२५ ॥

बहुप्रकारं बहुशः[1] श्रुतिः साध्वी सनातनी ।

एवमेतं महायासादर्थं वदति दुःखिनाम् ॥ १२६ ॥

ज्ञानिनोऽपि कथं तत्प्रतिभासत इत्याशङ्क्याऽऽह–**प्रसादादेवेति । श्रद्धये**दमित्थमेवेति विश्वासबुद्धेः । धैर्यं यन्मनसो निश्चलत्वम् । ईश्वरप्रसादादिहेतुभिः कर्मसाम्ये धर्माधर्मरूपयोः कर्मणोरुपभुक्तफलयोः फलेन सार्धं क्षयसाम्ये सति तस्य संस्कृतचित्तस्य निरावरणं सत्तदद्वैतं भासत इत्यर्थः । उक्तं हि–'जन्तोरपश्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये निःशेषपाशपटलच्छिदुरान्निमेषात् । कल्याणदेशिककटाक्षनिरीक्षणेन कारुण्यतो भवति शांभववेधदीक्षा' इति ॥ १२५ ॥ **बहुप्रकारमित्यादि** । ब्रह्मात्मैक्यलक्षणो यो वाक्यार्थ उक्त इममे**वार्थं** सकृदुपन्यस्तमपि **साध्वी** मातृवद्धितकारिणी निर्दोषेयं छन्दोगश्रुतिः संसारलक्षणमहायासं प्राप्य **दुःखिनां** नृणां बहुभिः प्रकारैस्तच्छङ्काशनिरासेन **बहुशो** बहुवारं पुनः पुनरुपदिशति । तथा हि (१) सुषुप्त्युत्क्रान्त्याद्यवस्थासु येन रूपेण जीवः संपद्यते तत्सद्रूपं ब्रह्म त्वमसीति पित्रा बोधितः श्वेतकेतुराशङ्कते (२) सुषुप्तौ सत्संपन्नाः प्रजास्तद्ब्रह्मात्मकत्वं किमिति न विदुरिति ? मधुकरैर्मधुत्वेन समाहृतनानावृक्षरससमुदायवद्विवेकुमशक्यत्वेन सुषुप्त्यादौ प्राप्तमपि ब्रह्म न ज्ञायत इति तामाशङ्कां निरस्य, 'स एषोऽणिमैतदात्म्यम्' इति प्रागुक्तमेवार्थं पुनरुपदिदेश । (३) ननु युक्तं सुषुप्त्यादौ करणाभावादविज्ञानम् । उत्थितस्तु ब्रह्मणोऽहमुत्थित इति कस्मान्न जानीयादित्याशङ्कायामुक्तम् – यथा [2]जलधरैरम्भोनिधित आकृष्य वृष्टानां[3] पुनः समुद्रप्राप्तानां नदीनां रसान्यत्वेन समुद्रादागमनं समुद्रात्मत्वं च दुर्ज्ञानमेवं ब्रह्मण उत्थितानां संसारिणां तद्वैलक्षण्यात्तदात्मनाऽवस्थायोत्थिता वयमिति न ज्ञानमिति परिहारेण प्रागुक्तं वाक्यमेवोपदिष्टम् । (४) तथा सुषुप्तौ जीवस्य कारणभावापत्तौ समुद्रवीच्यादिवन्नाशमाशङ्क्य यथा वृक्षस्य परश्वादिना छेदे रसस्रावित्वात्सजीवत्वमेवं सुषुप्तदेहेऽपि लोहितदर्शनान्न जीवनाश इति परिहारेण प्रागुक्त एवार्थे स्थापिते, (५) पुनः श्वेतकेतुराशङ्कते–कथं सूक्ष्माद्ब्रह्मणः स्थूलजगदुत्पत्तिरिति ? वटधानान्तर्गतसूक्ष्मरूपाद्वटोत्पत्तिवज्जगदुत्पत्तिसंभवेन तन्निराकृत्य तमेवार्थमुपदिदेश । (६) ननु जगन्मूलकारणं ब्रह्म किमिति नोपलभ्यत इत्याशङ्क्योदकप्रक्षिप्तलवणघनस्य दर्शनस्पर्शनाभ्यामनुपलम्भेऽपि रसाल्लवणसद्भावनिश्चयवच्चक्षुराद्यदृश्यमपि ब्रह्म कार्यलिङ्गादस्तीत्युक्तम् । (७) ब्रह्मसाक्षात्कारे क उपाय इत्याशङ्क्य गान्धारदेशारण्ये चौरैर्निक्षिप्तस्य बद्धचक्षुषः पुरुषस्य नेत्रबन्धनिर्मोकगान्धारोपदेशगमनवदाचार्यकृतादुपदेशाद् ब्रह्मसाक्षात्कारोऽविद्यानिवृत्तिश्चेत्युक्तम् । (८) स विद्वान्केन प्रकारेण ब्रह्म संपद्यत इत्यपेक्षायां विद्वान्मनआदेर्लये सति ज्ञानदीपप्रकाशितं ब्रह्मैव प्रपद्यते नार्चिरादिक्रममपेक्षते । अविद्वांस्तु देहान्तरं गृह्णातीत्युक्तम् । (९) विद्वांस्तु यदि मरिष्यमाणो मोक्ष्यमाणश्च ब्रह्म संपद्यते तर्हि विद्वानप्यविद्वानिव किमिति नाऽऽवर्तत इत्याशङ्कायामुत्तरम्–तप्तपरशुं गृह्णतोः स्तेनास्तेनयोस्तप्तपरशोः करतलसंयोगाविशेषेऽपि सत्यव्यवहितहस्ततलत्वादस्तेनो न दह्यते । स्तेनस्तु दह्यते । एवमन्तकाले विद्वदविदुषोः समानायामपि सत्संपत्तौ सत्यब्रह्माभिसंधिः पुनर्नदेहं गृह्णाति । अनृतदेहाद्यात्मबुद्धिस्तु पुनः शरीरमुपादत्त इति । एवं तत्तच्छङ्कानिरासेन नवभिः पर्यायैस्तत्त्वमसिवाक्येन प्रागुदीरितं ब्रह्मात्मैक्यं श्रुत्योपदिष्टं; तदिदमुक्तं **बहुप्रकारं बहुश** इति ॥ १२६ ॥

अतिरिक्त नहीं । तपा फरसा छूकर भी मैं यह कह सकता हूँ (अर्थात् इस बात की सच्चाई निःसंदिग्ध है) ॥ १२८ ॥ यही अर्थ सत्य है, अन्य कोई नहीं । आप लोगों को विश्वास दिलाने के लिए मैं शिव

---

१ ननु मानं श्रुतिरेकयत्नेनापि चेद्ब्रूते तत्तथैव स्याद् बहुशः कथने तु शंकैव भवति–अर्थान्तरं विवक्षितं वेति, अन्यथा पुनरुक्तिप्रसंगादिति चेन्न । अभ्यासो हि तात्पर्यलिङ्गमिति पुनः कथनं न शंकाजनिहेतुरपितु तात्पर्यबोधहेतुः । अतएव चावृत्तिरसकृदुपदेशादिति पाराशर्योक्तिरपि संगच्छते । २ च. °लधेर° ।३ विसृष्टानामिति बालपाठः ।

शिव एवास्ति नैवान्यदिति यो निश्चयः स्थिरः ।
सदा स एव सिद्धान्तः पूर्वपक्षास्तथा परे ॥ १२७ ॥
अयमेव हि वेदार्थो नापरः परमास्तिकाः ।
गृह्णामि परशुं तप्तं सत्यमेव न संशयः ॥ १२८ ॥
अयमेव हि सत्यार्थो नापरः परमास्तिकाः ।
विश्वासार्थं शिवं स्पृष्ट्वा त्रिर्वः शपथयाम्यहम् ॥ १२९ ॥
अयमेव हि वेदार्थो नापरः परमास्तिकाः ।
अन्यथा चेत्सुराः सत्यं मूर्धा मेऽत्र पतिष्यति ॥ १३० ॥
अयमेव हि सत्यार्थो नापरः परमास्तिकाः ।
अत्रैव संनिधिं देवो विश्वासार्थं करिष्यति ॥ १३१ ॥
सूत उवाच– एवमुक्त्वा तु भगवान्ब्रह्मा सर्वहिते रतः ।
प्रणम्य दण्डवद् भूमौ भक्त्या परवशोऽभवत् ॥ १३२ ॥
अस्मिन्नवसरे श्रीमाञ्शंकरः शशिशेखरः ।
नीलकण्ठो विरूपाक्षः साम्बः साक्षाद् घृणानिधिः ॥ १३३ ॥

अभ्यासस्य तात्पर्यलिङ्गत्वाद्बहुशोऽभ्यस्यमानो ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणोऽर्थ एव श्रुतेस्तात्पर्यगम्यो नान्य इति निगमयति– **शिव एवेति** ॥ १२७ ॥ ब्रह्मात्मश्रुतिवत्स्वयमपि प्रमाणभूत इति स्वानुभवसिद्धत्वादप्ययमेव सिद्धान्त इति शपथं करोति– **अयमेवेत्यादिना** ॥ १२८–१३० ॥ **अत्रैव संनिधिमिति** । न केवलमहमेवेममर्थं ब्रवीमि, अपि तु परमेश्वरोऽपि भक्तवत्सलतयाऽत्रैव[1] संनिहितः सन्मदुक्तेऽर्थे युष्माकं विश्वासं जनयिष्यतीत्यर्थः ॥ १३१ ॥ **एवमुक्त्वेत्यादि** सूतवाक्यं स्पष्टम् ॥ १३२–३ ॥

का स्पर्श कर तीन बार शपथ खाकर यह कह सकता हूँ ॥ १२९ ॥ यही वेदार्थ है, अन्य नहीं । यदि इससे अतिरिक्त कुछ सत्य हो तो मेरा सिर कट कर गिर जाये ॥ १३० ॥ यही सत्य अर्थ है, अन्य नहीं यह विश्वास दिलाने के लिए महादेव यहीं प्रकट होंगे ॥ १३१ ॥

सूतजी बोले–यों कहकर सबका हित करने वाले भगवान् ब्रह्म ने भूमि पर दण्डवत् प्रणाम किया और भक्ति के परवश हो गये ॥ १३२ ॥ उसी समय ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि गुणमयी मूर्तियों के उपास्य सर्वज्ञ शशिशेखर, नीलकण्ठ, त्रिनेत्र, साम्ब, कृपासागर, श्रीमान् शंकर स्वयं वहीं देवताओं के संमुख प्रकट हुए ॥ १३३–१३४ ॥ शिव के योग्य स्वर्णमय दिव्य निर्मल आसन वहाँ आया और उस पर वे आराम से बैठ गये ॥ १३५ ॥ जगत्कर्ता विष्णु ने अमित तेज वाले शिव का अभिप्राय समझ लिया और प्रसन्नता से खुद भी वहाँ आ गये । (अभिप्राय था परमार्थ का उपदेश करना) ॥ १३६ ॥ वहाँ बारबार फूलों की वर्षा हुई । सनातन मुनियों ने वेदोद्घोष किया और भक्तों ने पूजन किया ॥ १३७ ॥ उच्च, मंद, कोमल और तीव्र स्वरों से ढोल बज रहे थे, ताल के जानकार नगाड़ों से विभिन्न गतियों की ध्वनियाँ कर

---

१ घ. °या तत्रै° ।

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्यैरुपास्यो गुणमूर्तिभिः । आविर्बभूव सर्वज्ञस्तत्रैव सुरसंनिधौ ॥ १३४ ॥

आसनं विमलं दिव्यं शिवार्हं हैममद्भुतम् ।

आगतं तत्र भगवानास्ते तस्मिन्यथासुखम् ॥ १३५ ॥

विष्णुर्विश्वजगत्कर्ता शिवस्यामिततेजसः । बुद्ध्वोद्योगं महाप्रीतस्तत्र संनिहितोऽभवत् ॥ १३६ ॥

पुष्पवृष्टिरभवत्पुनः पुनः शब्दितं च मुनिभिः सनातनैः ।

शुद्धवेदवचनैः सुशोभनैर्भक्तिमद्भिरपि पूजनं कृतम् ॥ १३७ ॥

उच्चमन्दमृदुतीव्रकाहलैः शब्दितं च पटहादिभिस्तथा ।

तालमानकुशलैस्तथा परैर्भेरिकादिकुशलैः सुघोषितम् ॥ १३८ ॥

अप्सरोभिरपि नर्तनं कृतं गायनैश्चसहितैर्महत्तरैः ।

गीतमाशु कविभिश्च कीर्तितं स्थानमीशदृशिगोचरं द्विजाः ॥ १३९ ॥

विस्मिताश्च मुनयश्च केचन श्रद्धयैव शिरसा च नर्तिताः ॥

मुष्टियुद्धमपि कुर्युरास्तिकाः श्रद्धयैव परया च केचन ॥ १४० ॥

मस्तकेन मनुजानतिप्रियान्पृष्ठतश्च चरणेन पाणिना ॥

दण्डरज्जुशिबिकादिभिस्तथा केचिदश्वनिकरैर्वहन्ति च ॥ १४१ ॥

बन्धनं च निगडैश्च गर्विता मोचनं[1] च मनुजानतिप्रियान्[2] ॥

कुर्युरस्त्रनिकरैश्च केचन च्छेदनं च विवशाश्च केचन ॥ १४२ ॥

गुणमूर्तिभिरिति । सत्त्वरजस्तमोगुणा एव मूर्तयो येषां ते तथोक्ताः ॥ १३४–१३८ ॥ **स्थानमीशेति** । परमेश्वरदृष्टिगोचरमेतत्स्थानं पुष्पवृष्ट्यादिभिरलंकृतमिति शेषः ॥ १३९ ॥ **नर्तिता** इति । अत्र श्रद्धा प्रयोजककर्त्री तया नर्तनं प्रापिताः । नृतेर्ण्यन्तात्कर्मणि निष्ठा ॥ १४०–१४५ ॥

रहे थे तथा अन्य कुशल लोग बड़े ढोल बजा रहे थे ॥ १३८ ॥ वहाँ अप्सरायें भी नाची, बहुत अच्छे गीत गाये गये, कवियों ने काव्यपाठ किया । परमेश्वर की दृष्टि का विषयभूत स्थान यों परम मंगलमय हो उठा ॥ १३९ ॥ कुछ मुनि अत्यन्त विस्मित हो गये और श्रद्धावश सिर के बल नाचने लगे । आपस में मुक्केबाजी का खेल भी श्रद्धा से लोग करने लगे ॥ १४० ॥ कोई किसी को प्रेमवश सिर पर उठाने लगा, किसी को पीठ पर । पैर या हाथ से पकड़कर मस्ती में एक दूसरे को उठाने लगे । डण्डे, रस्सियाँ, पालकियाँ और घोड़े लोगों को उठाने के काम में लिये जाने लगे ॥ १४१ ॥ प्रिय व्यक्तियों को कोई जंजीरों से बाँधता तो कोई खोलता । हथियारों से भी आपस में कलहक्रीडा की जा रही थी ॥ १४२ ॥

---

१ झ. °चमानम° । २ झ. °यात् । कु° ।

अन्योन्यमालिङ्गनमाचरन्ति प्रियेण केचिन्मुनयश्च केचित् ॥
धावन्ति वेगेन पटं विसृज्य प्रियेण चान्यानपि ताडयन्ति ॥ १४३ ॥
विलोक्य सर्वं शिवया शिवोऽपि प्रहृष्टचित्तस्तु निवार्य सर्वान् ॥
हरिं विरञ्चिं च सुरानशेषानतिप्रियेणैव निरीक्ष्य विप्राः ॥ १४४ ॥
उवाच सत्यं करुणानिधानः श्रुतिप्रमाणैकसुनिश्चितार्थः ॥
हिताय लोकस्य सुरासुराद्यैः प्रपूजनीयश्च सदा महेशः ॥ १४५ ॥
ईश्वर उवाच— अहं हि सर्वं न च किंचिदन्यन्निरूपणायामनिरूपणायाम् ।
इयं हि वेदस्य परा हि निष्ठा ममानुभूतिश्च न संशयश्च ॥ १४६ ॥
अहं सदाऽधश्च तथाऽहमूर्ध्वं त्वहं पुरस्तादहमेव पश्चात् ।
अहं च [1]सव्येतरमास्तिकास्तथा त्वहं सदैवोत्तरतोऽन्तरालम् ॥ १४७ ॥

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्यादिश्रुत्यर्थतया भोक्तृभोग्यभोगलक्षणस्य सर्वस्याद्वितीयब्रह्मात्मवं यद् ब्रह्मणोदीरितं तत्सत्यमेवेति परमेश्वरः स्वात्मनः सार्वात्म्यं प्रकटयति—अहं हि सर्वमित्यादिना । विचारदशायां तावद्रज्जुतत्त्वे सर्पधारादिवदध्यस्तस्याज्ञानतत्कार्यस्य मय्येव विलयान्मत्तोऽतिरिक्तं किंचिन्नास्ति । 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः' इति ह्युक्तम् । तथाच यदिदं सर्वं न तत्सर्वं किं त्वहमेवेति बाधायां सामानाधिकरण्यम् । अविचारदशायामध्यारोपितस्य सर्वस्याधिष्ठानादनन्यत्वादहमेव प्रतिभासमानसकलवस्त्वात्मक इति संसर्गे सामानाधिकरण्यम् । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति श्रवणाद्वेदस्याप्ययमेव तात्पर्यगम्योऽर्थ इत्याह—**इयं हीति** ॥ १४६ ॥ 'स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्' इति यत्सनत्कुमारनारदसंवादे भूमविद्यायामाम्नायतेऽत्र प्रसङ्गात्तदर्थमाह—**अहं सदाऽधश्चेति** ॥ १४७ ॥

कुछ मुनि एक—दूसरे का आलिंगन कर रहे थे, कोई कपड़े छोड़कर दौड़ रहा था, कोई अन्यों को प्रेम से मार रहा था ॥ १४३ ॥ उमा सहित शिव यह सब देख प्रसन्न हुए (जैसे बच्चों के ऊट-पटाँग खेल देख माता-पिता प्रसन्न होते हैं) और सबको ऐसा करने से रोक कर (एकाग्र होने को कहा) । विष्णु, ब्रह्मा आदि सब देवताओं की ओर प्रेम से देख करुणानिधान ने बोलना प्रारम्भ किया । श्रुतिप्रमाण के सुनिश्चित अर्थ वे ही अकेले हैं । सुर-असुर सबके द्वारा वे सदा पूज्य हैं । लोकों के हित के लिए उनका प्रवचन था ॥ १४३—१४५ ॥

ईश्वर ने कहा—जो कुछ है वह सब मैं ही हूँ, मुझ से अन्य कुछ नहीं । विचार करो तो और कुछ नहीं है मैं ही हूँ तथा विचार न करो तो मैं ही सब रूपों मे दीख रहा हूँ, दोनों तरह से मुझसे

१ ङ. सर्वान्तर॰ ।

परोक्षरूपेण सुसंस्थितोऽहं तथाऽपरोक्षेण सुसंस्थितोऽहम् ।

अनात्मरूपेण सुसंस्थितोऽहं सदात्मरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥ १४८ ॥

जैवेन रूपेण सुसंस्थितोऽहं तथेशरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥

अज्ञानरूपेण सुसंस्थितोऽहं विज्ञानरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥ १४९ ॥

संसाररूपेण सुसंस्थितोऽहं कैवल्यरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ।

शिष्यादिरूपेण सुसंस्थितोऽहं गुर्वादिरूपेण[1] सुसंस्थितोऽहम् ॥ १५० ॥

वेदादिरूपेण[2] सुसंस्थितोऽहं स्मृत्यादिरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ।

पुराणरूपेण सुसंस्थितोऽहं कल्पादिरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥ १५१ ॥

प्रमातृरूपेण सुसंस्थितोऽहं प्रमाणरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ।

प्रमेयरूपेण सुसंस्थितोऽहं मितिस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥ १५२ ॥

कर्तृस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं क्रियास्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ।

तद्धेतुरूपेण सुसंस्थितोऽहं फलस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥ १५३ ॥

भोक्तृस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं भोगस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ।

तद्धेतुरूपेण सुसंस्थितोऽहं भोग्यस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥ १५४ ॥

॥ १४८–१५४ ॥

अन्य कुछ नहीं है । वेद का परम प्रतिपाद्य यह–शिवाद्वैत (शिवातिरिक्त जीव जगत् आदि कुछ नहीं)–ही है । मुझ अद्वैत की अनुभूति निःसंदिग्ध हो यही परम पुमर्थ है ॥ १४६ ॥ नीचे, ऊपर, सामने, पीछे, दायें, बायें तथा बीच में सर्वत्र सदा मैं ही हूँ ॥ १४७ ॥ परोक्ष, अपरोक्ष, आत्मा व अनात्मा सब रूपों में भली भाँति मैं ही स्थित हूँ ॥ १४८ ॥ जीव, ईश्वर, अज्ञान और विज्ञान रूप से मैं ही सुसंस्थित हूँ ॥ १४९ ॥ संसार, मोक्ष, शिष्यादि तथा गुरु आदि रूपों में मैं ही हूँ ॥ १५० ॥ वेदादि, स्मृति आदि, पुराण व कल्पादि रूपों से मैं ही स्थित हूँ ॥ १५१ ॥ प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति रूप से सुसंस्थित मैं ही हूँ ॥ १५२ ॥ कर्ता, क्रिया, कारक और फल रूप से मैं ही स्थित हूँ ॥ १५३ ॥ भोक्ता, भोग, भोगसाधन व भोग्य रूप मैं ही हूँ ॥ १५४ ॥ पुण्य, पाप, सुख व दुःख रूप से मैं ही स्थित

१ पुत्रादिसंग्रहार्थमाद्यमादिपदं पित्राद्यर्थं द्वितीयम् । २ इहादिनोपवेदाः । स्मृत्यादौ तन्त्रादिसंग्रहार्थमादिपदम् । कल्पादीत्यत्र वेदांगग्रहणाय तत् ।

पुण्यस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं पापस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ।
सुखस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं दुःखस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥ १५५ ॥
रुद्रप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं विष्णुप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
ब्रह्मप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं देवप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् । ॥ १५६ ॥
मर्त्यप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं तिर्यक्प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
कृमिप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं कीटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १५७ ॥
वृक्षप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं गुल्मप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
लताप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं तृणप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १५८ ॥
कालप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं घटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
पटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं कुड्यादिभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १५९ ॥
अन्नप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं पानप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
वनप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं गिरिप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १६० ॥
नदीप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं नदप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
समुद्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं तटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १६१ ॥
[1]तडागभेदेन सुसंस्थितोऽहमभ्रप्रभेदेन[2] सुसंस्थितोऽहम् ।
नक्षत्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं ग्रहप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १६२ ॥

हूँ ॥ १५५ ॥ रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा व देव भेदों से मैं ही संस्थित हूँ । (रुद्र के भेद ये ग्यारह प्रसिद्ध हैं 'अजैकपादहिर्बुध्नो विरूपाक्षोथ रैवतः । हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वर ! ॥ सावित्र्यश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः । एते रुद्राः समाख्याताः एकादश गणेश्वराः ॥' (मत्स्य पु. अध्या ५) ॥ विष्णु के भेद मत्स्य आदि अवतार समझने चाहिये । ब्रह्मा के भेद विराट्, हिरण्यगर्भ आदि हैं । देवों के भेद वसु आदि प्रसिद ही हैं ।) ॥ १५६ ॥ मर्त्य (मनुष्य), तिर्यक् (पशु-पक्षी), कृमि व कीट इन भेदों में बँटा भी मैं ही हूँ ॥ १५७ ॥ वृक्ष, झाड़ी, लता व तृण (घास) इन भेदों से भी मैं ही स्थित हूँ ॥ १५८ ॥ काल, घट, पट, दीवाल आदि भेदों वाला मैं ही हूँ ॥ १५९ ॥ अन्न, पान, वन व गिरि (पर्वत) भेदों में बँटा मैं ही हूँ ॥ १६० ॥ नदी, नद, समुद्र और तट भेदों से स्थित मैं हूँ ॥ १६१ ॥ तालाव, आकाश, नक्षत्र

---

१ तटाक्भे० । २ अभ्रं मेघे च गगने धातुभेदे च कांचन इति मेदिनी । ततोऽभ्रमिह नभः परं मेघस्य स्वशब्देन वक्ष्यमाणात्वात् ।

मेघप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं विद्युत्प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
यक्षप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं रक्षःप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १६३ ॥
गन्धर्वभेदेन सुसंस्थितोऽहं सिद्धप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
अण्डप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं लोकप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १६४ ॥
देशप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं ग्रामप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
गृहप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं मठप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १६५ ॥
कटप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं प्राकारभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
पुरप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं पुरीप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं ॥ १६६ ॥
व्योमादिभेदेन सुसंस्थितोऽहं शब्दादिभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
शरीरभेदेन सुसंस्थितोऽहं प्राणप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १६७ ॥
[1]श्रोत्रादिभेदेन सुसंस्थितोऽहं पादादिभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।
मनःप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं बुद्धिप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १६८ ॥

॥ १५५–१६८ ॥

और ब्रह्म रूप मैं ही हूँ ॥ १६२ ॥ मेघ, विद्युत्, यक्ष व राक्षस भेदों से मैं ही स्थित हूँ ॥ १६३ ॥ गंधर्व, सिद्ध, ब्रह्माण्ड और लोक इन भेदों में मैं ही सुसंस्थित हूँ ॥ १६४ ॥ देश, गाँव, घर, मठ–इन भेदों में मैं स्थित हूँ ॥ १६५ ॥ कट (चटाई), प्राकार (चारदीवारी), बड़े व छोटे नगरों के रूप में मैं ही हूँ ॥ १६६ ॥ व्योमादि, शब्दादि, शरीर तथा प्राण भेदों से मैं ही संस्थित हूँ ॥ १६७ ॥ श्रोत्र, पाद, मन, बुद्धि आदि भेदों से मैं ही विद्यमान हूँ ॥ १६८ ॥ अहंकार, चित्त, संघात व जन्मादि भेदों से मैं वर्तमान हूँ ॥ १६९ ॥ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय भेदों वाला मैं हूँ ॥ १७० ॥ दृश्य, द्रष्टा व साक्षी रूपों में मैं हूँ । किम्बहुना ? सभी रूपों में मैं ही सुसंस्थित हूँ ॥ १७१ ॥ जिसे 'है' कहा जाता है, जिसे 'नहीं है' कहा जाता है, जिसे कहा जाता है कि 'इसका ज्ञान होता है' और जिसे कहा जाता है कि 'इसका

१ झ. श्रोत्रप्रभे० ।

अहंप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं चित्तप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।

संघातभेदेन सुसंस्थितोऽहं जन्मादिभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १६९ ॥

जाग्रत्प्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं स्वप्नप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।

सुषुप्तिभेदेन सुसंस्थितोऽहं तुरीयभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ॥ १७० ॥

दृश्यप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहं द्रष्टृप्रभेदेन सुसंस्थितोऽहम् ।

साक्षिस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहं सर्वस्वरूपेण सुसंस्थितोऽहम् ॥ १७१ ॥

अस्तिनास्तिवचनेन भाषितं भातिशब्दपरिभाषितं तथा ।

भानहीनपरिभाषितं च मे रूपमेव हि न संशयः क्वचित् ॥ १७२ ॥

शब्दगोचरतया स्थितं सदा शब्दगोचरविहीनरूपतः ।

यत्स्थितं तदहमेव संततं प्रत्ययेऽपि गतिरेवमेव हि ॥ १७३ ॥

नित्यशुद्धपरिबुद्धमुक्ततां यस्य नित्यमिति वक्ति वाक् श्रुतेः ।

तस्य सत्यसुखबोधपूर्णता तथ्यमेव मम नास्ति संशयः ॥ १७४ ॥

यत्स्वरूपमहमात्मना तथा यत्स्वरूपमिदमात्मनैव तु ।

भाति तत्तु मम चिद्वपुः सदा भाति नान्यदिति निश्चयो मम ॥ १७५ ॥

अहंप्रभेदेनेति । अहंकारप्रभेदेनेत्यर्थः ॥ १६९–१७१ ॥ **अस्तिनास्तीति** । सत्त्वासत्त्वाभ्यां भातत्वाभातत्वाभ्यां च यदुपन्यस्ते तत्सर्वं मत्स्वरूपमित्यर्थः ॥ १७२ ॥ **शब्दगोचरतयेति** । शब्देन यद्विषयीकृतं यच्च शब्दो विषयीकर्तुं न शक्नोति तत्सर्वमहमेव । उक्तमर्थं बुद्धिवृत्तावप्यतिदिशति–**प्रत्ययेऽपीति** ॥ १७३ ॥ **वाक् श्रुतेरिति** । श्रुतेर्वाक्यमित्यर्थः ॥ १७४ ॥ **अहमात्मनेति** । यस्य चिन्मात्रपरशिवस्य **स्वरूपमहमात्मना**ऽहंकारास्पदेन भोक्तृरूपेण **तथेदमात्मनेदं**कारास्पदेन भोग्यरूपेण च **भाति** तच्चिन्मात्रमेव मदीयं स्वरूपं **नान्यदित्यर्थः** ॥ १७५ ॥

भान नहीं होता'—वह सब मेरा ही रूप है इसमें संशय नहीं ॥ १७२ ॥ शब्द का विषय और अविषय तथा बुद्धिवृत्ति का विषय और अविषय—इन रूपों में स्थित जो कुछ है वह मैं ही हूँ ॥ १७३ ॥ श्रुति के वाक्य सदा जिसे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त कहते हैं उस मेरी सत्यरूपता सुखरूपता बोधरूपता व पूर्णरूपता वास्तविक है, इसमें संशय नहीं ॥ १७४ ॥ जो स्वरूप 'मैं'—इस तरह प्रतीत होता है तथा जो 'यह'—

अहं समस्तं मम रूपतः पृथङ्न किंचिदस्तीति सुनिश्चयः कृतः ।

मया तु वेदान्तवचोभिरञ्जसा पितामहेनापि च सत्यमीरितम् ॥ १७६ ॥

अत्र संशयमतिर्विनश्यति भ्रष्ट एव परमार्थदर्शनात् ।

अत्र निश्चयमतिस्तु मुच्यते कष्टरूपभवपाशबन्धनात् ॥ १७७ ॥

सूत उवाच– एवमुक्त्वा महादेवः साम्बः संसारमोचकः ।

समालिङ्ग्य महाविष्णुं ब्रह्माणमपि सादरम् ॥ १७८ ॥

विलोक्य देवानखिलान्विशुद्धेनैव चेतसा ।

भद्रमस्तु सुरश्रेष्ठा युष्माकमिति चाब्रवीत् ॥ १७९ ॥

देवाश्च देवदेवेशं प्रसन्नं करुणानिधिम् । पूजयामासुराह्लादात्पत्रपुष्पफलादिभिः ॥ १८० ॥

विष्णुर्विश्वजगत्कर्ता विश्वेशाङ्घ्रिसरोरुहम् ।

स्वमूर्ध्नि भक्त्या निक्षिप्य तथा परवशोऽभवत् ॥ १८१ ॥

पितामहोऽपि सर्वात्मा शिवपादाम्बुजद्वयम् ।

स्वमूर्ध्नि भक्त्या निक्षिप्य तथा परवशोऽभवत् ॥ १८२ ॥

यस्मान्मदीयो निश्चय एवंरूपस्तस्मात्सार्वात्म्यप्रतिपादिका श्रुतिस्तदर्थप्रतिपादको ब्रह्मा चोभावपि सत्यवादिनाविति निगमयति–मया त्विति ॥ १७६–१८२ ॥

इस तरह प्रतीत होता है वह मेरा चैतन्यस्वरूप ही है, उससे अलग कुछ नहीं ॥ १७५ ॥ मैं ही सब कुछ हूँ ॥ मेरे स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है । यह बात वेदांतवचनों द्वारा मैंने तथा अपने उपदेशों द्वारा पितामह ब्रह्मा ने स्पष्ट की है ॥ १७६ ॥ इसमें जो संशय रखता है वह विनाश को प्राप्त होता है । कारण है कि वह वास्तविक ज्ञान से दूर बना रहता है । जो इस विषय में ऐसा ही निश्चय करता है, वह कष्टरूप संसार-बेड़ियों के बंधन से छूट जाता है ॥ १७७ ॥

सूतजी बोले–महादेव ने यों उपदेश पूरा कर ब्रह्मा और विष्णु का आलिंगन किया तथा सब देवताओं की ओर प्रेम से देखकर कहा–'आप सबका कल्याण हो ।' देवताओं ने भी पत्र, पुष्प, आदि से भगवान् की पूजा की । ॥ १७८–१८० ॥ विष्णु व ब्रह्मा ने महादेव के चरणों को अपने-अपने माथे से लगाया और भक्तिभावविभोर हो गये ॥ १८१–१८२ ॥ शिव ने अपने ऐश्वर परम आनंदरूप को नाचकर प्रदर्शित किया ॥ १८६ ॥ तब करुणासागर महादेवी ने परमेश्वर को देखते हुए (नृत्त की लय के अनुसार) ताली बजायी ॥ १८४ ॥ विष्णु, ब्रह्मादि सब देव भी संतोष से नाचने लगे ॥ १८५ ॥

देवदेवो महादेवः साम्बः संसारमोचकः । ननर्त परमं भावमैश्वरं संप्रदर्शयन् ॥ १८३ ॥

करतालं महादेवी करुणासागरा परा । चकार परमप्रीत्या समालोक्य महेश्वरम् ॥ १८४ ॥

विष्णुर्ब्रह्मा सुराः सर्वे तत्र संनिहिता जनाः ।

सर्वे संतोषतस्तत्र नृत्यन्ति स्म यथाबलम् ॥ १८५ ॥

देवदेवो महादेवो महानन्दोदधिर्द्विजाः । विलोक्य सर्वान्सुप्रीतस्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ १८६ ॥

विष्णुर्ब्रह्माणमालिङ्ग्य विलोक्य सकलान्सुरान् । प्रसन्नः पद्मया सार्धं वैकुण्ठमगमत्प्रभुः ॥ १८७ ॥

ब्रह्माऽपि विस्मयापन्नो विलोक्य सकलान्सुरान् ।

अवशः सन्पुनश्चाऽऽह श्रद्धयैव तु केवलम् ॥ १८८ ॥

विद्याः सर्वा नृणां साक्षात्संसारस्य प्रवर्तिकाः ।

आत्मविद्या तु संसारतमसः प्रतिघातिनी ॥ १८९ ॥

परमं भावमिति । परशिवस्य निरतिशयपरमानन्दविषयो यः परमो भावस्तं प्रदर्शयन्नभिनयार्थं नृत्तं कृतवान् । तस्य च भावस्य स्वरूपनिरूपणं शिवमाहात्म्यखण्डस्य तृतीयेऽध्याये विस्तरेण कृतम् ॥ १८३–१८७ ॥ **अवशः सन्निति** । एवं परमेश्वरविष्ण्वोश्चान्तर्हितयोः सतोः शिवभक्त्या परवश एव सन्ब्रह्मा श्रद्धावशात्पूर्वोक्तस्य श्रुत्यर्थस्य शेषं पुनराहेति सूतवाक्यम् ॥ १८८ ॥ छान्दोग्ये सप्तमे या भूमविद्या सनत्कुमारेण नारदायोपदिष्टा तां संजिघृक्षुस्तत्राऽऽत्मविद्याव्यतिरिक्तानां विद्यानां स्वरूपज्ञाननिर्वर्तकत्वाभावेन प्रत्युत ग्रन्थतदर्थधारणनिमित्तशोकहेतुत्वमेवेति यदाम्नातम् 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि' इत्यादिना तत्संगृह्णाति–**विद्याः सर्वा** इति । सर्वशब्देन 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' इत्येवमाम्नातनामवागादितत्त्वोपास्तीनां संग्रहस्तासामपि 'यावन्नाम्नोगतं तत्रास्य यथाकामचारो भवती'त्येवं तत्तद्वाक्यशेषावगतैहिकामुष्मिकफलसाधनत्वावगमात् । तदुपनिषद्व्यतिरिक्तवेदानां च सांसारिकफलविषयत्वं भगवताऽप्युक्तम्–'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति । 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्' इति यदाम्नातं, तस्यार्थमाह–**आत्मविद्येति** । **संसारतमस** इति । संसारस्य निदानभूतमज्ञानाख्यं यत्तमस्तस्येत्यर्थः ॥ १८९ ॥

महादेव ने सबको प्रसन्न देखा और सन्तुष्ट हो वहीं अंतर्धान हो गये ॥ १८६ ॥ विष्णु ने ब्रह्मा का आलिंगन किया और लक्ष्मी समेत वैकुण्ठ को लौट आये ॥ १८७ ॥ भक्ति से आविष्ट ब्रह्मा ने तत्त्व के प्रति श्रद्धा के कारण पुनः कहना प्रारम्भ किया–॥ १८८ ॥

ब्रह्मा जी बोले–सारी विद्यायें लोगों के संसरणचक्र का प्रवर्तन करती हैं । यह एक आत्मविद्या ही

आत्मविद्याविहीनस्य शोकसागर एव हि ।

मुक्तिरेवाऽऽत्मनिष्ठस्य नास्ति संशयकारणम् ॥ १९० ॥

यत्रान्यत्पश्यति प्राणी शृणोत्यन्यत्तथैव च ।

अन्यज्जानाति चाल्पं तद्यदल्पं मर्त्यमेव तत् ॥ १९१ ॥

यत्र पश्यति नान्यच्च न शृणोत्यन्यदास्तिकाः ।

अन्यच्च न विजानाति स भूमा सुरपुंगवाः ॥ १९२ ॥

ननु विद्यान्तरस्यापि संसारनिवर्तकत्वं कुतो नेत्यत आह–**आत्मविद्येति** । स्वरूपाऽज्ञानं हि संसारहेतुः । न ह्यनात्मविषयेण ज्ञानेन तन्निवर्त्यते । अत आत्मविद्यारहितस्य संसारपात एव सर्वदेत्यर्थः । अत एव सकलविद्यानिष्णातस्याप्यनात्मविदो नारदस्य वाक्यमेवमाम्नातम् 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य पारं तारयतु' इति । **मुक्तिरेवेति** । आत्मज्ञानिनस्तु तद्याथात्म्यज्ञानेन तदावरणाविद्यानिवृत्तौ निरुपादानस्य संसारात्मकस्य शोकस्योदयासंभवान्मुक्तिरेवेत्यत्र संशयो नास्तीत्यर्थः ॥ १९० ॥ श्रुतौ नामादिप्राणान्तानि तत्त्वान्युत्तरोत्तरव्यापकानि बुद्धेः परतत्त्वावतरणोपायत्वेन सोपानक्रमेणोपदिश्य 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इत्यनवच्छिन्नसुखरूपस्य सर्वव्यापकस्याऽऽत्मनो ज्ञातव्यत्वं प्रतिज्ञाय 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादिना भूमवस्तुलक्षणमाम्नातं, तत्संगृह्णाति–**यत्रान्यदित्यादिना** । भूमवस्तुप्रतियोगित्वेन यदल्पस्य लक्षणमाम्नातम् 'अथ यत्रान्यत्पश्यति' इति तत्प्रतिपत्तिसौकर्याय प्रथममत्र प्रतिपाद्यत इति द्रष्टव्यम् । तदयमर्थः– यत्र खलु वस्तुनि प्रमातृप्रमाणप्रमेयादिभेदव्यवहारस्तदल्पं परिच्छिन्नमत एव मर्त्यं नश्वरम् । ईदृशस्त्रिपुटीव्यवहारो यस्मिन्वस्तुनि नास्ति सोऽनवच्छिन्नभूमशब्दाभिधेय आत्मेति ॥ १९१–१९२ ॥

है जो संसाररूप अज्ञान का समापन करती है । (अज्ञानकार्य होने से संसार अज्ञान ही है ।) ॥ १८९ ॥ आत्मज्ञान से रहित के लिए शोकसागर में डूबना निश्चित है । आत्मनिष्ठा वाले का ही मोक्ष होता है इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं ॥ १९० ॥ जिस स्थिति में प्राणी भेदघटित वस्तुओं का दर्शन श्रवणादि ज्ञान करता है वह अल्प अर्थात् अविद्याकालिक स्थिति है अतः विनाशी है ॥ १९१ ॥ जिस शिवतत्त्व में भेदघटित कोई दर्शन श्रवणादि ज्ञान नहीं होता वह व्यापक तत्त्व है ॥ १९२ ॥ जो व्यापक है वही सुख है, वही मोक्ष है । अव्यापक में कोई सुख नहीं । अतः इस महान् अद्वैत में निष्ठा वाला होना चाहिये ॥ १९३ ॥ इस तत्त्व में निष्ठा वाले का न मरण होता है न जन्म, न कहीं जाना न आना, न बंधन न मोक्ष ॥ १९४ ॥ वह व्यक्ति इस व्यापक शिवतत्त्व का स्वरूप ही हो जाता है, सभी कुछ

यो वै भूमा सुखं तद्धि तद्धि कैवल्यमुत्तमम् ।

नाल्पे चास्ति सुखं तस्मान्महाद्वैतपरो भवेत् ॥ १९३ ॥

महाद्वैतपरस्यास्य न नाशो जन्म नैव च ।

नैव गत्यागती[1] नान्यद्बन्धनं न विमोचनम् ॥ १९४ ॥

अत्रैव लीयते सम्यक्सर्वमात्मतया स्वतः । घृतकाठिन्यवत्स्वप्नप्रपञ्चप्रतिभासवत् ॥ १९५ ॥

सर्वमेतदतिशोभनं परं केवलं करुणयैव भाषितम् ।

देवदेवचरणप्रसादतो नेतरद्धि कथनीयमस्ति वः ॥ १९६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्स्वादेशकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

'यो वै भूमा तत्सुखम्' इतिश्रुतिवाक्यस्यार्थमाह–**यो वा** इति । यदपरिच्छिन्नमात्मवस्तु तदेव हि सुखं निरतिशया मुक्तिश्च । परिच्छिन्ने तु सुखं नैवास्ति । परिच्छेदकवस्तुकृतभयादेरवश्यंभावात् । 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति ह्याम्नातम् । अतोऽनवच्छिन्नसुखस्वरूपात्मनिष्ठैव संपादनीयेति निगमयति–**तस्मादिति** ॥ १९३ ॥ **महाद्वैतपरस्येत्यादि** । एवमपरिच्छिन्नसुखात्मकब्रह्मात्मनिष्ठस्य जन्मनाशबन्धमोक्षादिसकलपरिच्छेदव्यवहारो नैवास्ति । किंतु तत्सर्व**मत्रै**वास्मिन्भूमवस्तुनि याथात्म्येन ज्ञायमाने तत्स्वरूपतयैव सम्यग्**लीयते** न पुनरुत्तिष्ठति । तत्र दृष्टान्तमाह–**घृतेति** । ननु घृतमग्निसंयोगात्प्राक्कठिनम् । तत्संयोगे च तत्काठिन्यं विलीयते । एवं ब्रह्मापि स्वगोचरज्ञानात्प्राग्वस्तुतः प्रपञ्चात्मकमासीत्पश्चाच्च निर्विशेषमिति विकारित्वादनित्यत्वं स्यादित्याशङ्क्य निदर्शनान्तरमाह–**स्वप्नेति** । अपरिच्छिन्ने निर्विकारे ब्रह्मवस्तुनि स्वप्नप्रपञ्चप्रतिभासवदेव सर्वजगत्प्रतिभासः । अतः प्रतिभासैकशरीरं तन्न स्वाश्रये विकृतिमावहतीत्यर्थः ॥ १९४–१९६ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्स्वादेशकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

स्वतः ही आत्मरूप हो जाता है । जैसे घी का डला-रूप (गर्मी पाकर) समाप्त हो जाता है या स्वप्नप्रपंच (जगने पर) समाप्त हो जाता है, ऐसे ही सारा भेद समाप्त हो जाता है ॥ १९५ ॥ यह सारी अत्यंत शुभ बातें पारमार्थिक और मोक्षौपयिक हैं । केवल करुणावश मैंने इनका आपको उपदेश किया है । यह बताने की सामर्थ्य मुझे महादेव की कृपा से ही मिली है । इससे अतिरिक्त आपको बताने योग्य कुछ नहीं है ॥ १९६ ॥

---

१ घ. ङ. झ. °गतिर्नान्य° ।

षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच–अस्मिन्ब्रह्मपुरे वेश्म दहरं यदिदं सुराः ।
पुण्डरीकं तु तन्मध्य आकाशो दहरोऽस्ति तु ॥ १ ॥
स शिवः सच्चिदानन्दः सोऽन्वेष्टव्यो मुमुक्षुभिः ।
स विजिज्ञासितव्यश्च विना संकोचमास्तिकाः ॥ २ ॥

एवं दिग्देशकालाद्यनवच्छिन्नमद्वितीयं सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्माऽऽत्मत्वेनोपदिष्टम् । तच्च मन्दबुद्धिभिर्द्रागेव साक्षान्नावगन्तुं शक्यत इति हृत्पुण्डरीकमध्ये सत्यकामत्वादिगुणवैशिष्ट्येन तस्यैव ब्रह्मण उपासनं ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नस्य मुमुक्षोरुपदिशति 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे' इत्यादिका श्रुतिः तामत्र दहरविद्यां संगृह्णाति–**अस्मिन्ब्रह्मपुर** इत्यादिना । ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति तदुपलब्धिस्थानं विद्याधिकारिशरीरमुच्यते । उक्तं हि 'उपलब्धेरधिष्ठानं ब्रह्मणो देह इष्यते । तेनासाधारणत्वेन देहो ब्रह्मपुरं भवेत्' ॥ इति ॥ **अस्मिंश्च** विद्याधिकारिणि देहे **यदिदं दहरम**ल्पपरिमाणं हृत्पुण्डरीकं तेनावच्छेदात्सर्वगतोऽपि **दहरो**ऽल्पपरिमाणो य **आकाशः** श्रुत्या **तन्मध्ये** जिज्ञास्यत्वेनोपदिष्टः **स** सत्यज्ञानानन्दात्मकः परशिव एव । आकाशशब्दो ह्यासमन्तात्काशत इति व्युत्पत्त्या स्वप्रभे ब्रह्मणि मुख्यः । अत एवान्यत्राऽऽम्नायते–'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इति । तत्रभगवान्नादरायणोऽप्याकाशशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं सूत्रयामास–'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इति[1] । अयमेवाऽऽकाशाख्यः परशिवो **मुमुक्षुभिः** शमदमादिसाधनकलापैरन्वेषणीयः । श्रवणमननादिसाधनजनितेन ज्ञानेन ज्ञातव्यश्च । एवं वदता श्रुतौ 'तस्मिन्यदन्तरि'ति तच्छब्दस्य व्यवहितपुण्डरीकपरामर्शकत्वं व्याख्यातं भवति । दहराकाशपरामर्शे हि तन्मध्ये व्यवस्थितत्वेन वक्ष्यमाणं द्यावापृथिव्यादिकमेवोपास्यं स्यात्तच्चायुक्तम् । 'अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेष लोकेषु कामचारो भवति' इत्यात्मोपास्तेः फलवत्त्वावगमात् । नन्वेवं परिच्छिन्नमेव ब्रह्मोपासनीयम् ? नेत्याह–**विना संकोचमि**ति । हृत्पुण्डरीकोपाधिकृतं परिच्छेदं विहाय स्वाभाविकानवच्छिन्नरूपेणोपासनीयमित्यर्थः ॥ १–२ ॥

दहरोपासना का विवरण नामक छटा अध्याय

(यद्यपि परमोपदेश किया जा चुका है तथापि उसे ग्रहण कर पाने में असमर्थ व्यक्ति के लिए उपासनारूप साधन बताना चाहिये जिससे वह तत्त्वग्रहण की सामर्थ्य पाये, इसलिए) ब्रह्माजी बोले–इस ब्रह्मपुर में जो यह छोटा-सा कमलरूप घर है उसके मध्य जो छोटा-सा आकाश है वह सच्चिदानन्द शिव है । मुमुक्षुओं को अपरिच्छिन्न–असंकुचित–उस तत्त्व का अन्वेषण और अनुभव करना चाहिये । (यहाँ 'ब्रह्मपुर' का तात्पर्य उपासक के शरीर से है । हृदयकमल ब्रह्म का घर है क्योंकि वहाँ वह उपलब्ध होता है जैसे राजा के घर वाला नगर राजनगर कहा जाता है ऐसे ही ब्रह्म के घररूप हृदयवाला शरीररूप नगर ब्रह्मपुर कहा गया है । छोटे शरीर में हृदय और छोटा तथा उसमें जो आकाश वह और भी छोटा हो यह संगत ही है । ध्यानार्थ चित्तैकाग्र्य उस छोटे स्थान पर किया जाये यह तात्पर्य है । 'आकाश' शब्द का यहाँ अर्थ है परमात्मा । आकाश की तरह शरीर रहित, सूक्ष्म और सर्वव्यापक होने से ब्रह्म को भी आकाश कहा जाता है ।

---

१ नन्विह नाकाशशब्दः परस्मिनूढ उच्यते किन्तु लिंगबलाद्रूढित्याग इति चेद् ? वाढम् । 'प्रसिद्धेश्चे' ति (१.३.१७) सूत्रे तु रूढ एवासवित्युच्यत 'आकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्ध' इति तत्र भाष्यात् ततश्चेहापि सूत्रे बहुत्र प्रसिद्धस्य लिंगबलादेकत्र निरोधो लिंगादित्युच्यत इति मन्तव्यम् । ये त्वत्र 'अन्यायश्चानेकार्थत्वमि'ति संस्मृत्याकाशपदस्य परो न विषयो नभसस्तदविषयत्वप्रसंगादिति व्याचचक्षिरे त एव सोमशब्दो लताचन्द्रमसोः इत्यभ्युपगच्छन्तीति चित्रम् ! किंच नानार्थशब्दाः साहित्ये प्रसिद्धतरा इति यत्किंचिदेत् ।

स्वाभिव्यञ्जकसंकोचात्संकोचप्रतिभाऽऽत्मनः । न स्वरूपेण चिद्रूपं सर्वव्यापि सदा खलु ॥ ३ ॥
ज्ञातरूपेण चाज्ञातस्वरूपेण च साक्षिणः । सर्वं भाति तदाभाति ततस्तद्व्यापि सर्वदा ॥ ४ ॥
स्वयं[1] सेद्धुमशक्यं हि जडात्मकमिदं जगत् ।
चित्संबन्धबलेनैव खलु भाति न चान्यथा ॥ ५ ॥
अतोऽवभास्यं सकलं व्याप्य तद्भासकः शिवः ।
स्वतो व्यापी न चाव्यापी संकोचश्चान्यसंगमात् ॥ ६ ॥

ननु मा भूदौपाधिकः संकोचश्चिद्रूपस्याऽऽत्मनश्चैत्रादिदेहेषु स्वाभाविक एव संकोचो दृश्यत इत्यत आह–**स्वाभिव्यञ्जकेति** । स्वस्याऽऽत्मनः स्वप्रकाशचिद्रूपस्याप्यावरणाज्ञानापनयनद्वारा यदभिव्यञ्जकमन्तःकरणादि तत्परिच्छेदवशेन हि चिदात्मनि परिच्छेदप्रतिभासो रक्तः स्फटिक इतिवन्न स्वाभाविक इत्यर्थः । कुत इत्यत आह–**चिदिति** । सदा सर्वदोत्पत्तिस्थित्यादिकाले सर्वस्यापि प्रपञ्चस्याध्यस्तस्य चिल्लक्षणं ब्रह्म हि रूपं स्वरूपम् । अध्यस्तस्याधिष्ठानादव्यतिरिक्तत्वात् । एतेन कालवस्तुकृतौ परिच्छेदौ निरस्तौ ॥ ३ ॥ देशकृतमपि निरस्यति–**ज्ञातरूपेणेति** । प्रतिभासमानमपि सर्वं जगज्**ज्ञातरूपेण** ज्ञानविषयीकृतत्वाकारेण तथाऽ**ज्ञातरूपेणा**ज्ञानविषयत्वाकारेण च साक्षिचिन्मात्रस्याऽऽत्मनो भाति । अतश्चित्प्रकाशव्यतिरेकः कुत्रापि नास्तीति देशकृतपरिच्छेदोऽपि न विद्यत इत्यर्थः । एतदाचार्यैरप्युक्तम्–'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव' इति[2] । [3]**तदाभातीति** । तत्तु चिदात्मकं ब्रह्माऽऽसमन्तात्सर्वदा स्वयमेव भाति जडप्रपञ्चवन्नान्यं प्रकाशमपेक्षते ॥ ४ ॥ ननु जगदपि स्वत एव किं न भायात्तत्राऽऽह–**स्वयमिति** । **जडात्मकमिति** हेतुगर्भविशेषणम् ॥ ५ ॥ एवं परशिवस्य प्रतिपादितं व्यापित्वं निगमयति–**अत** इति । दृश्यमज्ञानतत्कार्यलक्षणं सर्वं जगद्व्याप्य वर्तमानः स्वभावत एव **व्यापी** । परिच्छेदस्तु तस्यान्तःकरणाद्युपाधिसंपर्कवशादिति सिद्धम् ॥ ६ ॥

श्रौत प्रसंगों में तो इतना अधिक प्रयोग इसका व इसके पर्यायों का ब्रह्म के लिए हुआ है कि यह शब्द ब्रह्म अर्थ में रूढ ही मान लेना उचित है । ब्रह्म का छोटापन उपलब्धि-स्थान के छोटेपन से है वस्तुतः नहीं यह बताने के लिए 'अपरिच्छिन्न' ऐसा कहा है ।) ॥ १–२ ॥ अपने अभिव्यंजक अंतःकरणादि की संकुचितता के कारण आत्मा की संकुचितता प्रतीत होती है । स्वरूपतः चिद्रूप आत्मा नित्य और व्यापक है, संकुचित नहीं । (यद्यपि आत्मा ही सबका अभिव्यंजक है, आत्मा का कोई अभिव्यंजक संभव नहीं तथापि अज्ञानावस्था में हमें किसी उपाधि से सम्बद्ध रूप से ही आत्मप्रतीति होती है अतः उपाधि को अभिव्यंजक कह दिया जाता है । जैसे आकाश में घर होने पर भी 'घर में आकाश है' ऐसा व्यवहार होता है वैसे यहाँ समझना चाहिये । भ्रमकालिक अनुभूति के अनुसार ही यह व्यपदेश हो जाता है ।) ॥ ३ ॥ (पूर्वश्लोक में काल और वस्तु की दृष्टि से आत्मा सीमित नहीं यह बताया । अब देश–स्थान–की दृष्टि से भी वह ससीम नहीं यह बताते हैं–) ज्ञात या अज्ञात रूप से सभी कुछ आत्मरूप साक्षी को भासता रहता है (अतः कहीं चिद्रूप

---

१ ङ. च. °यं बोद्ध° । २ विषयविशिष्टमेवाज्ञानमनुभूयते न त्वज्ञानमात्रम् । विशिष्टानुभवो विशेषणानुभवं विना न संभवीति विषयानुभवोऽभ्युपेयः । न च स प्रमाणद्वारा स्यादज्ञातत्वविरोधात् । किं च प्रमाणद्वारा सादिरेवानुभवो भवेदज्ञातता चानादिसिद्धेति न तथानुभवो विषयस्येहोपयोगी । अतः अज्ञातवस्तुनः साक्षादेव साक्षिवेद्यता स्वीकार्येति प्रकाशात्मवाक्यस्यभिप्रायः । २ सर्वं चितो भातीति चिद्व्याप्यम् । चिदपि भाति चेद्यस्य भाति तद्व्याप्या स्या न्न चेद्भति स्यात्तर्ह्यसदित्याशंक्य स्वप्रकाशतया नेमौ दोषावित्याह–तदाभातीति । स्वेतरस्य न भातीत्याद्यदोषाप्रसरः । स्वयं भातीति द्वितीयोऽपि न स्यादित्यर्थः ।

यावान्वा अयमाकाशस्तावानाकाश आन्तरः । द्यावापृथ्वी उभे अस्मिन्नन्तरेव समाहिते ॥ ७ ॥
उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ । नक्षत्राणि च विद्युच्च यच्चास्तित्वेन भासते ॥ ८ ॥
यच्च नास्तितया भाति सर्वं तस्मिन्समाहितम् ।
अतः सर्वाश्रयः शंभुः सर्वव्यापी स्वभावतः ॥ ९ ॥
एष आत्मा परो व्यापी पाप्मभिः सकलैः सदा ।
असौ चा (ना)पहतः साक्षी विमृत्युर्विजरः[1] सुराः ॥ १० ॥
विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यादिलक्षणः । सत्यकामस्तथा सत्यसंकल्पश्च सुरर्षभाः ॥ ११ ॥

एवमुपपादितेऽर्थे 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्यादिकां श्रुतिं योजयति–**यावान्वा** इत्यादिना । **तावानाकाश** इति प्रसिद्धभूताकाशसाम्येन सर्वगतत्वप्रतिपादनपरं, न तु तत्परिमाणत्वं, ब्रह्मणस्तस्याऽऽकाशादिसर्वजगद्व्यापकत्वादत एवाऽऽम्नायते–'येनाऽऽवृतं खं च दिवं महीं च' इति । एतदेव सर्वव्यापित्वमुपपादयति–**द्यावापृथ्वी** इत्यादिना । अनेन च 'उभे यस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्यादिका 'यच्चास्येहास्ति यच्च न' इत्येवमन्ता श्रुतिर्व्याख्याता भवति ॥ ७–९ ॥ नन्वेवमीश्वरः सर्वव्यापी भवतु । जीवस्य तथाभावे किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह–**एष** इति । **एष** एवेश्वर आत्मा [2]सर्वप्रत्यग्भूतः । न ततोऽतिरिक्तो जीवो नामास्ति । नन्वसौ धर्माधर्माद्याश्रयभूतोऽन्यो विद्यते तत्राऽऽह–**पाप्मभिरिति** । पापग्रहणं संसारफलहेतोः पुण्यस्याप्युपलक्षणम् । पुण्यपापयोरन्तःकरणधर्मत्वात्तद्विविक्तस्तत्साक्षी चिदात्मा ताभ्यां न स्पृश्यत इत्यर्थः । एवं पुण्यपापसंस्पर्शविरहात्तत्कार्यं मृत्युजरादिकं सर्वं विकारजातं तस्य साक्षिणो नास्तीत्याह–**विमृत्युरित्यादिना । सत्यकामः सत्यसंकल्प** इत्युपास्यगुणकथनम्[3] । 'एष आत्माऽपहतपाप्मा [4]विजर' इत्यादिसत्यसंकल्प इत्येवमन्ता श्रुतिः संगृहीता ॥ १०–११ ॥

प्रकाश का अभाव न होने से सब कहीं आत्मा है ।) वह आत्मा सर्वदा स्वयं ही भासता है । अतः वही सर्वथा व्यापक है । ॥ ४ ॥ जडरूप यह जगत् खुद सिद्ध नहीं हो पाता । चेतन के संबंध के आधार पर ही जगत् का भान होता है, उसके विना नहीं ॥ ५ ॥ अतः प्रकाश्य समस्त प्रपंच को व्याप्त कर स्थित उसके प्रकाशक शिव स्वतः व्यापक हैं, अव्यापक नहीं । संकुचितता की प्रतीति तो उपाधिवशात् होती है ॥ ६ ॥ जैसे यह बाह्य आकाश व्यापक है वैसे ही आत्मरूप आन्तर आकाश भी व्यापक है । द्युलोक और पृथ्वीलोक दोनों इसी में स्थित हैं ॥ ७ ॥ अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, बिजली, जो कुछ 'है' इस प्रकार प्रतीत होता है और जो कुछ 'नहीं है' इस प्रकार प्रतीत होता है वह सब इसी में स्थित है । अतः शंभु ही सबके आश्रय हैं, स्वभावतः सबसे व्यापक हैं ॥ ८–९ ॥ यह व्यापक परमेश्वर ही प्रत्यगात्मा है । सदा सब पुण्य-पापों से अस्पृष्ट है (क्योंकि सबका केवल) साक्षी है । यह मृत्यु, जरा, शोक, भूख, प्यास से रहित है । सत्य आदि इसका स्वरूप है । यह सत्यकाम व सत्यसंकल्प है (अर्थात् शंभु की इच्छायें व संकल्प कभी वितथ नहीं होते ।) ॥ १०–११ ॥ जैसे संसार में कुछ करके पाये भोग

---

१ ङ. छ झ. °र्विरजः सु° । १ 'आत्मशब्देन प्रत्यगात्मोच्यते तत्रात्मशब्दस्य प्रसिद्धत्वाद्' (बृ.भा. पृ. २४६ म.म.सं.) इति भाष्यं स्मृत्त्वाऽऽह–सर्वप्रत्यग्भूत इति । ३ घ. ङ. च छ. झ.°म् । स एतावताऽप° ४ ङ. च. छ. झ. विरज इ° ।

यथा कर्मजिता लोकाः क्षीयन्ते भुवि सत्तमाः ।
तथा पुण्यजिता लोकाः क्षीयन्ते हि परत्र च ॥ १२ ॥
येऽविदित्वा परात्मानं व्रजन्ति सकलाः क्रियाः । तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो न विद्यते ॥ १३ ॥
ये विदित्वा परात्मानं व्रजन्तीव क्रियाः स्थिताः ।
तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारस्तु विद्यते ॥ १४ ॥
यथा हिरण्यं निहितं क्षेत्रज्ञानविवर्जिताः ।
उपर्युपरि गच्छन्त्यो न विन्देयुः प्रजा इमाः ॥ १५ ॥
तथा सुषुप्तौ गच्छन्तो[1] ब्रह्मलोकं स्वयंप्रभम् । न विन्दन्ति महामोहादहो मोहस्य वैभवम् ॥ १६ ॥

एवं निर्गुणस्य सगुणस्य वा ब्रह्मणो यज्ज्ञानं तस्यैवाक्षयफलहेतुत्वं न त्वग्निहोत्रादिकर्मण इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादकम् 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः' इत्यादिश्रुतिवाक्यं संगृह्णाति—**यथेति** । कृतकत्वस्यानित्यत्वव्याप्तिनियमादिति भावः ॥ १२ ॥ 'तद्य इहाऽऽत्मानमननुविद्य' इतिवाक्यस्यार्थमाह—**येऽविदित्वेति** । **अविदित्वा**ऽज्ञात्वेत्यर्थः ॥ १३ ॥ 'अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य' इतिवाक्यस्यार्थमाह—**ये विदित्वेति** । ये तूदीरितलक्षणमात्मानं ज्ञात्वा **स्थिता**स्तेऽग्निहोत्रादिकाः **क्रिया व्रजन्तीव** न[2] पुनर्व्रजन्ति । कर्तृत्वभोक्तृत्वादिमदन्तःकरणस्य विविक्तत्वात् । आत्मविद्यायाः फलमाह—**तेषामिति** । **सर्वेषु लोकेष्विति** । ये च लोकाः कार्मविशेषाश्च 'स यदि पितृलोककामो भवति' इत्यादिना श्रुतौ प्रपञ्चितास्तेषु सर्वेषु विदुषः **कामचारो** भवति । हृन्मध्येऽवस्थितस्य दहरब्रह्मणः सत्यकामादिगुणैरुपास्यमानस्य निरतिशयानन्दस्वरूपतया सर्वकामानां तदेकदेशत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु सुषुप्तौ तथाविधं ब्रह्म प्राप्यते 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' इति श्रुतेः । तथाच विदुष इव सुषुप्तस्यापि सर्वकामावाप्तिः किं न स्यादित्याशङ्क्य सदृष्टान्तमाह—**यथा हिरण्यमिति** । **ब्रह्मलोकमिति** । लोक्यत इति लोको ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः । सुषुप्तावस्थायां स्वप्रकाशं ब्रह्म सर्वप्राणिभिः प्राप्तमप्यविद्यावशादप्राप्तमेव भवति । निक्षेपस्थानमजानतः पुरुषस्य निधिवदित्यर्थः । अनेन च 'तद्यथा हिरण्यनिधिम्' इतिश्रुत्यर्थः संगृहीतः ॥ १५–१६ ॥

समाप्त हो जाते हैं ऐसे ही पुण्य से प्राप्त भोग भी क्षीण हो ही जाते हैं ॥ १२ ॥ जो परमात्मा को जाने विना सब क्रियायें करते रहते हैं उन्हें सभी लोकों में स्वतंत्रता कभी नहीं मिलती ॥ १३ ॥ जो परमात्मा को समझकर उसी में निष्ठा वाले रहते हैं वे चाहे सब क्रियायें करते प्रतीत हों, सभी लोकों में वे स्वातन्त्र्य पा जाते हैं ॥ १४ ॥ लोक में देखा जाता है कि किसी खेत में सोना गड़ा हो किन्तु 'इस खेत में सोना गड़ा है' यों खेत का ज्ञान न हो तो उस पर रोज़ जाते-आते रहने पर भी लोग सोने को जान व प्राप्त नहीं कर पाते । इसी तरह सुषुप्ति अवस्था में प्रतिदिन स्वप्रकाश ब्रह्मरूप लोक में सब जाते हैं किन्तु न जानने के कारण उसे प्राप्त नहीं कर पाते । यह अज्ञान की आश्चर्यजनक सामर्थ्य है (कि स्वस्वरूप को भी अप्राप्त बना देता है !) ॥ १५–१६ ॥ ये साक्षीरूप शंभु बिना किसी भेद के सबके हृदय में स्थित हैं, इसीलिये

---

१ झ. गच्छन्त्यो" । २ स्थिता इति शब्दार्थं व्यनक्ति-न पुनरिति । परमात्मानं विदित्वा तत्र स्थिता इत्यन्वयो द्रष्टव्यः ।

अयं हृदि स्थितः साक्षी सर्वेषामविशेषतः । तेनायं हृदयं प्रोक्तं शिवः संसारमोचकः ॥

य एवं वेद स स्वर्गं लोकमेति न संशयः ॥ १७ ॥

अस्माच्छरीरादुत्थाय सुषुप्तौ यः सुरर्षभाः ॥ १८ ॥

परं ज्योतिःस्वरूपं तं शिवं संपद्यते[1] सुराः । अभिनिष्पद्यते स्वेन रूपेणैव स्वभावतः ॥ १९ ॥

एष आत्मा न चैवान्यः सत्यमेव मयोदितम् ।

एतदेवामृतं साक्षादभयं ब्रह्म हे सुराः ॥ २० ॥

हृदयशब्दनिर्वचनादपि सर्वगस्य ब्रह्मणो हृन्मध्येऽवस्थानं श्रुत्या दर्शितम् 'स वा एष आत्मा हृदि' इत्यादिना । तत्संगृह्णाति–**अयं हृदि स्थित** इति । एतस्य हृन्मध्यावस्थितब्रह्मज्ञानस्य 'अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गम्' इति श्रुतिप्रतिपादितं फलमाह–**य एवमिति** । अनेन हार्दब्रह्मवेदनेन **स्वर्गं लोकं** लोक्यमानदुःखासंस्पृष्टं परानन्दरूपं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ 'अथ य एष संप्रसाद' इत्यादिश्रुत्या यस्तद्ब्रह्मप्राप्तिप्रकारो दर्शितस्तमभिधत्ते-**अस्मादिति** । स्थूलसूक्ष्मादिशरीराभिमानं परित्यज्य सुषुप्त्यवस्थायां जाग्रत्स्वप्नविषयोपभोगकृतकालुष्यराहित्येन प्रसन्नो यश्चिन्मात्ररूपः साक्षी [2]हार्दब्रह्मविद्ययाऽज्ञानलक्षणं कारणशरीरमपि विहाय विकारजातात्परं तदसंस्पृष्टं **ज्योतिःस्वरूपं** केवलं चैतन्यप्रकाशात्मकं परशिवस्वरूपं संपद्य स्वात्मतया ज्ञात्वाऽविद्याकृतं परिच्छेदं विहाय स्वकीयेनैव रूपेणा**भिनिष्पद्यते** प्राप्नोति । प्राप्तिश्चेयं कण्ठगतचामीकरन्यायेन प्राप्तप्राप्तिरूपत्वाज्ज्ञानमात्रसाध्या न तु ग्रामाद् ग्रामान्तरप्राप्तिवत्कर्मसाध्येति पूर्वभागस्याष्टात्रिंशेऽध्याये प्रतिपादितमत्रानुसंधेयम् ॥ १८–१९ ॥ 'एष आत्मेति होवाच' इतिवाक्यस्यार्थमाह–**एष आत्मेति** । स एवमभिनिष्पद्यत एष एवाऽऽत्मा नान्यः । इतोऽतिरिक्तस्य देहादिविशिष्टस्य सोपाधिकत्वेनानात्मत्वादित्यर्थः । 'एतदमृतम्' इतिश्रुतिं संगृह्णाति–**एतदेवेति** । एतदेवापरिच्छिन्नमात्मवस्त्वमृतमविनाशि 'यो वै भूमा तदमृतम्' इति श्रुतेः । अत एवाभयम्, भयहेतोर्द्वितीयस्याभावात् । अत एवाभयत्वादेतदेव ब्रह्म 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि', 'अभयं हि ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेः ॥ २० ॥

संसार से मुक्त कराने वाले शिव 'हृदय' शब्द से भी कहे जाते हैं । जो यों सर्वसाक्षी परमात्मा को समझ लेता है वह परानन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ सुषुप्ति में जो चिन्मात्र इस शरीर में अभिमान छोड़कर ज्योतिरूप परशिव से सम्पन्न–अभिन्न–हो जाता है वह तब अपने स्वाभाविक रूप में ही स्थित रहता है । (सुषुप्ति में जो शिवरूपता प्राप्त होती है वह आत्मस्वाभाव्य ही है । किसी भिन्न वस्तु की प्राप्ति नहीं । नैसर्गिक अज्ञान सहित रहना ही आत्मा का स्वाभाविक रूप है । देहाध्यास तो आगमापायी है ।) ॥ १८–१९ ॥ यही आत्मा है जो सुषुप्ति में अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है । इससे अन्य कोई आत्मा नहीं । यही अमृत है, अभय है, ब्रह्म है । ॥ २० ॥ सूक्ष्म आकाश कहाने वाला जो आत्मा है वही सबका धारण करने वाला सेतु–मेंड या

---

१ सम्पद्य हे सुरा इति टीकाकृत्पाठो भाति । २ घ. °विद्याया अज्ञा° ।

य आत्मा दहराकाशः स सेतुर्विधृतिः सुराः ।

असंभेदाय लोकानामेषामेतं महेश्वरम् ॥ २१ ॥

अहोरात्रे न तरतो न मृत्युर्न जराऽपि च ।

न शोको नैव सुकृतं न दुष्कृतमपीश्वराः ॥ २२ ॥

अतः सर्वे निवर्तन्ते पाप्मानः सुरपुंगवाः ।

एषोऽपहतपाप्मा हि ब्रह्मलोकः [1]स्वयंप्रभः ॥ २३ ॥

तस्माद्वै सेतुमेतं तु तीर्त्वाऽन्धः सन्सुरर्षभाः । भवत्यनन्धो विद्धः सन्नविद्धस्तद्वदेव तु ।

उपतापी तु सन्देवा नोपतापी भवत्यपि ॥ २४ ॥

'अथ य आत्मा स सेतुरि'त्याद्या'प्यनुपतापी भवती'त्येवमन्ता श्रुतिः संगृह्यते–**य आत्मे**त्यादिना । स सेतुर्विधृतिरिति । सेतुरिति सेतुरिव सेतुर्मर्यादाभूतः । वर्णाश्रमादिभेदेन क्रियाकारकफलरूपेण प्रतिनियतप्रपञ्चस्य विधारणा **विधृतिः** । किमर्थं तद्विधारणमिति चेत्तत्राऽऽह–**असंभेदायेति** । **एषां** भूरादिलोकानां कर्तृकर्मफलाश्रयाणाम**संभेदायाविदारणा**याविनाशायेत्यर्थः । सेतुर्विशेष्यते–**अहोरात्रे** इत्यादिना । सर्वस्य जनिमतः प्राणिनः परिच्छेदके ये **अहोरात्रे** ते एनं सेतुभूतमात्मानं न तरतो नातिक्रामतः । इतरप्राणिवदहोरात्रादिलक्षणेन कालेन परिच्छेद्यो न भवति । तस्य तत्त्वरूपेऽध्यस्तत्वेन तत्परिच्छेदकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । तथा मृत्युजरादिकमपि देहादिधर्मत्वात्तद्विविक्तं सेतुभूतमात्मानं न प्राप्नोति ॥ २१–२२ ॥ अप्राप्य चातोऽस्मात्प्रतिहताः सर्वे निवर्तन्ते । कुत इत्यत आह–**एष** इति । लोक्यत इति लोक आत्मा । ब्रह्मैव लोको **ब्रह्मलोकः** । **एष हि** यस्माद**पहतपाप्माऽतो निवर्तन्त** इत्यर्थः ॥ २३ ॥ **तस्माद्वा** इत्यादि । यस्माद्देहादिविविक्तस्तस्माद्विद्वानिमं सेतुभूतमात्मानं तीर्त्वा प्राप्यान्धादिधर्मस्य स्थूलशरीरादिधर्मेणैव सह निवृत्तत्वात्तद्रहित एव भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

बाँध–है । इससे व्यवस्थित हुए ही ये लोक बिखर नहीं जाते । इस महेश्वर को दिन-रात परिच्छिन्न नहीं कर पाते । मृत्यु, जरा, शोक, पुण्य, पाप–कुछ भी इसका स्पर्श नहीं करता ॥ २१–२२ ॥ सभी पापादि इससे दूर ही रहते हैं । अतः स्वयम्प्रकाश ब्रह्मरूप यह लोक 'अपहतपाप्मा' कहाता है । ('अपहतः पाप्मा धर्माधर्माख्यो यस्य सोऽपहतपाप्मा ।' नहीं है पाप जिसके वह अपहतपाप्मा कहा जाता है ।) ॥ २३ ॥ अतः जो इस सेतु को प्राप्त कर लेता है वह अंधा होते हुए भी अंधा नहीं रह जाता, शूल आदि से बिंधा होते हुए भी बिंधा नहीं रहता, रोग आदि दुःखों से युक्त होते हुए भी उनसे युक्त नहीं रहता । (अंधा

---

१ घ. स्वयंप्रभुः ।

य एषो दहराकाश इत्युक्तः परमेश्वरः । स देहादिविशेषेभ्यः पृथग्भूतः सनातनः ॥ २५ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याऽवस्था या भाति देहिनाम् ।

तस्या अपि महादेवः साक्षी भिन्नः स्वयंप्रभः ॥ २६ ॥

तस्मिन्नध्यस्तरूपेण सा विभाति न भाति च ॥ २७ ॥

स्वदृश्येन शरीरेण सशरीरस्य सर्वदा । प्रियाप्रियाभ्यां संबन्धो भवत्येव न संशयः ॥ २८ ॥

अशरीरं वाव सन्तं विद्यया न प्रियाप्रिये । स्पृशतः सत्यमेवोक्तं नात्र संदेहकारणम् ॥ २९ ॥

य एष दहराकाशः स एव सुरपुंगवाः । नामरूपस्य निर्माता तदेव ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ३० ॥

अमृतं च तदेवैतत्स आत्मा सर्वदेहिनाम् ।

ततो नान्यत्परं किंचिन्नापरं[1] चास्ति किंचन ॥ ३१ ॥

स एव सर्वरूपेण विभाति न विभाति च ।

अहो रुद्रस्य देवस्य पूर्णता को नु वेद ताम् ॥ ३२ ॥

एवं दहरविद्याविषयं ब्रह्मोपदिश्य जाग्रदाद्यवस्थाविनिर्मुक्तब्रह्मप्रतिपादनपरा प्रजापतिनेन्द्रायोपदिष्टा या विद्या 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादिना श्रुत्या प्रदर्शिता तां संगृह्णाति–**य एष** इत्यादिना । देहादेर्जाग्रदाद्यवस्थायाश्च जडत्वेन[2] साक्ष्यत्वात्तत्साक्षी स्वप्रकाश आत्मा ततः पृथग्भूत एवं प्रतिपत्तव्य इत्यर्थः । अनात्मनः साक्ष्यत्वमुपपादयति–**तस्मिन्निति** । **तस्मिन्**ब्रह्मणि स्वरूपेणाध्यस्तं जडं जगत्कदाचित्प्रकाशते कदाचिन्नेति तदन्याधीनप्रकाशं, तस्य स्वप्रकाशत्वे ह्यात्मवज्जगतोऽपि सर्वदा भानप्रसङ्ग इति भावः ॥ २५–२७ ॥ 'न ह वै सशरीरस्य सतः' इत्यादिश्रुत्यर्थं संगृह्णाति–**स्वदृश्येनेत्यादिना** । यतो देहादिविशिष्टस्यैव सुखदुःखोपभोगलक्षणः संसारः । देहादिविविक्तं केवलमात्मानं जानतस्तु संसारस्पर्श एव नास्तीत्यर्थः ॥ २८–२९ ॥ दहराकाशशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं द्रढयितुं श्रुत्यन्तरगतम् 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इतिवाक्यं संगृह्णाति–**य एष** इति । य आकाशाख्यो हृन्मध्येऽवस्थित आत्मा घटपटादिनामधेयस्य तदभिधेयार्थजातस्य च **निर्माता** तदेवानादिनिधनं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ३० ॥ **अमृत**मित्याद्युक्तार्थम् ॥ ३१–३२ ॥

आदि शरीरादि होता है । हम इसे ही स्वरूप समझकर अपने को अंधा आदि मानते हैं । सेतु को स्वरूप जानने वाला जानता है कि वह अंधा आदि नहीं यद्यपि हमारी दृष्टि से वह अंधा आदि ही दीखता रहता है ।) ॥ २४ ॥ जो यह सूक्ष्म आकाश रूप से कहा गया परमेश्वर है वह देह आदि विशेषताओं से रहति है, नित्य है ॥ २५ ॥ शरीरधारियों की जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति नामक अवस्थायें प्रतीत होती हैं उनका भी साक्षी उनसे भिन्न स्वप्रकाश महादेव ही है । महादेव में ही अध्यात्म रूप से वे कभी प्रतीत होती हैं कभी नहीं भी होती हैं ॥ २६–२७ ॥ जो व्यक्ति सदा अपने दृश्यभूत शरीर को अपना स्वरूप समझता

---

१ घ. ङ. छ. झ. "रं नास्ति । २ च. "त्वेनासाक्षित्वा" ।

यथा मृत्स्वविकारेषु तत्तद्रूपेण संस्थिता । तथा सर्वत्र तत्साक्षी तत्तद्रूपेण संस्थितः ॥ ३३ ॥

यथा वारिविकारेषु जलं तत्तत्स्वरूपतः । तथा सर्वत्र तत्साक्षी तत्तद्रूपेण संस्थितः ॥ ३४ ॥

यथाऽग्निः स्वविकारेषु तत्तद्रूपेण संस्थितः । तथा सर्वत्र तत्साक्षी तत्तद्रूपेण संस्थितः ॥ ३५ ॥

यथा वा स्वविकारेषु वायुस्तत्तत्स्वरूपतः । तथा सर्वत्र तत्साक्षी तत्तद्रूपेण संस्थितः ॥ ३६ ॥

यथा वा सर्वगं व्योम स्वाकारेणैव संस्थितम् ।
तथा सर्वात्मकः साक्षी साक्षिरूपेण संस्थितः ॥ ३७ ॥

घटाकाशादिभेदेन विभिन्नोऽप्यविभागवान् । आकाशस्तद्वदीशानो विभिन्नोऽप्यविभागवान् ॥ ३८ ॥

महादेवोऽविभागेन विभागेन च भासते । अन्यथा चेन्महादेवो महादेवः कथं भवेत् ॥ ३९ ॥

ब्रह्मणः स्वकार्येषु भूतभौतिकादिष्वनुगतिप्रदर्शनार्थो **यथा मृदिति** दृष्टान्तः । ॥ ३३–३६ ॥ अनुगतस्यापि निर्लेपत्वप्रतिपादनार्थं **यथा वा सर्वगं व्योमेति** निदर्शनान्तरम् ॥ ३७ ॥ **घटाकाशादीत्यनेन** तात्त्विकाभेदप्रतिपादनम् ॥ ३८ ॥ **महादेव** इतिनामधेयबलादप्यस्य सार्वात्म्यं प्रतिपादयति–**महादेवोऽविभागेनेत्यादिना** ॥ ३९ ॥

है उसका प्रिय-अप्रिय से अवश्य संबंध होता है ॥ २८ ॥ ब्रह्मविद्या से जिसने अपने शरीरभिन्न स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया उसे प्रिय-अप्रिय छूते भी नहीं ॥ २९ ॥ जो यह सूक्ष्म आकाश है वही नाम-रूप का निर्माता है, वही नित्य ब्रह्म है ॥ ३० ॥ वही अमृत है, उससे परे कुछ नहीं है ॥ ३१ ॥ वही सब रूपों में प्रतीत होता और कभी नहीं प्रतीत होता है । रुद्र की इस आश्चर्यमयी पूर्णता को कौन जान सकता है ॥ ३२ ॥ जैसे अपने सब कार्यों में मिट्टी ही उस उस रूप में स्थित है, जैसे अपने सब विकारों में जल ही उस उस रूप में स्थित है, जैसे अग्नि ही अपने सब विकारों में उस उस रूप से स्थित है, या जैसे वायु ही अपने सब विकारों में उस उस रूप में स्थित है वैसे ही सर्वत्र सर्वका साक्षी ही उस उस–अर्थात् सर्वरूपों से स्थित है ॥ ३३–३६ ॥ जिस प्रकार सर्वत्र अनुगत भी आकाश अपने अपरिवर्त्य रूप से ही स्थित रहता है उसी प्रकार सर्वरूप होने पर भी साक्षी अपने निर्लिप्तरूप से ही स्थित रहता है ॥ ३७ ॥ घटाकाश आदि विभागों में बँटा होने पर भी आकाश किसी तरह बँटता नहीं । ऐसे ही सब विभागों में बँटा होने पर भी ईशान किसी तरह बँटते नहीं ॥ ३८ ॥ विभक्त तथा अविभक्त रूप से महादेव ही भासते हैं । यदि ऐसा न हो, कोई अन्य भी भासता हो, तो महादेव महादेव ही कैसे होंगे ? (महान् अर्थात् व्यापक देव–यह महादेव शब्द का अर्थ है । अन्य कुछ भी यदि हो तो वस्तुपरिच्छेद होकर व्यापकता रह नहीं जायेगी अतः वे महान् नहीं रह जायेंगे, यह तात्पर्य है । ॥ ३९ ॥ महादेव तो महादेव ही हैं । वे महान् न हों ऐसीबात नहीं ।

महादेवो महादेव एव नैवामहानयम् । तथा सति महादेव एव सर्वं न चापरम् ॥ ४० ॥

येन केनापि रूपेण यद्यद्भाति न भाति च ।
तेन तेनैव रूपेण शिव एवावभासते ॥ ४१ ॥

यथाभातेन रूपेण शिव एवेति या मतिः ।
सा शिवा परमा संविन्नापरा न हि संशयः ॥ ४२ ॥

[1]अहमिति शिवसत्यचिद्घनः स्फुरति सदा पृथगस्ति नैव वस्तु ।
[2]इदमिति वपुषा च तेन बन्धनं न हि मनुजस्य विमोचनं च[3] किंचित् ॥ ४३ ॥

शिव इति सकलं यदा[4] विभासते न च मरणं जननं तदाऽस्ति किंचित् ।
इति हृदये वचनं मदीयमेतन्निशितमतिः सततं निधाय तिष्ठेत् ॥ ४४ ॥

अन्वर्थसंज्ञा चेयमित्याह—**महादेवो महादेव एवेति** । यद्यसौ महान्न स्यान्महांश्चासौ देवो महादेव इतीदृशी संज्ञा कथं सिध्येदित्यर्थः ॥ ४०–४१ ॥ **यथाभातेनेति** । येन येन प्रकारेण यद्यद्भाति तेन सर्वेण **रूपेण** तदधिष्ठानसच्चिदानन्दात्मकः **शिव** एव भातीति **या मतिः** साऽपि संविद्रूपा **परमा** शक्तिरेव नान्येत्यर्थः ॥ ४२ ॥ अहमित्यादिप्रतिपादितः श्रुत्यर्थप्रपञ्चः ॥ ४३–४४ ॥

अतः सब कुछ महादेव ही है उनसे पृथक् नहीं ॥ ४० ॥ जिस किसी रूप से जो कुछ भासता या नहीं भासता है, उस उस रूप से शिव ही भासा करते हैं ॥ ४१ ॥ जिस जिस प्रकार से जो जो भासता है उन सब रूपों में उनका अधिष्ठान सच्चिदानन्दात्मक शिव ही भासता है ऐसा जो निश्चय है वह भी संविद्रूप परम शक्ति ही है, और कुछ नहीं । इसमें संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥ 'मैं'—यों स्फुरित होने वाला कल्याणात्मक सत्य चिद्घन ही है । उससे भिन्न कभी कोई वस्तु नहीं । 'यह'—इस तरह भी वही वस्तु प्रतीत होती है किंतु इस प्रतीति से बंधन होता है । 'यह'—इस प्रतीति के सहारे कभी मोक्ष संभव नहीं ॥ ४३ ॥ जब सब कुछ शिव ही प्रतीत होता है तब जन्ममरण रूप संसारचक्र नहीं रह जाता । सूक्ष्म बुद्धि वाले को मेरा यह वचन सदा याद रखना चाहिये ॥ ४४ ॥ परमेश्वर परमशिव यदि प्रसन्न हों तभी यह निर्मल परम अनुभूति होती है । अन्य सब पवित्र उपायों से विष्णु, मैं या और कोई भी

१ ङ. च. °हमपि शि° । २ ङ. °दमपि व° । ३ ङ. न । ४ ङ. सदा । ५ छ. झ. °हमेवेत्या° ।

परमशिवः परमेश्वरः प्रसन्नो यदि विमला परमानुभूतिरेषा ।
न हि सकलैर्विमलैरुपायवृन्दैर्न च हरिणा न मया न चापरेण ॥ ४५ ॥
परमशिवः परमेश्वरः स्वतन्त्रो यदि कुरुते मनुजस्य वेदनं[1] हि तत् ।
परमपदं विमलं प्रयाति मर्त्यो यदि कुरुते न शिवः प्रयाति बन्धम् ॥ ४६ ॥
दिनकरकिरणैर्हि शार्वरं तमो निबिडतरं झटिति प्रणाशमेति ।
घनतरभवकारणान्तरं तमः शिवदिनकृत्प्रभया न चापरेण ॥ ४७ ॥
हरिरहमप्यपरे सुरासुराद्याः परमशिवप्रभया तिरस्कृताश्च ।
रविकिरणैरखिलान्यहानि यद्वत्परमशिवः स्वत एव बोधकारी ॥ ४८ ॥
शिवचरणस्मरणेन पूजया च स्वकतमसः परिमुच्यते हि जन्तुः ।
न हि मरणप्रभवप्रणाशहेतुः शिवचरणस्मरणादृतेऽस्ति किंचित् ॥ ४९ ॥
परमशिवः खलु नः समस्तहेतुः परमशिवः खलु नः समस्तमेतत् ।
परमशिवः खलु नः स्वरूपभूतः परमशिवः खलु नः प्रमाणभूतः[2] ॥ ५० ॥
परमशिवः सकलागमादिनिष्ठः परमशिवः परमानुभूतिगम्यः ।
परमशिवः परमानुभूतिरूपः परमशिवः परमानुभूतिदश्च ॥ ५१ ॥

॥ ४५–५३ ॥ किंपाको यदीति । किंपाको नाम वृक्षविशेषः ॥ ५४–५७ ॥ प्रतिपादितमर्थमुपसंहरति– छन्दोगेति । ब्रह्मविद्यायाः संसारकारणाविद्यानिवृत्तिः प्रथमं प्रयोजनम् । आवरणाज्ञानेऽपनीते सति स्वस्वरूपभूतनिरतिशयानन्दाविर्भावश्च द्वितीयं प्रयोजनम् । तदुभयसिद्धये ब्रह्मविद्योपदिष्टेत्यर्थः ॥ ५८ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे
ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु दहरोपासनाविवरणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इसे नहीं कर सकते ॥ ४५ ॥ स्वतन्त्र परमेश्वर परमशिव यदि कृपा कर मनुष्य को वह श्रेष्ठ ज्ञान करा दें तब तो मरणधर्मा जीव निर्मल परम पद पा लेता है । यदि शिव ज्ञान न करायें तो बन्धन में ही पड़ा रहता है ॥ ४६ ॥ रात का घना अंधेरा सूर्य की किरणों से ही सर्वथा नष्ट होता है । ऐसे ही संसरण का हेतु अज्ञानान्धकार–जो अंधेरे से कहीं अधिक घना है– शिवरूप सूर्य से ही नष्ट होता है ॥ ४७ ॥ हरि, मैं व अन्य देवता आदि सब परमशिव की प्रभा के सामने फीके पड़ जाते हैं जैसे सूर्य की प्रभा से दिन भी फीका पड़ जाता है । परमशिव ही स्वंय ज्ञान देने वाले हैं ॥ ४८ ॥ शिव-चरणों का स्मरण कर पूजन द्वारा जंतु अपने अज्ञान से छूट सकता है । जन्म-मरण से बचने का और कोई उपाय नहीं ॥ ४९ ॥ हमारे व सबके कारण परशिव ही हैं । हमारा जो यह सब कुछ है वह परमशिव ही हैं । वे ही हमारा स्वरूप हैं और हमारे लिए प्रमाणरूप हैं ॥ ५० ॥ सब आगमों का चरम प्रतिपाद्य परमशिव हैं । चरम अनुभव से ही वे समझ आते हैं, बल्कि वे वह अनुभव और उसके प्रदाता हैं ॥ ५१ ॥ परमशिवरूप समुद्र में मैं, हरि, सब देवता, मनुष्य, पशु, मृग आदि केवल छींटे हैं ! वेदसिद्धान्त में निष्ठा और निर्मल बुद्धि वालों द्वारा हृदय गुफा में स्थित वह समुद्रस्थानीय शिव समझा जा सकता है ॥ ५२ ॥ अज्ञानवश ही हरि या मुझे कुछ लोग शिव-समान समझ लेते हैं । यह अज्ञान मुश्किल से ही हटता है ॥ ५३ ॥ जुगुनू यदि सूर्य के समान हो तभी हरि शंभु के तुल्य होंगे । किम्पाक वृक्ष

१ च. वन्दनं । २ चतुर्थस्तवकान्ते 'तन्मे प्रमाणं शिव' इत्युदयनोपि कुसुमाञ्जलौ ।

परमशिवसमुद्रेऽहं हरिः सर्वदेवा मनुजपशुमृगाद्याः शीकरा एव सत्यम् ।
विमलमतिभिरेवं वेदवेदान्तनिष्ठैर्हृदयकुहरनिष्ठं वेदितुं शक्यते हि ॥ ५२ ॥
मायाबलेनैव हरिं शिवेन समानमाहुः पुरुषाधमाश्च ।
मोहेन केचिन्मम साम्यमाहुर्माया तु [1]शैवी खलु दुस्तरेयम् ॥ ५३ ॥
खद्योतो यदि चण्डभानुसदृशस्तुल्यो हरिः शंभुना
किंपाको यदि चन्दनेन सदृशस्तुल्योऽहमीशेन च ।
अज्ञानं यदि वेदनेन सदृशं देवेन तुल्या जनाः
किं वक्ष्ये सुरपुंगवा अहमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम् ॥ ५४ ॥
अतः शिवेनैव समस्तमेतद्भवत्यनन्तेन न चापरेण ।
शिवस्वभावेन शिवः समस्तं शिवप्रभावेन जगद्विचित्रम् ॥ ५५ ॥
तत्त्वदृक्सकलमद्वयं सदा पश्यति स्म परिमोहितः पुमान् ।
कष्टशिष्टघटकुड्यरूपतः कष्टमेव खलु तस्य वेदनम् ॥ ५६ ॥
इदं जगदिति स्वतः सकलजन्तोः प्रतीतिर्दृढा परं जगदिति स्फुरत्यमलबोधस्वभावेन च ।
इदं हि परवेदनं विमलचित्तस्य पुंसः सदा भवं तरति मानवः परमबोधेन चैतेन हि ॥ ५७ ॥
छन्दोगश्रुतिमस्तके विनिहितं विज्ञानमेतन्मया जन्तूनामविवेकिनामतितरामज्ञानविध्वस्तये ।
कारुण्यादमराधिपा अतिशुभब्रह्मामृतावाप्तये देवानामधिपाधिपस्य वचनादुक्तं महेशस्य च ॥ ५८ ॥
इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे
ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु दहरोपासनविवरणं नाम षष्ठोध्यायः ॥ ६ ॥

यदि चंदन के सदृश हो तभी मैं ईश्वर के सदृश हो सकता हूँ । अज्ञान यदि ज्ञान के समान हो तभी लोग महादेव के समान होंगे । हे देवों ! मोह की दुश्चेष्टा की और क्या विडम्बना बताऊँ ? ॥ ५४ ॥ अतः अनंत शिव से ही यह सब होता है और किसी से नहीं । अपने कल्याणमय स्वभाव से ही शिव सब कुछ हो जाते हैं । यह विचित्र जगत् शिव के प्रभाव से ही बना है ॥ ५५ ॥ तत्त्वज्ञानी सदा सब को अद्वैत ही देखता है । परिमुग्ध व्यक्ति कष्ट से बताये जा सकने वाले घर, दीवाल आदि रूप से तत्त्व का दर्शन करता है । निश्चय ही मुग्ध का वह दर्शन उसके महान् कष्ट का कारण है । (घट आदि को बता पाना कष्टसाध्य है । घट को कारण कहें तो कारकव्यापार उपपन्न न हो और कार्य कहें तो मिट्टी से पृथक् अनुपलब्धि उपपन्न नहीं होती ।) ॥ ५६ ॥ सब जंतुओं को स्वतः यही दृढ प्रतीति होती है कि यह जगत् है । निर्मल ज्ञान जब स्वभाव वन जाता है तब दृढ भान होता है कि जगत् परमात्मा ही है । शुद्धचित्त वाले को होने वाला परमज्ञान यही है । इसी बोध से मानव भवसागर तर जाता है ॥ ५७ ॥ हे उत्तम देवताओ ! देवनायकों के अधीश्वर महेश की आज्ञा और (अपनी) करुणा के कारण मैंने अविवेकी लोगों के अज्ञान के अशेष विध्वंस और अतिशुभ ब्रह्म की प्राप्ति के लिए छान्दोग्य उपनिषत् में प्रतिपादित यह रहस्य ज्ञान आप सबको सुनाया है ॥ ५८ ॥

---

१ झ. देवी ।

सप्तमोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच– अस्ति तत्त्वं परं साक्षादक्षरं क्षरवस्तुनाम् ।
अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १ ॥
तस्मिन्सुविदिते सर्वं विज्ञातं स्यादिदं सुराः ।
तदात्मकत्वात्सर्वस्य नास्त्येव हि भिदा स्वतः ॥ २ ॥
द्वे विद्ये वेदितव्ये हि परा चैवापराऽपि च ।
तत्रापरा तु विद्यैषा ऋग्वेदो यजुरेव च ॥ ३ ॥
सामवेदस्तथाऽथर्ववेदः शिक्षा सुरर्षभाः ।
कल्पो व्याकरणं चैव निरुक्तं छन्द एव च ।
ज्योतिषं च तथाऽनात्मविषया अपि बुद्धयः ॥ ४ ॥

एवं वेदत्रयोपनिषदो ब्रह्मात्मैक्यपरत्वं व्याख्यायाऽऽथर्वणमुण्डकोपनिषदोऽपि[1] तत्परत्वं व्याचिख्यासुस्तामुपनिषदं संगृह्णाति–**अस्ति तत्त्वमित्यादिना** । **तत्त्वं** परमार्थभूतम् । शिवशक्त्यादीनि षट्त्रिंशदपरतत्त्वानि व्यावर्तयितुं विशिनष्टि–**परमिति** । यतो विकारजातेभ्यः परमत एव **अक्षरमविनाशि** सत्यभूतम् । तस्मादेव **क्षरवस्तूनां** नश्वराणां जडपदार्थाना**मधिष्ठानम्** । सत्यं हि मिथ्याभूतस्याधिष्ठानं भवति । **अनौपम्यमुपमानभूतस्य** वस्त्वन्तरस्याभावात् । निर्विशेषत्वेन[2] वाङ्मनसयोरविषयभूतम् । **क्षरवस्तुनामित्यत्र** 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इति 'नामि' दीर्घो न क्रियते ॥ १ ॥ श्रुतौ "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इत्यादिना प्रश्नप्रतिवचनरूपेण यदधिष्ठानभूताक्षरब्रह्मवेदनादारोपितसर्वजगद्विज्ञानं दर्शितं तत्संगृह्णाति–**तस्मिन्निति** । प्रतिज्ञातेऽर्थे हेतुमाह–**तदात्मकत्वादिति** । तदधिष्ठानं ब्रह्मैवाऽऽत्मा स्वरूपं यस्याऽऽरोपितप्रपञ्चस्येति विग्रहः । न[3] खल्वारोपितरजतादिकमधिष्ठानशुक्त्यादिव्यतिरेकेण पृथगात्मानं लभत इति भावः । **नास्त्येव हीति** । प्रपञ्चस्य ब्रह्मणः सकाशात्स्वाभाविकभेदस्तु युक्तिभिरसकृत्प्रागेव निरस्त इति हेरर्थः ॥ २ ॥ एवं प्रारिप्सिताया उपनिषदोऽभिधेयमर्थं संग्रहेण प्रदर्श्यास्मिन्नर्थे "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति" इत्यादिकामुपनिषदं योजयति–**द्वे विद्ये इति**। **तत्रापरेत्यादि** । ऋग्वेदादिलक्षणा श्रुतिपरिगणिता याऽपरविद्या सा तावदनात्मविषयत्वादुदीरितमद्वितीयं तत्त्वं न प्रतिपादयति । **तथा** तज्जन्या **बुद्धयो**ऽप्यग्निहोत्रादिकर्मविषयत्वाद**नात्मविषया** इति तासामप्यपरविद्यात्वमित्यर्थः ॥ ३–४ ॥

वस्तु के स्वरूप का विचार नामक सातवा अध्याय

(क्रिया की तरह वस्तु में विकल्प असंभव होने पर भी यदि शास्त्र विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कर दे तो तत्त्वनिर्धारण न हो पायेगा, फलतः निश्चयात्मक ज्ञान के बिना अविद्यानिवृत्ति व मोक्षप्राप्ति आशामोदक ही होंगे । अतः आवश्यक है यह देख लेना कि सभी शास्त्रप्रसंग परमशिव का एक ही स्वरूप बताते हैं । इसी अभिप्राय से शारीरकीय मीमांसा का प्रथम अध्याय है । यही कारण है कि तृप्तिदीप में 'अशेष वेदान्तों का तात्पर्य ब्रह्म में ही है यह निश्चय श्रवण है' (श्लो. १०१) कहकर श्रवण में ही सब वेदांतों का संग्रह कर लिया है । इसी उद्देश्य से अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषत् का अर्थ समझाते हुए–) ब्रह्मा जी बोले–क्षर वस्तुओं का अधिष्ठान, निरुपम, वाणी और मन का अविषय, विकारों से परे, अविनाशी, पारमार्थिक प्रत्यक्तत्त्व है ॥ १ ॥ उसे सही तरह जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है क्योंकि सब कुछ तद्रूप ही है । प्रपंच का ब्रह्म से स्वाभाविक भेद तो है ही नहीं ॥ २ ॥ दो विद्यायें समझने योग्य हैं

---

१ वस्तुत्वाद्विकल्पाऽसंभवेपि श्रुतेरसौ स्यादिति कश्चिद्यद्याशङ्कते तदा समन्वयाध्यायनीत्या श्रुतीनामप्यविगानं वोध्यमिति श्रवणसिद्ध्यै सर्वोपनिषदां विचारो विधेय इति तात्पर्यम् । २ घ. °न जडवा° । ३ झ. न त्वारो° ।

अथैषा परविद्या[1] सा यया तत्परमक्षरम् ।
गम्यते सुदृढं प्राज्ञैः साक्षाच्छंभोः प्रसादिभिः ॥ ५ ॥
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम् । अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं[2] तदपाणिपदं सदा ॥ ६ ॥
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ।
तद्भूतयोनिं धीमन्तः परिपश्यन्ति चाऽऽत्मना ॥ ७ ॥

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इतिश्रुतिवाक्यं संगृह्णाति–**अथैषेति** । यया तत्त्वमस्याद्युपनिषद्वाक्यजनितया विद्यया वक्ष्यमाणलक्षणं **तदक्षरं** ब्रह्मावगम्यते प्राप्यते **सा**ऽऽत्मविषयाज्ञाननिवर्तकत्वेन मोक्षसाधनत्वात्परविद्येत्यर्थः ॥ ५ ॥ "यत्तदद्रेश्यम्" इत्यादिका श्रुतिः स्वरूपतोऽप्यत्र संगृह्यत इतीतः परं न पृथक्सोदाह्रियते । तदक्षरमित्युक्तं, किं तदिति विशिनष्टि–**यत्तदि**त्यादिना । **अद्रेश्यमदृ**श्यम् । चक्षुःश्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणामगम्यमित्यर्थः । **अग्राह्यमि**ति वाक्पाण्यादिककर्मेन्द्रियाविषयम् । **अगोत्रम**नन्वयम् । न ह्यन्यदस्य कारणमस्ति येन सहान्वयः स्यात् । अवर्णमिति श्रौतपदस्यार्थमाह–**रूपवर्जितमि**ति । रूप्यन्त इति रूपाणि स्थूलत्वादयो द्रव्यधर्मास्तद्रहितम् । "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इति चेतनवत्त्वाविशेषात्संसारिणामिवास्यापि प्रसक्तं चक्षुःश्रोत्रादिकरणसद्भावं व्यावर्तयति–**अचक्षुःश्रोत्रमि**ति । **अपाणिपदमि**ति कर्मेन्द्रियराहित्यम् । यत एवं ग्राह्यग्राहकरहितमतो **नित्यम्** । **विभुम्** विविधं ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवतीति विभुः । अत एव **सर्वगत**माकाशवद्व्यापकम् । अथापि **सुसूक्ष्मम्** । अपञ्चीकृतभूतानि हि सूक्ष्माणि तत्कारणत्वात्ततोऽप्यतिशयेन सुसूक्ष्मम् । उदीरितरूपत्वादेव **तदव्ययम्** । न ह्यनवयवस्य निर्गुणस्यावयवगुणापचयलक्षणो व्ययः संभवति । **भूतयोनिं** भूतानां वियदादीनां योनिः कारणभूतम् । धीरा इत्यत्र रो[3] मत्वर्थीय इति व्याचष्टे–**धीमन्त** इति । यदेतददृश्यत्वादिलक्षणं ब्रह्म **धीमन्त आत्मना**ऽऽत्मरूपेण स्वस्वरूपतया **परि** परितः **पश्यन्ति तदक्षरं** ब्रह्म **यया गम्यते सा परविद्येति** संबन्धः । एतस्य श्रुतिवाक्यस्य ब्रह्मपरत्वं भगवता व्यासेनापि निर्णीतम्–"अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" इति ॥ ६–७ ॥

एक परा और दूसरी अपरा । इनमें अपरा विद्या तो यह है–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष तथा इन शास्त्रों से होने वाले अनात्मविषयक ज्ञान ॥ ३–४ ॥ और परा विद्या यह है–शंभु के कृपापात्र प्रज्ञावान् साधक जिससे उस परम अक्षर को निःसंदिग्ध समझ लेते हैं वह परा विद्या है ॥ ५ ॥ (वह परम अक्षर कैसा है यह बताते हैं–) जो वह परम अक्षर है वह ज्ञानेन्द्रियों का और कर्मेंद्रियों का अविषय है । उसका किसी से सम्बन्ध नहीं । स्थूलता आदि कोई रूप उसमें नहीं । उसमें चक्षु, श्रोत्र, हाथ, पैर आदि कोई करण कभी नहीं है । वह नित्य है तथा विविध आकारों वाला प्रतीत हो जाता है । अक्षर व्यापक है, अतिशय सूक्ष्म है तथा क्षीण नहीं होता । सब भूतों के उस कारण को बुद्धिमान् लोग भली प्रकार से निजस्वरूप समझते हैं ॥ ६–७ ॥ जैसे मकड़ी

---

१ विज्ञानं परा विद्या, न तूपनिषच्छब्दराशिस्तस्यर्ग्वेदादावपरविद्यायां संग्रहात् । २ अत्यर्थमिति सर्वत्र सम्बध्यते । क्वचित्कदाचित्कथंचिच्चादृश्यत्वादेः सर्वत्र संभवादत्यन्तमदृश्यमिदमिति वक्तुं विशेषणमर्थवत् । ३ यद्यपि 'सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन्' (उण. २.२५) इति दधातीति धीरः सिद्ध्यति तथापि धीमानित्यर्थे धीरशब्दस्य 'कश्चिद्धीरः', 'परिपश्यन्ति धीरा' इत्यादौ बहुत्र प्रसिद्धेस्तथापि व्युत्पादयति । 'ऊषसुषिमुष्कमधो रः' (५.२.१०७) इत्यत्र 'र' इति योगविभागः कार्य इत्यभिप्रायः । ततश्च 'रप्रकरण' इत्यादिवार्तिकमप्यनावश्यकम् ।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च सुरर्षभाः । यथा पृथ्व्यामोषधयः संभवन्ति यथा सतः ॥ ८ ॥
पुरषात्केशलोमानि तथा चैवाक्षरात्सुराः । विश्वं संभवतीहैव तत्सर्वं स्वपनोपमम्[1] ॥ ९ ॥
तपसा चीयते ब्रह्म तदन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ १० ॥

उक्तं भूतयोनित्वं दृष्टान्तैरुपपादयति–**यथेति** । **ऊर्णनाभि**र्लूताकीटः । स **यथा** कारणान्तरानपेक्षः स्वशरीरात्तन्तून्बहिः प्रसारयति स्वात्मन्येवोपसंहरति च । यथा च व्रीह्या**द्यौषधयः** स्वकारणसदृशाः **पृथिव्यामु**त्पद्यन्ते, यथा च **सतो** विद्यमानाज्जीवतः **पुरुषाद**चेतनानि **केशलोमानि** संभवन्ति । एवमेव कारणान्तरानपेक्षाद**क्षराद्** ब्रह्मणः सलक्षणं[2] विलक्षणं चेतनाचेतनात्मकं सर्वंजगदुत्पद्यते । न चाविक्रियस्य ब्रह्मणः परमार्थतो जगद्भावः संभवतीति मायाममयत्वात्तत्सर्वं सृष्टं जगत्स्वप्नप्रपञ्चसदृशमित्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ ब्रह्मण उत्पद्यमानं जगदनेन क्रमेणोत्पद्यत इति दर्शयति–**तपसेति**[3] । तज्जगत्कारणं मायाशबलं ब्रह्म प्रथमं **तपसा** परिपक्वप्राणिकर्मवशादुत्पन्नेन स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपेण ज्ञानेन **चीयत** उपचीयते प्रागत्यन्तनिर्विकल्पकं[4] सत्तद्वशादीषद्विकल्पानुविद्धं भवतीत्यर्थः । तेन च ज्ञानेनोपचितात्तस्माद् ब्रह्मणः सकाशादद्यते भुज्यते संसारिभिरित्य**न्नम**व्याकृतं भोग्यप्रपञ्चस्य निदानं तद्व्याचिकीर्षितस्वरूपेणोत्पद्यते, स्रष्टव्यपर्यालोचनावस्थमायाशवलं तद् ब्रह्म व्याचिकीर्षावस्थां प्रापदित्यर्थः । तस्माच्चान्नशब्दाभिधेयादव्याकृतात्क्षितिपवनसलिलसंयोगवशेनोच्छूनावस्थाद्बीजादङ्कुर इवापञ्चीकृतपञ्चभूततत्कार्यलिङ्गशरीर-समष्ट्युपाधिकः सर्वज्ञः **प्राण**शब्दाभिधेयो हिरण्यगर्भ उत्पन्नः । अत्र हि हिरण्यगर्भोत्पत्त्यभिधानेनैवापञ्चीकृतभूतानां तत्सत्त्वरजोंशपरिणामरूपलिङ्गशरीरस्य चोत्पत्तिरर्थादुक्तेति द्रष्टव्यम् । तस्माच्च प्राणात्पञ्चीकरणविषयं **मन** उत्पन्नम् । ततश्च **सत्यं** सत्यशब्दाभिधेयानि वियदादीनि पञ्चीकृतानि पञ्चभूतान्युत्पन्नानि । सच्छब्देन हि प्रत्यक्षग्राह्यपृथिव्यादिभूतत्रयमुच्यते । वाय्वाकाशौ तु परोक्षत्वात्परोक्षवाचिना त्यच्छब्देन[5] । अत एव श्रूयते 'सच्चत्यच्चाभवदि'ति । एवं भूतेषूत्पन्नेषु पुनरण्डादिक्रमेण भूरादयो **लोका**स्तेषु च मनुष्यादीनां वर्णाश्रमचोदितानि कर्माणि, तेषु **चामृतं** कल्पकोटिशतावस्थायित्वादनश्वरं तत्फलमित्येतान्यनेन क्रमेणोत्पन्नानीत्यर्थः ॥ १० ॥

जाला बनाती और समेट लेती है, जैसे पृथ्वी पर व्रीहि यव आदि उत्पन्न होते हैं, जैसे जीवित मनुष्य से केश लोम आदि पैदा होते हैं ऐसे ही अक्षर परमेश्वर से सारा विश्व समुद्भूत होता है । संसार स्वप्न की तरह इस अक्षर में ही पैदा होता है । (अन्य की सहायता के बिना कार्योत्पादन में मकड़ी का दृष्टांत है । एक ही कारण से नानाविध कार्यों की उत्पत्ति में पृथ्वी का दृष्टांत है । सजीव से निर्जीव की उत्पत्ति में पुरुष का दृष्टान्त है । वस्तुतः संसार हुआ ही नहीं है क्योंकि ब्रह्म अपरिवर्तनीय है यह स्वप्न दृष्टान्त का अर्थ है । शंका हो सकती है कि श्रुति ने जो दृष्टांत दिये हैं उनसे संसारमिथ्यात्व प्रतीत नहीं होता तो पुराण में कैसे स्वप्नदृष्टान्त जोड़कर यह अर्थ दिखा दिया गया है ? समाधान है कि यहाँ न कहने पर भी अन्यत्र श्रुति ने बताया ही है– 'मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ.२.५.१९), 'एकं रूपं बहुधा यः करोति' (कठ.२.२.१२)–कि सृष्टि मायामय है अतः यहाँ भी वही समझाया जा रहा है, वास्तविक सृष्टि नहीं कही जा रही यह स्पष्ट कर देना पुराण का अभिप्राय है । गौडपादाचार्य ने इसे यों स्पष्ट किया है 'स्वप्नमाये

---

१. घ. स्वप्नतोप° । २ ङ. सुलक्षणं । ३ घ. °ति । यज्ज° । ४ ङ. °कल्पं स° । ५ 'यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतत्......सत् । ......वायुश्चान्तरिक्षं त्यत्' (बृ.२.३.२-३) इति श्रुतावेतदुपपादितम् ।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो यस्य ज्ञानमयं तपः ॥ ११ ॥
तस्मादेतत्सुरा ब्रह्म नामरूपान्नपूर्वकम् । जायते सत्यवत्स्वप्नप्रपञ्चोपममेव तत् ॥ १२ ॥
[1]तदेतदक्षरं सत्यं तद्विज्ञाय विमुच्यते ।
कर्मणा नास्ति तत्प्राप्तिः संसारस्य विनाशनम् ।
प्लवा ह्येते सुरा यज्ञा अदृढाश्च न संशयः ॥ १३ ॥

उक्तमेवार्थमुपसंहरति–**यः सर्वज्ञ** इति । सामान्यतः सर्वं जानातीति **सर्वज्ञः** । विशेषतोऽपि सर्वं वेत्तीति **सर्ववित्** । **यस्य च तपो ज्ञानमयं** सर्वज्ञस्वभावत्वाज्ज्ञानात्मकं, न तु कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्रयासलक्षणम् । **तस्माद्** ब्रह्मण उक्तं कार्यरूपं हिरण्यगर्भाख्यं **ब्रह्म**, देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादिनामधेयं तदभिधेयं नीलपीतादिरूपवद्द्रव्यजातं व्रीहियवादिलक्षणमन्नं च सर्वं पूर्वोक्त[2]क्रमेण **जायत** इत्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥ एवं परविद्याविषयमक्षरं ब्रह्म स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यामुपदिश्य तद्विज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति निगमयति–**तदेतदिति** । श्रुतौ 'मन्त्रेषु कर्माणि'त्यपरविद्याविषयप्रतिपादनस्य वैराग्यजननार्थत्वात्तत्सिद्धवत्कृत्वा तस्य'प्लवा ह्येत' इत्यादिना प्रतिपादितं [3]मोक्षासाधनत्वमेव संगृह्णाति–**कर्मणेति** । अदृढा इति । दृढो हि प्लवः पारप्राप्तिक्षमः । अदृढस्तु मध्येसमुद्रं निमज्जति । अदृढा[4]श्चेमे यज्ञादय इति न साक्षान्मोक्षहेतव इत्यर्थः ॥ १३ ॥

यथा दृष्टे गंधर्वनगरं यथा । तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥' (२.३१) तथा 'अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः' (३.२४) । आचार्य ने यह व्याससमृति भी बतायी है 'तमःश्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम् । नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम् ॥' तम अर्थात् मंदांधकार होने पर जैसे रस्सी में श्वभ्र अर्थात् भूछिद्र भ्रांति से दीखता है वैसे ही विवेकी इस संसार को समझते हैं, यह अभिप्राय है । अतः श्रुतियों की एकवाक्यता के अनुरोध से ही पुराण में स्वप्नदृष्टांत है जो मूल के अनुगुण है ।) ॥ ८–९ ॥ जगत्कारण मायावी ब्रह्म स्रष्टव्य के विचाररूप तप से युक्त हो किंचित् सविशेष हो गये । उससे भोग्यप्रपंच की अव्यक्तावस्था इस स्थिति में आ गयी कि व्यक्त होवे । उससे हिरण्यगर्भ बना । तदनन्तर सूक्ष्मभूतों को स्थूल करने का निश्चय हुआ जिससे पंचीकृत महाभूत तैयार हुए । फिर भूरादि लोक बने, उनमें मनुष्यादि के लिये कर्म विहित हुए तथा उनके चिरस्थायी फल निर्मित हुए ॥ १० ॥ जो सामान्यतः और विशेषतः सब कुछ जानता है, सृज्यमान सब पदार्थों का अभिज्ञ होना ही जिसका तप है, उससे हिरण्यगर्भ पूर्वोक्त क्रम से पैदा होता है । सब नाम, रूप तथा अन्न उस परम अक्षर से ही पैदा होते हैं । यद्यपि ये सब जागतिक पदार्थ सत्य जैसे लगते हैं तथापि हैं ये वैसे ही मिथ्या जैसे स्वप्न के पदार्थ होते हैं । (यद्यपि प्रारम्भ में त्रिविध सत्ताएँ बताकर साधक का मन बहला दिया जाता है तथापि औपनिषद दर्शन में ब्रह्मातिरिक्त कुछ कथंचिदपि नहीं है । अतः पहले त्रिविध से द्विविध सत्ता में लाकर अंत में वहीं पहुँचा दिया जाता है जहाँ के लिये बृहद्भाष्य में कहा है 'न हि परमार्थावधारणनिष्ठायां वस्त्वन्तरास्तित्वं प्रतिपद्यामहे ।' (पृ.२५१) । प्रकृत प्रसंग अध्यारोप का है । जगत्-प्रतियोगिक भेद का अभाव स्फुट करने के लिये जगत् परमात्ममात्ररूप है यह बताना ही उपाय होने से समस्त उपलब्ध भेद एक परम अक्षर का कार्य है यह बताकर अद्वैत की प्रतिष्ठा की गयी है ।) ॥ ११–१२ ॥ यह अक्षर ही सत्य है । इसे जानकर ही मोक्षलाभ होता है । संसार का विनाशरूप वह मोक्ष कर्म से प्राप्त नहीं होता । ये (अर्थात् कर्ममात्र) कच्ची नौकायें हैं जो भवसागर से पार पहुँचाने में असमर्थ हैं ॥ १३ ॥ जो लोग समझते हैं कि इन्हीं से हम परम कल्याण

---

१ आद्यमुण्डके द्वितीयखण्डं संक्षिपति–तदेतदित्यादिना । २ झ. °क्तप्रकारेण । ३ घ. ङ. छ. झ. मोक्षसा° । ४ घ. °ढाश्चैते य° ।

एभिरेव परं श्रेय इति जानन्ति ये जनाः ।
ते मूढा अनिशं मृत्युं जरां चैवापियन्ति हि ॥ १४ ॥
कर्मनिष्ठाः स्वयं धीरा मर्त्याः पण्डितमानिनः ॥ १५ ॥
मूढा एव न विद्वांसस्तेषां नास्ति परा गतिः ।
अन्धेनैव यथा चान्धा नीयमानाः सुदारुणे ॥ १६ ॥
अन्धकूपे पतन्त्येव तथा कर्मरता जनाः ।
कर्मनिष्ठा वयं सर्वे कृतार्था इति मोहिताः ॥ १७ ॥
अभिमन्यन्ति ते कर्मक्षयेऽवश्यं पतन्ति हि ।
विना नास्ति परं ज्ञानं तेषां कैवल्यमुत्तमम् ॥ १८ ॥
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठमिति ये जनाः ।
ते मूढाः परमं श्रेयो नैव यान्ति न संशयः ॥ १९ ॥
अनेकजन्मसंसिद्धः श्रौतस्मार्तपरायणः ।
अनित्यमिति विज्ञाय जगद्वैराग्यमाप्नुयात् ॥ २० ॥

कर्मैव परमपुरुषार्थसाधनमिति ये मन्यन्ते तान्निन्दति–**एभिरेवेति** । **ते मूढा** इति । स्वर्गादिलक्षणकार्यफलसाधनस्याकार्यब्रह्मप्राप्त्युपायत्वेनान्यथाग्रहणात्तेषां मौढ्यम् ॥ १४ ॥ एतदेव प्रपञ्चयति–**कर्मनिष्ठा** इति ॥ १५–१९ ॥ एवं श्रुतिप्रतिपादितामपरविद्याविषयकर्मनिन्दां प्रदर्श्य "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्" इतिश्रुतिप्रतिपादितं वैराग्यविधिं संगृह्णाति–**अनेकेति** । "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात्" इति ह्यत्र मूलभूता श्रुतिः । तत्र परीक्ष्येत्यस्य पदस्यार्थकथनम्–**अनित्यमिति विज्ञायेति** ॥ २० ॥

पा लेंगे, वे मूर्ख हैं और निरंतर बुढ़ापे व मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥ 'हम ही बुद्धिमान् हैं' यों खुद ही अपने को पण्डित मानने वाले किन्तु केवल कर्म में ही निष्ठा रखने वाले मनुष्य मूर्ख ही हैं, विद्वान् नहीं । उन्हें परम गति–मोक्ष–मिलनी नहीं । जैसे अन्धे के सहारे चलते अन्धे अँधियारे कुएँ में ही गिरते हैं वैसे कर्म को ही परम उपाय मानकर इसी में लगे रहने वाले लोग, जो यह मानते हैं कि 'कर्मनिष्ठ होने से हम कृतकार्य हैं' वे कर्म के समाप्त होने पर अवश्य स्वर्गादि से इस संसार में गिर पड़ते हैं । परम ज्ञान के बिना उन्हें मोक्ष की कोई संभावना नहीं ॥ १५–१८ ॥ इष्ट व आपूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले लोग विमूढ होने से मोक्ष नहीं पाते । (अग्निहोत्र आदि यज्ञ, तप, सत्य, वेदस्वाध्याय, आतिथ्य, वैश्वदेव आदि इष्ट कर्म हैं । बावड़ी, कूप, तालाब, देवालय, बगीचा आदि बनाना, अन्न-दान करना आदि को आपूर्त कर्म कहते हैं ।) ॥ १९ ॥ जिस श्रौतस्मार्त कर्मों में तत्पर व्यक्ति ने अनेक जन्मों तक धर्म पर दृढ रहकर चित्तशुद्धि नामक संसिद्धि पा ली है वही यह समझ कर कि यह सारा जगत् अनित्य है इससे विरक्त होता है ॥ २० ॥ ज्ञान से ही संसार का विनाश होता है, कर्म

ज्ञानादेव हि संसारविनाशो नैव कर्मणा ।
इति ज्ञात्वा शिवज्ञानसिद्ध्यर्थं पुनरास्तिकाः ॥ २१ ॥
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं च गुरुं गच्छेत्प्रियेण च ।
गुरुस्तस्मै परां विद्यां दद्याच्च[1] सुरपुंगवाः ॥ २२ ॥
[2]विस्फुलिङ्गा यथा चाग्नेः सुदीप्तात्प्रभवन्ति च ।
अपियन्ति तथा भावा अक्षरे शिवसंज्ञके[3] ॥ २३ ॥
दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो मायाया जीवतः परः ॥ २४ ॥

"नास्त्यकृतः कृतेन" इतिवाक्यस्याभिप्रायमाह–**ज्ञानादेवेति** । एवं नित्यानित्यवस्तुविवेकज्ञानेन विरक्तस्य श्रुत्युदीरितलक्षणगुरूपसदनमेव कर्तव्यमित्याह–**इति ज्ञात्वेति** । **गुरुस्तस्मा** इति । अपरविद्याविष[4]यात्संसारफलाद्विरक्तायेत्यर्थः ॥ २१ ॥ २२ ॥ एवं साधनचतुष्टयसंपन्नस्य ब्रह्मविद्योपदेष्टव्येत्युक्तम् । 'तदेतत्सत्यमि'ति तद्विषयस्य ब्रह्मण एव सत्यत्वावधारणमयुक्तं, जीवानामपि पृथग्विद्यमानत्वादित्याशङ्क्य तदव्यतिरेकं दृष्टान्तेनोपपादयति–**विस्फुलिङ्गा** इति । **प्रभवन्ति चेति** । चशब्देन श्रुत्युक्तस्तत्रैवाप्ययः संगृह्यते । यथा स्फुलिङ्गा दीप्तादग्रेर्जायमानास्तत्रैव पुनर्लीयमाना न ततोऽतिरिक्ता एवं चिद्रूपा अमी जीवलक्षणा **भावा** अपि देहेन्द्रियादिलक्षणोपाधिजननवशेन चिद्रूपाद् ब्रह्मणो जायमानास्तत्रैव **शिवसंज्ञेऽक्षरे** तदुपाधिलयेनापरिच्छिन्ने नभसि घटाकाशादिवल्लीयमाना न ततोऽतिरिच्यन्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥ ननु जीववत्तस्यापि प्राणादिमत्त्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं स्वरूपमाह–**दिव्य** इति । दिवि द्योतमाने स्वप्रकाशचैतन्यलक्षणे स्वात्मनि भवो **दिव्यः** स्वमहिमप्रतिष्ठ इति यावत् । स च **हि** यस्माद**मूर्तो** मूर्तिरहितः अत एव **पुरुषः** सर्वासु पूर्षु शरीरेषु व्याप्य वर्तमानः । बाह्यमाभ्यन्तरं च सकलं व्याप्य ताभ्यां सह वर्तत इति **सबाह्याभ्यन्तरः** । **अजो** जनिरहितः । एतच्च सर्वभावविकारोपलक्षणम् । एवंरूपोऽयमविद्यादृष्टिभिः प्राणादिमत्त्वेन ज्ञायते । तत्त्वदृष्ट्या त्वस्य प्राणमनसी न स्तः । अत्र **प्राण**शब्देन प्राणनादिव्यापारनिमित्तभूता क्रियाशक्तिरुच्यते । एतच्च कर्मेन्द्रियोपलक्षणम् । संकल्पाद्यात्मकं **मनस्**तच्च बुद्धेर्ज्ञानेन्द्रियाणां चोपलक्षणम् । **हि** यस्मादेवमस्य प्राणादिसंबन्धो नास्ति, अतः **शुभ्रो** निर्मलः । धर्माधर्मसंस्पर्शाभावात्तन्मूलत्वात्सकलसंसारमालिन्येस्येति भावः । अतो भोग्यप्रपञ्चोपादानभूताया मायायास्तद्भोक्तृसोपाधिकाज्जीवाच्चायमुदीरितरूपो निरुपाधिक आत्मा पर इत्यर्थः । एतेन 'अक्षरात्परतः पर'इति श्रुतिर्व्याख्याता ॥ २४ ॥

से नहीं, यह निश्चय कर शिवज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रेम सहित शास्त्रज्ञ व शिवानुभवयुक्त गुरु के निकट जाना चाहिये । गुरु ऐसे अधिकारी को परा विद्या का उपदेश देवे ॥ २१–२२ ॥

जैसे धधकती हुई आग से चिनगारियाँ निकलती हैं और आग में ही विलीन हो जाती हैं वैसे ही शिव नामक अक्षर से सब जीव निकलते और उसीमें लीन होते हैं ॥ २३ ॥ वह नित्यमुक्त शिव अपनी स्वप्रकाश महिमा में ही स्थित है । कोई एक मूर्ति (शरीर) उसकी नहीं है अतः वह सब शरीरों में व्याप्त है । देह में व देह के बाहर जो कुछ है उस सब के साथ उसके अधिष्ठानरूप से शिव रहता है । जन्मादि कोई विकार

---

१ दद्यादिति विधिः । न्यायप्राप्तसच्छिष्याय गुरुरुपदिशेदेवेत्यर्थः । भाष्यकृतोऽपीमं नियमं स्वीचक्रुः । सम्प्रदायप्रवृत्तिरत्र हेतुः । अतः सहस्त्रिकायामाचार्यविशेषणं 'विद्योपयोगार्थी'ति । उपयोगो विनियोगः प्रतिपत्तिकर्मेति यावत् । तथा च कृष्णविषाणत्यागवत् सत्पात्रेविद्यानिधान–मपि गुरोः कर्मेत्यर्थः । २ इतो द्वितीयखण्डस्यार्थमाह । ३ घ. शिवसंज्ञिते । ४ ङ. °षयत्वात्सं° ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च भूमिर्विश्वस्य धारिणी ॥ २५ ॥
अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृता[1]श्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां भूमिः शंकरोऽयं हि सत्यः[2] ॥ २६ ॥

उक्तमप्राणादिमत्त्वमुपपादयितुं प्राणादीनां तत उत्पत्तिमभिधत्ते–**एतस्मादिति** । प्राणादयस्तत्कारणानि पञ्च[3] भूतानि चोदीरितरूपाद् ब्रह्मण उत्पद्यन्ते । उत्पत्तेः प्रागविद्यमानैस्तैः[4] कथं कारणभूतं ब्रह्म प्राणादिमत्स्यादित्यर्थः ॥ २५ ॥ हिरण्यगर्भवद् ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिनस्तदभिमानिनो विराजोऽपि परशिवादुत्पत्तिं तदनन्यत्वं च प्रतिपादयति–**अग्निर्मूर्धेति** । "असौ वाव लोको गौतमाग्निः" इति श्रुतेरत्राग्निशब्दो द्युलोकवचनः । **वाग्विवृता** उद्घाटिता **वेदा** अस्य वागित्यर्थः । **हृदयं विश्वमस्येति** । **विश्वं** सर्वं जग**दस्य** विराजो **हृदय**मन्तःकरणम् । **पद्भ्यां भूमिरिति**, उत्पन्नेति शेषः । **शंकरोऽयमिति** । **अय**मुदीरितरूपो विराडप्युपाध्यपगमे सति सत्यस्वभावः परशिव एव नान्य इत्यर्थः ॥ २६ ॥

उसमें नहीं होते । क्रियाशक्ति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं । मन, बुद्धि आदि ज्ञानसाधन (अनपेक्षित होने से) उसके पास हैं नहीं । शिव ही निर्मल है । माया और जीव दोनों से महादेव परे हैं ॥ २४ ॥ प्राण, मन सब इंद्रियाँ तथा सारे महाभूत इन्हीं परमाक्षर शंभु से उत्पन्न होते हैं ॥ २५ ॥ द्युलोक जिसकी मूर्धा है, चंद्र-सूर्य जिसके नेत्र हैं, दिशायें कान हैं, प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है, वायु प्राण है, सारा जगत् जिसका हृदय है और जिसके चरणों से भूमिं पैदा हुई है वह विराड् भी शंकर का ही सोपाधिक रूप है । ('रूपोपन्यासाच्च' (१.२.२३) सूत्र में इस श्रुति को परमात्मविग्रहपरतया समझाया गया है । प्रकरण आदि के अनुरोध से यहाँ भूतयोनि अक्षर को समझना ही संगत है । क्योंकि सर्वात्मता की विवक्षा से यह वर्णन है, मूर्तिमत्त्व की विवक्षा से नहीं, इसलिये पूर्वोक्त 'अमूर्तः' श्रुति का विरोध भी नहीं है । कुछ विचारक–रत्नप्रभा के अनुसार वृत्तिकार–इस मंत्र को परमेश्वरपरक न मानकर विराट्पुरुष का निरूपण करने वाला मानते हैं । भामतीकार ने ऊहापोह से कुछ विचारकों वाले मत को ही उचित ठहराने का प्रयास किया है । किन्तु प्रकटार्थविवरण, न्यायनिर्णय, रत्नप्रभा, परिमल, ब्रह्मविद्याभरण आदि के अनुसार कुछ विचारकों वाला मत आचार्य का स्वमत नहीं है । अप्पय दीक्षित ने तो कह दिया है कि भामतीकार ने जो कुछ विचारकों वाले मत में आदर व्यक्त किया है वह केवल उन्हें संतुष्ट करने के लिये जो यह डरते हैं कि परमात्मा का रूप यदि श्रुति बतायेगी तो रूप पारमार्थिक हो जायेगा ! 'स्वमतमुपन्यस्यतीति भाष्यकारमतत्वेन टीकायामवतरणं तु ज्ञेये परब्रह्मणि रूपोपन्यासांगीकारे रूपवत्त्वं पारमार्थिकं स्यादिति बिभ्यतां परितुष्ट्यर्थम्' (परि.पृ. २६०) । सूत्रभाष्य में इस मंत्र को भूतयोनि के रूप का वर्णन करने वाला मानकर भी उपनिषद्व्याख्या में आचार्य ने कहा है 'योऽपि प्रथमजाद्धिरण्यगर्भाज्जायतेऽण्डस्यान्तर्विराट् स तत्त्वान्तरितत्वेन

---

१ ङ. "ता अस्य वे° । २ सूत्रभाष्ये परमात्मनो रूपोपन्यासोयमिति निर्धारितम् । यत्तु भामती-भावप्रकाशिकादौ हिरण्यगर्भपरोऽयं मंत्र इति स्वमतं तन्न, प्रकरणादि विरोधादिति परिमलादौ विस्तरः । उपनिषद्भाष्ये विराट् परस्माज्जायते तन्मयश्चेति वक्तुं वैराजं देहमाह मन्त्र इत्युक्तम् । ब्रह्मणएवोपाधिपरामर्शादिदं रूपं, निरुपाधिकस्य स्वतो रूपवत्त्वासंभवादिति भाष्याशयः सोपाधिकमपि सद् रूपं तु परमस्यैवाक्षरस्येति श्रुतिसूत्रव्याख्यानयोरैकवाक्यम् । अत्रापि 'शंकरोऽयमि'त्युक्त्वा पुराणेन भाष्यमतमेव स्वीकृतमिति दिक् । ३ छ. °ञ्च महाभू° । ४ ननु सत्कार्यवादिनो यूयमित्यसंगतमुच्यतेऽविद्यमानैरिति ? नायं दोषः । कार्यसत्त्वाभ्युपगमेऽपि कार्यतया तस्याव्यवहार्यत्वं ब्रूमोऽन्यथा कारकव्यापारवैयर्थ्यात्तथा च यथानुत्पन्नेन पुत्रेण न देवदत्तः पुत्रवान् व्यवह्रियत एवं ब्रह्म नानुत्पन्नैः प्राणादिभिस्तद्वद् व्यवहार्यमित्युचितमेवाचोदिष्म ।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमाद् वृष्टिश्चौषधयः पृथिव्याम्[1] ।
पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजा बहुधा संप्रसूताः ॥ २७ ॥
तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरो यजमानश्च लोकः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ २८ ॥
तस्माद्देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मर्त्याः पशवः पक्षिणश्च ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ २९ ॥

उक्तामेव सृष्टिं विवृणोति–**तस्मादिति** । **तस्मादेव** परस्मात्पुरुषा**दग्नि**र्जायते । तं विशिनष्टि–**समिध** इति । **यस्याग्नेः सूर्यः समिधः** समिन्धनहेतुः । सूर्येण समिध्यमानो द्युलोकोऽत्राग्निशब्दाभिधेय इत्यर्थः । छन्दोगोपनिषदि "असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्याऽऽदित्य एव समित्" इत्यादिना पञ्चाग्निविद्यायां द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषिद्रूपाः पञ्चाग्नय उपदिष्टाः । द्युलोकाग्नेरुत्पन्नात्**सोमा**त्पर्जन्यो जायते । तस्माच्च **पृथिव्यामोषधयो** व्रीहियवाद्याः संभवन्ति । तासु च पुरुषाग्नौ हुतासु स पुरुषस्तदन्नरसरेतोरूपेण परिणतं **योषितायां** योषिद्रूपेऽग्नौ **सिञ्चति** । अनेन क्रमेणोत्पाद्यमाना अपि सर्वाः प्रजास्तस्मादेव ब्रह्मण उत्पद्यन्त इत्यर्थः ॥ २७ ॥ **तस्मादृच** इत्यादि । ऋक्सामादीनि कर्मसाधनानि कर्माणि तत्फलं च सर्वमपि तस्मादेवोत्पन्नमित्यर्थः । यूपरहिता अग्निहोत्रादयो **यज्ञाः** । तद्वन्तो ज्योतिष्टोमादयः **क्रतवः** । **संवत्सरः** कर्माङ्गभूतः कालः । **यजमानस्त**त्कर्ता ।**लोक**स्तत्फलभूतः । स विशेष्यते–**सोमो यत्रे**ति । अविदुषा विदुषा च यथाक्रमं प्राप्यौ सोमसूर्यलोकावित्यर्थः ॥ २८ ॥ एवं कर्माङ्गभूता देवाद्या अपि तत एवोत्पन्ना इत्याह-**तस्माद्देवा** इति । **बहुधा** वसुरुद्रादिगणभेदेन बहुप्रकारा इत्यर्थः । **साध्या** देवविशेषाः । मर्त्यादीनां संबन्धिनौ **प्राणापानौ** । हविरर्थे **व्रीहियवौ** । पुरुषसंस्कारलक्षणं कर्माङ्गं तपः स्वतन्त्रं च फलसाधनम् । **सत्यब्रह्मचर्ये** प्रसिद्धे[2] । **विधि**रित्थं कर्तव्यमिति विधानम् ॥ २९ ॥

लक्ष्यमाणोपि एतस्मादेव पुरुषाज्जायते एतन्मयश्च–इत्येतदर्थमाह, तं च विशिनष्टि–अग्निः' । भाष्यकार का तात्पर्य है कि परमेश्वर का रूप किसी उपाधि से ही निर्दिष्ट किया जा सकता है, अतः यहाँ विराडुपाधि का परामर्श है किन्तु उपाधिदृष्टि से निर्दिष्ट रूप है परमेश्वर का ही । अतः उपनिषत् और सूत्र की व्याख्यायें संगत हैं । इसी मत को यहाँ पुराण ने 'अयं शंकरः' कह कर सत्यापित कर दिया है ।) ॥ २६ ॥ इस परम अक्षर पुरुष से ही द्युलोकरूप वह अग्नि उत्पन्न होती है जिसकी समिधा सूर्य है । (द्युलोकाग्नि से निष्पन्न) सोम से पर्जन्य बनता है जिससे (वर्षा द्वारा) पृथ्वी पर व्रीहि यवादि ओषधियाँ तैयार होती हैं । (उन्हें खाकर पुरुष वीर्य तैयार करता है और फिर) पुरुष वीर्य को स्त्रीरूप अग्नि में डालता है जिससे बहुत प्रजायें उपजती हैं । (इस क्रम से सारी सृष्टि परमाक्षर से ही होती है । (यहाँ छान्दोग्य (५.४–८), बृहदारण्यक (६.१.१२–१६) आदि में प्रसिद्ध पंचाग्निविद्या का परामर्श है ।) ॥ २७ ॥ उसीसे ऋचायें, साम, यजुर्वाक्य, दीक्षा नामक नियम, सब यूप-सहित और यूप-रहित यज्ञ, गाय आदि दक्षिणायें, संवत्सर (अर्थात् कर्म का अंगभूत समय), यजमान तथा कर्मफलभूत वे लोक जिन्हें सोम पवित्र करता या सूर्य तपाता है–सभी उत्पन्न हुए ॥ २८ ॥ उसी अक्षर से बहुत प्रकार के देव, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि-यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और इतिकर्तव्यतायें उत्पन्न हुईं ॥ २९ ॥ उसी से सात शीर्षण्य

---

१ ङ. च. संभवन्ति । २ 'सत्यमनृतवर्जनं यथाभूतार्थवचनं चापीडाकरम् । ब्रह्मचर्यं मैथुनाऽसमाचारः' इति भाष्यम् । 'सत्यं वदे'त्यत्र प्रमाणावगतं वक्तुं योग्यं च यद्भवति तत्सत्यं, प्रामाणिकमप्ययोग्यं वक्तुं यत्स्यात्तत्र तदिति । 'सत्यं भूतहिते प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्' इत्यन्यत्र । दर्शनस्मरणक्रीडावचनसंकल्पादिरूपं सर्वविधमैथुनमकार्यं ब्रह्मचारिणा ।

तस्मात्प्राणा अर्चिषः सप्त होमाः सुरश्रेष्ठाः समिधः सप्त चैव ।
लोकाः सर्वे चोद्भवन्त्याशु पूर्वं यथा तद्वत्स्वप्नतुल्यं तथाऽपि ॥ ३० ॥
अतः समुद्रा गिरयश्च नद्यस्तथा सर्वा ओषधयो रसाश्च ।
सर्वस्याऽऽत्मा सर्वसाक्षी परात्मा नित्यानन्दोऽयं पुराणः सुपूर्णः ॥ ३१ ॥
इदं सकलमास्तिकाः पुरुष एव नैवापरं न किंचिदपरं ततः सकलमस्ति सत्यं हि तत् ।
इदं हि मम वेदनं मुनिगणस्य शंभोर्हरेर्न कश्चिदपि संशयः श्रुतिमतस्य युक्तः खलु ॥ ३२ ॥
अहो विषयमायया[1] मरणपूर्वदुःखोदधौ पतन्ति मनुजा अमी परशिवस्य विद्यां विना ।
तरन्ति जननार्णवं परशिवस्य विद्याबलादिदं तु शिववेदनं शिवपदस्य सेवाबलात् ॥ ३३ ॥
गुहायां निहितं साक्षादक्षरं वेद चेन्नरः । छित्त्वाऽविद्यामहाग्रन्थिं[2] शिवं गच्छेत्सनातनम् ॥ ३४॥

तस्मात्प्राणा इत्यादि । **सप्त** शी[3]र्षण्याश्चक्षुःश्रोत्रादयः **प्राणाः** । तथा तेषां **सप्तार्चिषो** विषयप्रकाशनशक्तयः, **सप्त होमा**स्तज्जन्यानि विषयज्ञानानि । **समिध** इन्द्रियसमिन्धनहेतवो विषयाः[4] । **लोका**स्तेषां सप्तानामिन्द्रियाणां संचरणार्थानि गोलकानि ॥ ३० ॥ **अतः समुद्रा** इत्यादि निगदसिद्धम् । **सर्वस्याऽऽत्मे**ति । उक्तरीत्या साक्षिभूतः परमात्मा **सर्वस्या**नात्मप्रपञ्चस्या**ऽऽत्मा** स्वरूपमतस्तत्कृतपरिच्छेदानुपपत्तेरयं परिपूर्णो नित्यश्चेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवं संग्रहविस्तराभ्यां सृष्टिप्रतिपादनेनाक्षरस्वरूपं प्रतिपाद्य "पुरुष एवेदं विश्वम्" इति श्रुत्या सृष्टस्य जगतस्तदनन्यत्वमवधारितं, तत्संगृह्णाति– **इदमि**ति । **न किंचिदपरमि**ति । उक्तरीत्या ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य सर्वस्य तत्कार्यत्वात्तस्मात्परं नास्ति । **अपरमि**ति[5] प्रतीयमानं कार्यजातं तत्स्वरूपेऽध्यस्तत्वेन शुक्तिरूप्यवन्मिथ्यात्वाद्वस्तुतो नैव विद्यत इत्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ **गुहायां निहितमि**त्यादि । तदुदीरितस्वरूपमक्षरं ब्रह्म गुहाशब्दवाच्ये हृन्मध्येऽवस्थितं यः स्वात्मतया साक्षात्करोति स तद्विद्यया स्वसंसारे हेतुभूतमविद्याग्रन्थिं **छित्त्वा** सर्वदाबाधरहितं चिदेकरसं परशिवस्वरूपं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

प्राण, उनकी विषयप्रकाशन की शक्तियाँ और सप्तविध विषयज्ञान उत्पन्न हुए । गोलकें भी उन्हीं से बनीं । यह सभी महादेव से झटिति उत्पन्न हो जाता है तथा पूर्व कल्पों की तरह ही प्रतिकल्प होता रहता है । यों नियमतः अनादिपरंपरासिद्ध होने पर भी है स्वप्नतुल्य ही ॥ ३० ॥ समुद्र, पर्वत, नदियाँ, ओषधियाँ तथा रस–सभी परमशिव से उत्पन्न होते हैं । वे सर्वस्वरूप, सर्वसाक्षी, सर्वोत्कृष्ट चेतन, नित्यानंदरूप, सनातन तथा सदा पूर्ण हैं ॥ ३१ ॥ यह जो कुछ भी है वह पुरुष ही है और कुछ नहीं । पुरुष से भिन्न यह कुछ भी नहीं है । वही सत्य है । मेरा, मुनियों का, रुद्र का, विष्णु का–सबका यही निश्चय है । श्रुति के इस मत में संशय का कोई स्थान नहीं ॥ ३२ ॥ अहो कष्ट है कि परमशिव का ज्ञान न होने से ये मनुष्य विषयमोहकारी माया के कारण मरणादि दुःखसमुद्र में गिरे पड़े रहते हैं । किन्तु अहो सन्तोष की बात है कि कदाचित् परशिव के ज्ञान के सहारे इस जन्म प्रवाह से लोग निकल जाते हैं । यह शिव ज्ञान शिव की सेवा से ही प्राप्य है ॥ ३३ ॥ हृदयगुफा में स्थित इस अक्षर को यदि मनुष्य जान ले तो अविद्यारूप तगड़ी गाँठ खोलकर सनातन शिव की प्राप्ति कर लेता है ॥ ३४ ॥

---

१ छ. °यममा° । २ झ. °न्थिं प्राप्नोति सत्यचिद्घन°। ३ घ. ङ. शीर्षण्या चक्षुः° । ४ घ. विशेषाः । ५ घ. छ. °रमपि प्र° ।

[1]तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतदमृतं सत्यं तद्वेद्धव्यं मनीषिभिः ॥ ३५ ॥

धनुस्तारं शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ३६ ॥

लक्ष्यं सर्वगतं चैव शरो[2]ऽयं सर्वतोमुखः । वेद्धा सर्वगतश्चैव विद्धं लक्ष्यं न संशयः ॥ ३७ ॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं [3]पश्येन्निगूढवत् ॥ ३८ ॥

तदेतदक्षरमिति । तत्ताटस्थ्येन प्रागुक्तमेतदिदानीं गुहायां निहितत्वेन स्वात्मतयोक्तमनश्वरं यच्चैतन्यरूपं **ब्रह्म** तदात्मको हि सर्वः प्राणेन्द्रियादिसंघातः "प्राणस्य प्राणम्" इत्यादिश्रुतेः । अतस्तदेवामृतं नाशरहितमत एव **सत्यं** तच्च **मनीषिभिर्विद्वद्भिर्वेद्धव्यं** मनसा धारयितव्यम् । तद्विषयं मनः कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ३५ ॥ वेधनप्रकारमाह–**धनुस्तारमि**ति । यथा लौकिकं धनुर्लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणं तथाऽऽत्मशरस्य लक्ष्ये ब्रह्मणि प्रवेशकारणमित्योंकारो **धनुः** । सर्वप्रत्ययसाक्षी सोपाधिक **आत्मा शरः** । स खलूपाधिपरित्यागेन शरवल्लक्ष्ये ब्रह्मणि स्वात्मनैव समर्प्यते । तच्च **ब्रह्म लक्ष्यम्** । एतैश्च धनुरादिभिः साधनैर**प्रमत्तेन** विषयतृष्णादिप्रमादरहितेनैकाग्र्यचित्तेन पुंसा **वेद्धव्यम्** । ततः स वेधनादूर्ध्वं **शरवद्**यथा शरो लक्ष्येणैकीभवति तथा देहादिसाक्षी तत्साक्ष्यभिमानपरित्यागेन लक्ष्यभूतेन तेन ब्रह्मणैकीभूतस्तद्रूपो भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ लौकिकवेधवैलक्षण्यमाह–**लक्ष्यमि**ति । लौकिकवेधस्य हि लक्ष्यं परिच्छिन्नम् । बाणोऽप्येकमुखः । वेद्धा च क्वचिदेवावस्थितः अतस्तस्य लक्ष्यप्राप्तिविरहः पाक्षिकः संभवति । अत्र तु तद्वैलक्षण्यादुक्तलक्ष्यं विद्धमेव भवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥ प्रणवेनाऽऽत्मनो ब्रह्मरूपत्वज्ञानं श्रुत्यन्तरे प्रतिपादितमिति संवादत्वेन दर्शयति–**आत्मानमि**ति । एतच्च ब्रह्मोपनिषद्याम्नातम्[4] । यथाऽधरोत्तरारणिभ्यां निर्मथनेन निगूढं दारुमध्ये निलीनमग्निं पश्यति एवं प्रणवेन जाग्रदाद्यवस्थोपलक्षितं चिन्मात्रमात्मानं ब्रह्मरूपत्वेनानुसंदधानस्तदभ्यासवशेन तद्रूपत्वं साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

पराविद्या का विषय जो अक्षर ब्रह्म है वही हृदयस्थ है। वही प्राण, वाक् और मन भी है। अमृत और सत्य भी वही है । विद्वानों को चाहिये कि उसमें मन एकाग्र करें ॥ ३५ ॥ ॐकार धनुष है। सब ज्ञानों का साक्षी, उपाधिनिविष्ट प्रत्यगात्मा बाण है। ब्रह्म उसका लक्ष्य है। विषयतृष्णा आदि प्रमाद न करते हुए एकाग्रचित्त पुरुष को उक्त धनुष के सहारे उक्त बाण से उक्त लक्ष्य का वेध करना चाहिये। फिर जैसे बाण लक्ष्य से एकमेक हो जाता है वैसे उपासक परमात्मा से एक हो जाता है। (प्रणव के द्वारा शिवोपासना अद्वैतसंप्रदाय में परम आदृत और उपनिषदों में विस्तार से प्रतिपादित है। कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय (१.८), छांदोग्य (अध्य १), बृहदारण्यक (५.१), महानारायण (२४.१), मैत्र्युपनिषत् (६.२), नृसिंहोत्तरतापनीय, श्वेताश्वतर (१.१३), कैवल्य (१.११) आदि अनेक श्रौतप्रसंगों में प्रणवोपासना का विधान है। अतः स्वाधिकारानुरूप प्रणवोपासनपद्धति निज गुरु से ही प्राप्त कर लेनी चाहिये।) ॥ ३६ ॥ प्रकृत लक्ष्य सर्वव्यापक है और बाण भी चारों ओर मुँह वाला है (–हर तरह से चिन्तन कर सकता है)। निशाना साधने वाला भी आत्मा अतः सर्वव्यापक है। फल लक्ष्य का वेध होना निश्चित है ॥ ३७ ॥ हृदयकमल को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर बार-बार ध्यानरूप मन्थन करना चाहिये तभी वे महादेव दीखेंगे जो अभी छिपे से बैठे हैं। (शमी आदि लकड़ियों के दो टुकड़े इस ढंग से बनाये

---

१ इतो द्वितीयमुंडके द्वितीयखण्डं व्याख्याति । २ ङ. च. छ. झ. °रो मे स° । ३ ङ. च. छ. पश्यति गू° । ४ श्वेताश्वतरे तु 'स्वदेहमरणिं कृत्वे'ति पाठः (१.१४) कैवल्ये तु 'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पाशं दहति पण्डित' इति (१.११) उत्तरार्धपाठः । आत्मानमिति देहमध्ये स्थितं हृत्कमलमरणिं कृत्वा ध्यानस्थलं विधायेत्यर्थः । हृदय एकाग्रीभूयेति यावत् । प्रणवमोंकारमुत्तरारणिं कारयेत् प्रणवं साधनतयाऽऽलम्बयेत् । ध्यानमेव निर्मथनं तस्य दीर्घकालादिविशिष्टं पौनःपुन्यमभ्यासो ध्यानं समभ्यसेदित्यर्थः । तेन तमात्मदेवं पश्येद्योधुनातिरोहित इवास्ते । अत्र ध्यानं कठव्याख्यान आनन्दगिरीये 'यस्य शब्दस्योच्चारणे यत्स्फुरति तत्तस्य वाच्यं प्रसिद्धम् । समाहितचित्तस्योंकारोच्चारणे यद् विषयाऽनुपरक्तं संवेदनं स्फुरति तद् ओंकारमवलम्ब्य तद्वाच्यं ब्रह्मास्मीति ध्यायेत् । तत्राप्यसमर्थ ओंशब्द एव ब्रह्मदृष्टिं कुर्याद्'इत्यनुसन्धेयम् । (कठ. १.२.१६) ।

द्यौरन्तरिक्षं भूमिश्च मनः प्राणः सुरोत्तमाः ।
यस्मिन्नोतं तमेवैकं[1] विद्यात्प्राज्ञः समाहितः ॥ ३९ ॥
ब्रह्मैकविषयां वाचं वदेत्सततमास्तिकः । अन्या वाचस्त्यजेदेष सेतुरेवामृतस्य च ॥ ४० ॥
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो यस्यैष, महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे व्योम्नि शिवः साक्षात्प्रतिष्ठितः[2] ॥ ४१ ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितः सर्वहृदम्बुजान्तः ।
तद्विज्ञानेन[3] परिमुच्यन्ति धीरा यद्भाति चाऽऽनन्दवपुः स्वभावात् ॥ ४२ ॥

उक्तलक्षणमतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्लभमित्यभिप्रेत्य पुनरप्युपदिशति–**द्यौरन्तरिक्षमिति** । इदमुपलभ्यमानं लोकत्रयं **मनस्तद्व्यतिरिक्तानीन्द्रियाणि** च तत्सर्वं **यस्मिन्नक्षरे** ब्रह्मण्योतं समर्पितं समाहितमनस्केन विदुषा तदे**वैकं** ज्ञातव्यम् ॥ ३९ ॥ तथा तदेकविषयामेव **वाचं वदेत्** । **अन्यास्त्वनात्मविषया वाच** उत्सृजेत् । तत्र कारणमाह–**एष** इति । **एष** खल्वात्मा संसाराब्धेरुत्तरणेनामृतत्वप्राप्तेः **सेतुः** । अतस्तदेकविषयैव वागुच्चारितव्येत्यर्थः ॥ ४० ॥ स चोक्तविध आत्मा कुत्रोपलब्धव्य इति ? तत्राऽऽह–**यः सर्वज्ञ** इति । **सर्वज्ञः सर्वविदित्येतावुक्तार्थौ** । **यस्यैष** पूर्वोक्त**महिमा** विभूति**र्भुवि** लोके दृश्यते स **शिवो दिव्ये** सर्वज्ञानानामुत्पत्तिस्थानतया प्रकाशमाने ब्रह्मणः पुरे हृत्पुण्डरीके तत्रस्थे **व्योम्नि प्रतिष्ठितः** । उपलब्ध्यभिप्रायमेतत्, आकाशवत्सर्वगतस्य क्वचिदवस्थानानुपपत्तेः ॥ ४१ ॥ तस्य स्वरूपं विशिनष्टि–**मनोमय** इति । यः सर्वप्राणिहृदयमध्येऽवस्थितश्चिद्रूपः शिवः स मनोवृत्तिभिरेव तत्रोपलभ्यत इति **मनोमयः** । **प्राणशरीरनेता** । प्राणरूपं यत्सूक्ष्मं शरीरं तस्य स्थूलशरीरान्तरं प्रति प्रापयितेत्यर्थः । ईदृग्भूतं **यदक्षरं** ब्रह्म **स्वभावात्**कारणान्तरमनपेक्ष्य दुःखासंस्पृष्टं नित्यनिरतिशयानन्दस्वरूपं स्वभासैव **भाति** तज्ज्ञानं विवेकिनां मुक्तिसाधनमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

जाते हैं कि एक टुकड़े को जमीन पर स्थिर भाव से रख उस पर दूसरे टुकड़े से घर्षण किया जा सके। जैसे दही आदि मथते हैं वैसे ऊपर वाली लकड़ी से रगड़ा जाता है जिससे चिनगारियाँ निकलती हैं जिन्हें रुई आदि में ग्रहण कर उनके द्वारा काष्ठादि को प्रज्वलित किया जाता है । यज्ञों में यह प्रक्रिया प्रसिद्ध है । इसी का रूपक प्रणवोपासना के लिये यहाँ दिया है ।) ॥ ३८ ॥ द्युलोक, अन्तरिक्ष, भूमि, मन, प्राण–सब जिसमें आश्रित हैं उस एक शिव को ही एकाग्रतापूर्वक समझ लेना चाहिये । निरन्तर अद्वितीय ब्रह्म की ही बात करनी चाहिये, अनात्मसम्बन्धी–भेदसम्बन्धी–बातें छोड़ देनी चाहिये । अमरताप्राप्ति का यही उपाय है ॥ ३९–४० ॥ सामान्यतः व विशेषतः सब जानने वाला जो यह आत्मा है, जिसका वैभव संसार में प्रकट हो रहा है, वह शिव ही सब ज्ञानों के उत्पत्तिस्थान तथा ब्रह्म के उपलब्धिस्थान हृदय के आकाश में स्वयं संस्थित है ॥ ४१ ॥ यह आत्मा मनोमय है क्योंकि मनोवृत्तियों द्वारा हृदय में उपलब्ध होता है । प्राण व अन्य अवयवों वाले पुर्यष्टक को अधिष्ठित कर आत्मा ही एक से दूसरे शरीर में ले जाता है । सभी हृदयों में वही स्थित है । उसके यथार्थ अनुभव से ही बुद्धिमान् लोग मोक्ष प्राप्त करते हैं । आनन्दरूप वह परमशिव अपने स्वरूपभूत प्रकाश से ही भासता है ॥ ४२ ॥ कारण व कार्य–दोनों रूपों से स्थित

१ अयमेकः परमात्मैवेति प्रथमाध्यायस्य तृतीयपाद आद्येऽधिकरणे विस्तरेण प्रत्यपीपदन् । २ झ. साक्षी प्र॰ । ३ 'तज्ज्ञानेने'ति कुत्रचिद्ग्रन्थेषु पाठः स एव टीकाकृतोऽपीति भाति ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ४३ ॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ४४ ॥
न तत्र सूर्यश्चन्द्रश्च तारका विद्युतोऽनलः ।
विभान्ति शंकरे साक्षात्स्वयंभाने चिदात्मके ॥ ४५ ॥
तमेव सकलं भान्तमनुभाति स्वभावतः ।
तस्य[1] भासा सर्वमिदं विभाति तत एव हि ॥ ४६ ॥

अस्य ब्रह्मात्मज्ञानस्य फलमाह–**भिद्यत** इति । परं कारणम् । अवरं कार्यम् । तदुभयरूपेणावस्थिते **तस्मिन्न**द्वितीये ब्रह्मणि याथात्म्येन **दृष्टे** साक्षात्कृते सति हृदये मनसि ग्रन्थिरूपेणावस्थितोऽविद्यावासनाप्रचयो **भिद्यते** विनश्यति । विद्याया अविद्यानिवर्तकत्वात् । अत एव कारणाभावात्सर्वज्ञेयविषयाः संशयाः**श्छिद्यन्ते** । अस्य च निवृत्ताविद्यस्य छिन्नसंशयस्य विदुष इह जन्मनि जन्मान्तरे वा संचितानि भाविजन्मापादकान्यप्रवृत्तफलानि पुण्यपापरूपाणि **कर्माणि क्षीयन्ते** । तथा च वैयासिकं सूत्रम् –''तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्'' इति ॥ ४३ ॥ **हिरण्मय** इत्यादि । **हिरण्मये** ज्योतिर्मये विज्ञानप्रकाशसहितेऽसिकोशवद् ब्रह्मण उपलब्धिहेतुत्वेन कोशभूते सर्वान्तरत्वात्**परे** । एवंविधहार्दाकाशेऽवस्थितम् । **विरज**मविद्यादिरजोमलवर्जितम् । **निष्कलं** निर्गताः कला अवयवा यस्मात्तथाविधं ब्रह्म देशतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नं यत्परशिवस्वरूपं तदुक्तविशेषणत्वा**च्छुभ्रं** शुद्धं **ज्योतिषां** सर्वप्रकाशात्मनामग्न्यादीनां **ज्योति**रवभासकम् । न हि चैतन्यप्रकाशव्यतिरेकेणाग्न्यादयः प्रकाशन्ते । **आत्मविदो यत्**तत्त्वं विवेकतो जानन्ति तदुक्तविधमित्यर्थः ॥ ४४ ॥ कथमेतज्ज्योतिषां ज्योतिरिति तत्प्रतिपादयति–**न तत्रे**ति ॥ ४५ ॥ सूर्यादीनां तत्राविभासने कारणमाह–**तमेवे**ति । चैतन्यस्य स्फुरणपुरःसरं हि चेत्यस्य स्फुरणम् । अतः पश्चाद्भासमानं तत्प्रथमभाविनश्चैतन्यस्य न प्रकाशकमित्यर्थः । न चानुभानमपि तस्य स्वाभाविकमित्याह–**तस्य भासेति** । **तस्य** परशिवस्वरूपचित्प्रकाशेनैव **सर्वमिदं** तत्राध्यस्तं विविधं **भाति** न त्वात्मीयेनेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

उस अद्वितीय ब्रह्म को सही तरह जान लेने पर अज्ञाननिवृत्ति हो जाने से हृदय की गाँठ–चेतन व जड का अविवेक–खुल जाती है । सारे संशय दूर हो जाते हैं । जानकार के संचित व आगामी सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ शरीर में सबसे भीतर स्थित, 'मैं-मैं' ऐसा प्रकाश जहाँ बना रहता है, उस ब्रह्मोपलब्धिस्थानभूत हृदयकमल में शिव प्रतिष्ठित हैं । शिव अविद्यादि रज से रहित हैं, निरवयव हैं, शुद्ध हैं, अग्नि आदि ज्योतियों के भी प्रकाशक हैं । आत्मज्ञ विद्वान् जिस तत्त्व को विवेकपूर्वक समझते हैं वह उक्त प्रकार के शिव ही हैं ॥ ४४ ॥ उसके विषय में सूर्य, चंद्र, तारे, बिजली, आग आदि कोई प्रकाश नहीं कर पाते । वे शंभु तो ज्ञानरूप हैं अतः प्रत्यग्रूप से स्वयं ही भासते हैं ॥ ४५ ॥ उनके स्वभावतः भासने के पीछे ही बाकी सब भासता है । शिव के प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है । इसीलिये उन्हें विषय कर चंद्र व सूर्य का विम्ब प्रकाश नहीं करता । वायु भी उनकी ओर नहीं बह पाती । सभी देवता परमशिव को विषय नहीं करते । सब प्राणियों का कल्याण करने वाले ये महादेव

१ तस्येति प्राज्ञ आत्मोच्यतइत्यनुकृतेस्तस्य चेत्यत्र (१.३.२२) पाराशर्येण निरणायि । अत्र तमेव स्वभावतः भान्तं सकलम् अनुभातीत्यन्वयः ।

न तत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाशते न वान्ति वाताः सकलाश्च देवताः ।
स एष देवः कृतभूतभावनः[1] स्वयं विशुद्धो विरजः प्रकाशते ॥ ४७ ॥
ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानन्तं[2] परमं चैव पश्चात् ।
ब्रह्मानन्तं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानन्तं[3] परमं चोत्तरे च ॥ ४८ ॥
[4]द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सह स्थितौ ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥ ४९ ॥
केवलं साक्षिरूपेण विना भोगं महेश्वरः ।
प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः ॥ ५० ॥
यथाऽऽकाशो घटाकाशमहाकाशप्रभेदतः ।
कल्पितः परचिज्जीवः[5] शिवरूपेण कल्पितः ॥ ५१ ॥

एवं "न तत्र सूर्यो भाति" इति श्रुतिं संगृह्य तस्यास्तात्पर्यगम्यमर्थमाविष्करोति–**न तत्र चन्द्रार्केति** ॥ ४७ ॥ एवं स्वप्रकाशचिद्रूपस्य ब्रह्मणः सर्वजगत्कारणत्वेन यत्सार्वात्म्यमुपपादितं तदुपसंहरति–**ब्रह्मैवेदमिति** ॥ ४८ ॥ ननु जीवेश्वरौ संसारित्वादिधर्मभेदाच्छायातपवद्विलक्षणस्वभावौ, कथमनयोरैक्यमित्याशङ्क्य निरस्यति–**द्वौ सुपर्णाविति** । **सुपर्णौ** शोभनपतनौ। **जीवः फलमिति** । उपाधितादात्म्यापन्नत्वाज्जीवस्तत्कृतपुण्यपापफलं सुखदुःखात्मकं **भुङ्क्ते** । ईश्वरस्तूपाधिसंस्पर्शविरहेण कर्तृत्वाभावात्तत्फलं **न** भुङ्क्ते । अतो भोगं विहाय **केवलं** साक्षिचिद्रूपेण साक्षाद्विविक्त एव **स्वयं प्रकाशते** । एवं च **तयो**र्भोक्तृत्वाभोक्तृत्वलक्षणधर्मभेदात्प्रतिभासमानो यो **भेदः** स **मायया** परिकल्पितो न वास्तवः ॥ ४९–५० ॥

अपने शुद्ध निर्मल स्वभाव से भासते हैं ॥ ४६–४७ ॥ ब्रह्म ही अमृत है । वही सामने है, अनंत है, परम है और पीछे है । अनंत परब्रह्म ही दायें भी है बायें भी ॥ ४८ ॥

(यों यदि अनंत ब्रह्म ही एकमात्र है तो सुख-दुःख भोगने वाले हम कौन हैं ? यह स्पष्ट करने के लिये ब्रह्म से भिन्न हम अवस्तु ही हैं अतः भोगादि भी अवस्तु ही है यह समझाने के लिये कहते हैं–) इस शरीर में जीव और ईश्वर नामक दो पक्षी साथ-साथ रहते हैं । उनमें से जीवनामक पक्षी कर्मों का फल भोगता है, ईश्वर नहीं । महेश्वर तो केवल साक्षीरूप से स्वयं प्रकाशता रहता है, भोग नहीं करता । इन दोनों का भेद माया से कल्पित है ॥ ४९–५० ॥ जैसे आकाश घटाकाश महाकाश आदि भेदों वाला कल्पित होता है वैसे एक चिद्रूप ब्रह्म ही जीव और ईश्वर रूपों से कल्पित होता है ॥ ५१ ॥ तत्त्वतः तो शिव और जीव दोनों चित् ही हैं और चित् चिद्रूप से अभिन्न ही है भिन्न नहीं । चिद् यदि चिद्रूप से भिन्न हो तो अचित् हो जायेगी, अतः चिद्रूप से चित् चित् से भिन्न नहीं । यदि कहो

---

१ भावनं भव्यं शुभमित्यर्थः । कृतं भूतानां भावनं येन स इति वृत्त्यर्थः । २ घ. ॰नन्दं प॰ । ३ घ. ॰नन्दं प॰ । ४ इतस्तृतीयमुण्डकं व्याख्याति । ५ भिन्नश्चेतनोजीव इत्येवं कल्पितः शिवरूपेण च कल्पितः परपुरुष एवेत्यन्वयः । 'परचिज्जीवशिवरूपेण कल्पिता'–इति पाठश्चेद् अन्वयः स्पष्टः ।

तत्त्वतश्चिच्छिवः साक्षाच्चिज्जीवश्च ततः सदा ।
चिच्चिदाकारतोऽभिन्ना न भिन्ना चित्त्वहानितः ॥ ५२ ॥
चितश्चिन्न[1] चिदाकाराद्भिद्यते जडरूपतः ।
भिद्यते चेज्जडे भेदश्चिदेका सर्वदा खलु ॥ ५३ ॥

प्रतिज्ञातमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयति–**यथेति** । यथैकमेवाऽऽकाशस्वरूपमुपाधिभेदाद्घटाकाशमहाकाशप्रभेदेन कल्प्यत एवमेकमेव चिद्रूपं ब्रह्मोपाधिगतमालिन्यविशुद्धिभ्यां जीवेश्वरभेदेन परिकल्प्यते । परमार्थतस्तूपाधिकृतभेदपरित्याग उभयोरपि तयोरनादिनिधना संविदेव स्वरूपमित्यर्थः । नन्वीश्वरस्य चित्सर्वविषया जीवस्य तु परिमितविषयेति कथ[2]मनयोरेकत्वमित्यत आह–**चिच्चिदाकारत** इति । चितो यत्परिमितसर्वविषयत्वं तदुपाधिगतमालिन्यविशुद्धिकृतं, न तु स्वरूपकृतम् । अतश्चिदाकारेण जीवेश्वरयोरुभयत्रावस्थिता चिदेकैव, न भिन्ना । किंच सा भिद्यत इति वदन्वादी प्रष्टव्यः । किं सा चिदाकारेण भिद्यत, उत जडरूपेणेति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह–**चित्त्वहानित** इति । विमता चिन्न भवति चिदाकाराद्भिन्नत्वात्कुड्यवदित्येवं चित्त्वहानिप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीये तु जडस्यैव स भेदो न चित इत्याह–**जडरूपत** इति ॥ ५१–५३ ॥

कि चित् का जडत्वेन भेद है, तव तो जड का ही भेद हुआ, चित् सदा एक ही रही । (सौन्दड़ोपाध्याय आदि कतिपय विद्वान् मानते हैं कि किसी वस्तु का ऐसा निषेध किया जा सकता है जिससे निषिद्ध होती हुई वह वस्तु ऐसी विशेषता वाली भासे जो विशेषता कभी उस वस्तु में नहीं रहती । पारिभाषिक शब्दों में इसे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव कहा जाता है । यह ऐसा अभाव है जिसकी प्रतियोगिता ऐसे धर्म से अवच्छिन्न है जो धर्म प्रतियोगी में न रह अन्यत्र ही रहता है । जैसे किसी के लिये कहा जाता है 'अमुक का साथ होना व्यर्थ है क्योंकि वह दोस्त रूप से साथी नहीं वनता ।' यहाँ 'दोस्तरूप से साथी नहीं वनता' में यद्यपि यह कहा जा रहा है कि वह साथी नहीं बनता तथापि उसका साथी न बनना साथी रूप से नहीं कहा जा रहा क्योंकि साथी रूप से तो वह साथी बनता ही है, किन्तु दोस्त रूप से साथी न बनना कहा जा रहा है । दोस्ती उसमें न रहकर अन्यत्र रहती है । एवं च साथी के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म जो दोस्ती, वह उस व्यक्ति से अन्यत्र रहने के कारण व्यधिकरण है अतः यहाँ व्यधिकरण धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव का कथन है । इसी प्रकार यहाँ जडरूप से चेतन का भेद कहा जा रहा है । विचार करें तो समझ आता है कि उक्त दृष्टांत में वस्तुतः इतना ही कहा जा रहा है कि वह दोस्त नहीं वनता । साथी नहीं बनता यह नहीं कहा जा रहा । एवं च ऐसे सभी स्थलों में व्यधिकरणधर्म का ही निषेध पर्यवसित होता है, प्रतियोगी का तो सत्त्व ही रहता है । इसी से गंगेशोपाध्याय आदि तो मानते हैं 'प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदको भवति' अर्थात् ऐसा धर्म जो प्रतियोगी में नहीं रहता वह प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं बनता । अतः उनकी दृष्टि से व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव नहीं हुआ करता । इस पर्यवसित अर्थ को मानकर पुराण में कहा है कि यों भेद मानने का अर्थ होगा जड का भेद मानना, न कि चेतन का । इसका अभिप्राय यह नहीं कि उक्तप्रतियोगिताक अभाव अस्वीकार्य है क्योंकि 'वह दोस्त नहीं है' और 'वह दोस्त रूप से साथी नहीं है' इन प्रतीतियों में भेद अनुभूत होता है । तथापि फलितार्थ धर्मनिषेध ही होता है यह भाव है ।) ॥ ५३ ॥

१ छ. अतश्चिन्न । २ झ. °थमेतयो° ।

तर्कतश्च प्रमाणाच्च चिदेकत्वे व्यवस्थिते ।
अपि पापवतां पुंसां विपरीता मतिर्भवेत् ॥ ५४ ॥
श्रौतस्मार्तसमाचारैर्विशुद्धस्य महात्मनः । प्रसादादेव रुद्रस्य चिदेकत्वे मतिर्भवेत् ॥ ५५ ॥
चिदेकत्वपरिज्ञानान्न शोचति न मुह्यति । अद्वैतं परमानन्दं शिवं याति तु केवलम् ॥ ५६ ॥
शिवस्थाने शरीरेऽस्मिन्स्थितोऽपि[1] स्वात्ममायया ।
दुःखादिसागरे मग्नो मुह्यमानश्च शोचति ॥ ५७ ॥
स्वस्मादन्यतया भातमीशं स्वेनैव सेवितम् ।
अधिष्ठानं समस्तस्य जगतः सत्यचिद्घनम् ॥ ५८ ॥
अहमस्मीति निश्चित्य वीतशोको भवत्ययम् ।
अस्य चिन्मात्ररूपस्य स्वस्य सर्वस्य साक्षिणः ॥ ५९ ॥
महिमानं यदा वेद परमाद्वैतलक्षणम् । तदैव विद्यया साक्षाद्वीतशोको भवत्ययम् ॥ ६० ॥

तर्कतश्च प्रमाणाच्चेति । उदीरितरूपात्तर्कात् "चिद्धीदं सर्वं काशते काशते च" इत्येवमाद्यागमप्रमाणा[2]च्चिदेकत्वमित्यर्थः ॥ ५४-५५ ॥ **चिदेकत्वपरिज्ञानादिति** । एकस्मिञ्शरीरे विद्यमानयोर्भोक्त्रभोक्त्रोर्जीवेश्वरयोरुपाधिकृतभेदपरित्यागेन यच्चिन्मात्ररूपेणैक्यं तज्ज्ञानमेव शोकमोहादिसंसारभयनिवर्तनेन परमानन्दावाप्तिलक्षणाया मुक्तेः कारणमित्यर्थः ॥ ५६ ॥ एवं "द्वा सुपर्णा" इति मन्त्रस्य तात्पर्यव्याख्यानेन भेदपरत्वं व्युदस्योक्तार्थस्य साक्षात्प्रतिपादकम् "समाने वृक्षे" इति मन्त्रं व्याचष्टे–**शिवस्थान** इति । **स्वात्ममाययेति** । स्वात्मनो जीवस्योपाधिभूता या माया मलिनसत्त्वप्रधाना तया वशीकृत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ **स्वस्मादन्यतयेति** । **स्वस्मात्**संसारिणो**ऽन्यतया** वैलक्षण्येन भासमानं सकलसांसारिकदुःखव्रातहीनं स्वात्मनैव श्रवणमननादिभिरुपायैः **सेवितं** परशिवस्वरूपमेव जानन्नस्योदीरितं **परमाद्वैतलक्षणं महिमानं यदा** साक्षात्करोति । **स्वस्य सर्वस्येति** समानाधिकरणे षष्ठ्यौ । स्वशब्देन कारणं ब्रह्म परामृश्यते । स्वात्मकस्य स्वविवर्तस्य सर्वस्य साक्ष्यस्येत्यर्थः । **तदैव** स्वात्मनो ब्रह्मरूपत्वगोचरया **विद्यया** संसारवन्धविनिर्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ५८-६० ॥

तर्क और प्रमाण से चित् की एकता निश्चित होने पर भी पापी लोगों को विपरीत ही निश्चय होता है ॥ ५४ ॥ श्रौत-स्मार्त सदाचरणों से शुद्धचेतस्क महात्मा को ही शिव-कृपा से चिदेकता का निश्चय हो सकता है ॥ ५५ ॥ चेतन की अद्वितीयता के ज्ञान से फिर शोक-मोह नहीं होता । अद्वैत परमानंद शिव की ही केवल प्राप्ति होती है ॥ ५६ ॥ शिव के स्थानभूत इस शरीर में स्थित होता हुआ भी अपने स्वरूप के अज्ञान से जीव दुःखादि कष्टों के सागर में डूबता हुआ और मोह को प्राप्त होता हुआ शोक करता है ॥ ५७ ॥ जो ईश्वर अपने से भिन्न प्रतीत हो रहा है तथा जिसका हम भजन करते हैं वही सत्य और चिद्घन तथा सारे जगत् का अधिष्ठान है और वह मैं ही हूँ–ऐसा निश्चय करने से यह जीव शोकशून्य हो जाता है । सबके साक्षी इस चिन्मात्र की परम अद्वैतरूप महिमा को जब जीव जान लेता है तब उस

---

१ घ. "पि ह्यात्म" । २ छ. "णाच्चेत्य" ।

ब्रह्मयोनिं सदा पूर्णं रुक्मवर्णं महेश्वरम् ।
अपश्यन्नेव[1] पश्यन्तं कर्तृत्वेन प्रकाशितम् ॥ ६१ ॥
अनेककोटिभिः कल्पैरर्जितैः पुण्यकर्मभिः ।
तर्कतश्च प्रमाणाच्च प्रसादात्पारमेश्वरात् ॥ ६२ ॥
पश्यति श्रद्धया चापि यदा विद्वान्सुरर्षभाः ।
पुण्यपापे विधूयायमसक्तः सर्वहेतुभिः ॥ ६३ ॥
सर्वाकारतया साम्यं[2] परमाद्वैतलक्षणम् ।
उपैति नात्र संदेहः कर्तव्यश्च मनीषिभिः ॥ ६४ ॥

ननु भाविजन्मापादकयोः पुण्यपापयोः सतोरतत्प्रतिबद्धया परविद्यया कथं जीवस्य मुक्तिरित्याशंक्याऽऽह–**ब्रह्मयोनिमिति** । ब्रह्मणोऽपरस्य हिरण्यगर्भाख्यस्य योनिं कारणम् । **पूर्णमिति** श्रुतिगतपुरुषशब्दव्याख्यानम् । **अपश्यन्नेवेति** । कर्मकर्तृभावेनापश्यन्नेव स्वरूपप्रकाशेन प्रकाशनाद्दर्शनक्रियाकर्तृत्वेन प्रकाशितमित्यर्थः । ईदृग्रूपं परशिवं यदा स्वात्मतया पश्यति तदा स विद्वान्भाविजन्मापादके संचिते **पुण्यपापे विधूय** तद्धेतुभूतैः सर्वैरपि देहेन्द्रियादिभिर्विविक्तः सन्सर्वप्रकारेण शिवसाम्यं तदैक्यं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ६१–६४ ॥

ज्ञान के साथ ही–उसी समय–शोकरहित हो जाता है । (इस प्रकार 'हम कौन हैं ?' इस प्रश्न का समाधान हो गया । अपनी शिवरूपता न जानने वाले शिव ही हम हैं । उसे न जानने से हम सोचते हैं कि कोई शिव होगा जिसकी हम उपासनादि कर रहे हैं । दो शिव नहीं हैं–एक न जानने वाला और दूसरा जानने वाला; शिव एक ही है । उसमें अज्ञान और तत्कार्यभूत प्रपंच की गंधलेश भी नहीं है । जीव, शिव, जगत्, इनका भेद यह सब प्रतीतिमात्रसिद्ध है । प्रतीति को 'नहीं है' कहकर टालना व्यर्थ है । अतः प्रतीति मानकर शास्त्रादि उपदेश देते हैं उस उपाय का जो इस भेदभान को समाप्त करे । न भेदभान (सत्य) है, न उसके निवारण का उपाय । सत्य एकमात्र शिव है ।) ॥ ५८–६० ॥ हिरण्यगर्भ के भी कारणभूत, सदा परिपूर्ण, अविनाशिप्रकाशरूप, बिना देखते हुए भी देखने वाले, 'करने वाला'–इस तरह प्रकाशमान महेश्वर को जब साधक अनेक करोड़ों कल्पों में कमाये पुण्य की सहायता से, तर्क से, प्रमाण से तथा परमेश्वर कृपा से श्रद्धापूर्वक समझ लेता है तब यह विरक्त पुरुष पुण्य-पाप और उसके हेतुभूत देहादि से 'मैं-मेरा' कोई सम्बन्ध न रख शिव से सब तरह की अर्थात् परम अद्वैतरूप समानता प्राप्त करता है । इसमें बुद्धिमानों को कोई संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ६१–६४ ॥ जीव और शिव दोनों का स्वरूप चैतन्यमात्र है । ऐसा होने पर भेदरहित चिन्मात्र में सादृश्य कैसे हो सकता है ? (अभेद ही होगा । सादृश्य भिन्न वस्तुओं में ही होता है। अपने में अपनी समानता नहीं रहती । अतः जीव व शिव

१ झ. °व यः पश्येत्कर्तृ° । २ 'अविभागेन दृष्टत्वाद्' (४.४.४) इत्यधिकरणे मुक्तस्य परेणात्मनाऽविभाग एवेति स्थापितमिह च साम्ये परमं विशेषणमिति स एवाविभाग इह परमसाम्यं न त्वन्येषामिव साष्टर्यादीति बोध्यम् ।

चिन्मात्रं हि सदा रूपमुभयोः शिवजीवयोः ।
तथा सति कथं साम्यं चिन्मात्रे भेदवर्जिते ॥ ६५ ॥
उपाधियुक्तरूपे तु तयोः साम्यं भवेद्यदि ।
तदाऽपि नैव साम्यं स्याज्जीवस्य परमात्मनः ॥ ६६ ॥
महाकाशसमत्वं तु घटाकाशस्य सर्वथा ।
यथा नास्ति तथा साम्यं न जीवस्य शिवेन तु ॥ ६७ ॥
अस्तु वा साम्यमीशेन जीवस्यास्य तदाऽपि तु ।
[1]कर्मणा विद्यया वा तत्साम्यं सिध्यति नान्यथा ॥ ६८ ॥

ननु जीवेश्वरयोश्चिन्मात्ररूपयोः साम्यमुत सोपाधिकयोः । नाऽऽद्य इत्याह–**चिन्मात्रं हीति** । चिन्मात्ररूपेण तयोर्भेदो नास्तीति प्रागुक्तम् । साम्यं च भेदापेक्षमिति न तत्र युक्तमित्यर्थः ॥ ६५ ॥ द्वितीयं प्रत्याह–**उपाधियुक्तरूप** इति । **नैव साम्यं स्यादिति** । सोपाधिकयोः किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादियोगेनात्यन्तवैलक्षण्यात्सुतरां न साम्यं स्यादित्यर्थः ॥ ६६ ॥ सोपाधिकयोः साम्यानुपपत्तिं दृष्टान्तेनोपपादयति–**महाकाशेति** ॥ ६७ ॥ एवं जीवेश्वरस्वरूपपर्यालोचनया साम्यमाक्षिप्य कारणपर्यालोचनयाऽपि तदाक्षिपति–**अस्तु** वेत्यादिना ॥ ६८ ॥

क्योंकि एक ही पदार्थ हैं इसलिये इनमें समानता नहीं हो सकती) ॥ ६५ ॥ उनके उपाधिसम्बद्ध रूप में यदि साम्य होवे, ऐसे कहो तो वह असंगत है क्योंकि वे रूप तो अत्यन्त भिन्न हैं ही । जैसे महाकाश की घटाकाश से सदृशता नहीं हो सकती वैसे उपाधिपरामर्श होने पर जीव-शिव की समानता नहीं । (जैसे दृष्टांत में आकाश रूप से कहें तो एकता ही है समानता नहीं , आकाश एक ही है, ऐसे ही चिद्रूप से एकता ही है ।) ॥ ६६–६७ ॥ (समानता अनुपपन्न ही नहीं, उसका कोई कारण भी नहीं यह समझाते हैं–) यदि जीव की ईश्वर से समानता मान भी लें तो वह या कर्म के कारण है या ज्ञान के । अन्य तो कोई हेतु हो नहीं सकता ॥ ६८ ॥ यदि सादृश्य कर्म के कारण होने वाला हो तो विनाशी ही होगा ।

---

१ साम्यं मोक्षइति वदन्प्रष्टव्यः किं तत्साम्यं नित्यमनित्यं वा ? नित्यत्वे साधनाया वैफल्यं स्पष्टो दोषः । न च तवापि दोषसाम्यमिति वाच्यं, साम्यलाभाय मया साधनानंगीकारादविद्यानाशायैव तस्या उपयोग इति मे मतम् । साधनालभ्यो मोक्ष इत्यनित्यं साम्यमिति चेत्तर्हि कर्मणा तल्लाभो ज्ञानेन वेति विकल्प्य न कर्मणा, श्रुत्यादिविरोधादित्यभिप्रेत्य कर्मलभ्यत्वे विनाशित्वमपरो दोषइत्याह–कर्मणा चेदिति श्लो. ६९ । मम त्वविद्याध्वंसस्य जातत्वेऽप्यभावतयाऽविनाशस्तव परं साम्यं जायते तच्च नाभाव इति जन्यभावस्य विनाशध्रौव्यमित्यर्थः । ननु तर्हि विद्यया साम्यजनिरिति चेदित्याशंक्य नेत्याह–विद्ययेति । तत्रोच्यतां विद्यया साक्षाज्जन्यं परंपरया वा ? नाद्योऽदृष्टेः ज्ञानं साक्षान्न कस्यचिज्जनकतया दृष्टम् इत्याह–पुरस्तादिति । किं च कस्य विद्ययेति वाच्यम् । साम्यस्येति चेत्तत्राह–पुरस्तादिति । विषयो हि ज्ञानस्य कारणमिति ज्ञानात्पूर्वं स्यात् । कारणत्वेन स्वीकुर्वन् तस्य ज्ञानसाध्यतां वदन् हास्यतामेव यास्यसि । आत्मन इति चेत्तदापि द्वयोरात्मनोः जीवशिवयोरति वाच्यमेकस्य विद्यया साम्याननुभवात् । तयोश्च साम्येन विद्येष्यते वैषम्येन वा ? आद्ये साम्यस्य पूर्वस्थितिः । द्वितीये साम्याननुभूतिः । ननु साम्यजनिं वच्मि नानुभूतिमिति चेत् ? सा न विद्यया साक्षादित्यवोचाम। अवोचत् परमसाधु । ज्ञानस्येच्छाजनकत्वदर्शनात् । तन्न । नहि ज्ञानमिच्छायाः कारणं, सत्यपि ज्ञाने तदनुत्पत्तिदर्शनात्,काकविष्ठां जानन्नपि नेच्छति प्राज्ञः । नैयत्यं हि कार्यकारणभावगमकम् ज्ञानमिच्छाया अन्यथा-सिद्धकारणम् । इच्छा ज्ञातविषयाधीना, ज्ञातविषयश्च ज्ञानाधीन इति । ज्ञानं विनेच्छादर्शनादेव व्यवहारो ज्ञानं तद्धेतुरिति । किं तर्हीच्छायाः कारणम् ? किमुपादानं पृच्छसि निमित्तं वा ? आद्यन्तु माया मनो वा । निमित्तं च शोभनाध्यासो जीवेच्छायाः, शिवेच्छायास्तु प्राणिकर्माणि । तत्सिद्धं ज्ञानं न साक्षात्कस्यचन हेतुः । अस्तु तर्हि परम्परया साम्यजनिर्विद्यया ? नेत्याह–न करोति कदाचनेति । परंपरयेत्यस्यायमर्थो विद्यासाम्ययोर्मध्ये साम्यजनकः कश्चिदस्तीति । स ज्ञानं कर्म वा ? नाद्यः, तुल्यत्वात् । न द्वितीयः, साम्यस्य विनाशिताप्रसंगादित्यर्थः ।

कर्मणा चेद्विनाशः स्यात्कर्मसाध्यं हि नश्वरम् ।
विद्ययैव तु[1] चेत्साम्यं पुरस्तादेव चास्ति हि ॥ ६९ ॥
पुरस्तादेव सिद्धस्य बोधकं खलु वेदनम् ।
अभूतार्थस्य चोत्पत्तिं न करोति कदाचन ॥ ७० ॥
तत्रैवं सति साम्यं तु तयोः सर्वात्मनैव तु ।
पुरस्तादेव चा[2]स्त्येव तदाऽपि शिवजीवयोः ॥ ७१ ॥
पुरस्तादेव कैवल्यं लक्षणैकत्वतोऽस्ति च ।
तथा सति शिवोऽभिन्नोऽविद्यया भिन्नवत्स्थितः ॥ ७२ ॥

तत्साम्यकारणं किं कर्मेत विद्येति विकल्प्याऽऽद्यं निराकरोति—**कर्मणा चेदिति** । कार्यस्यानित्यत्वव्याप्तत्वादित्यर्थः । द्वितीये तु विद्याया अनुपयोगमाह—**विद्ययैवेति** । ज्ञानं हि प्रागवस्थितस्य साम्यस्य ज्ञापकं न तु कारकम् । तथाच तत्सम्यं प्रागेवानयोर्विद्यत इति न तद्विद्याफलं भवतीत्यर्थः ॥ ६९ ॥ ज्ञानस्य बोधकत्वमेव न तु कारकत्वमित्येतद्विषयान्तरे प्रसिद्धमिति दर्शयति—**पुरस्तादेवेति** ॥ ७० ॥ एवमाक्षिप्ते सिद्धान्ती स्वाभिमतं साम्यं ब्रूते—**तत्रैवमिति** । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यद्धि येन सर्वात्मना समं तत्तदेवेत्यैक्यलक्षणभेदनिरपेक्षमीदृग्विधं साम्यमत्र[3] विवक्षितं न सादृश्यं येन भेदाभावात्साम्यं नोपपद्यत इत्यर्थः । यत्तु साम्यस्य विद्यया प्राप्यत्वे पुरस्तादेव तत्स्यादित्यापादनं, तदिष्टमेवेत्यङ्गी करोति—**पुरस्तादेवेति** । **लक्षणैकत्वत** इति । चिन्मात्ररूपस्य साक्षिणः सर्वसाक्ष्यस्फुरणहेतुत्वेन सर्वदा सद्भावात्परप्रेमास्पदतया सुखरूपत्वाच्च सत्यज्ञानानन्दैकरसत्वं परशिवस्यैव । "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इति श्रुत्या तादृग्रूपत्वं प्रतिपादितमिति तयोर्लक्षणैकत्वम् । तस्मात्समानलक्षणयोगित्वात्तयोरेकत्वं सर्वदा सिद्धमित्यर्थः । **अविद्यया भिन्नवदिति** । अविद्या हि स्वतो मिथ्याभूता परशिवस्वरूपस्य न पारमार्थिकं भेदमावहतीति श्रुतेरर्थः ॥ ७१–७२ ॥

कर्म से जो कुछ भी होता है, नश्वर ही होता है । अगर ज्ञान के कारण साम्य होता है तब तो फलतः यही माना कि साम्य पहले से ही विद्यमान है क्योंकि ज्ञान पूर्व से स्थित वस्तु का ही बोध करता है, पूर्व में अविद्यमान वस्तु को ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता । अतः ज्ञान के कारण साम्य मानने का अभिप्राय है कि जीव-शिव की सर्वथा समानता सदा से है । समानता ही मोक्ष है (क्योंकि 'मुक्त हो जाता है' कहने के लिये श्रुति ने कहा है 'परम साम्य को प्राप्त होता है'), अतः सदा ही मोक्ष भी है यह स्वीकृत हो गया । नित्यमुक्तत्व ही शिव का स्वरूप है । वही यदि इस रीति से जीव का मान लिया तब तो एकस्वरूपता होने से दोनों का अभेद ही सिद्ध हुआ । (अतः समानता मानकर भी विचार करें तो अभेद में ही पर्यवसान होता है ।) एवं च श्रुति का अभिप्राय है कि शिव नित्य अद्वितीय है, अविद्या के कारण लगता है मानो जीवादि से अलग हो । विद्या से अविद्या का नाश हो जाने पर वह स्वरूपभूत अभेदात्मक परम साम्य में स्थित हो जाता है । इससे अतिरिक्त कोई प्रक्रिया संभव नहीं । अतः वेदोक्त साम्य अभेद ही है, अन्य नहीं ॥ ६९–७३ ॥ इस प्रकार जब जीव अपने शिवस्वरूप का दृढ ज्ञान पा लेता है

१ झ. तु तत्सा° । २ ङ. नास्त्येव । ३ 'परं साम्यम्' (मु. ३.१.३) इति श्रुतौ ।

विद्यया तद्विनाशेन स्वसाम्यं याति नान्यथा ।
अतः साम्यं तयोः साक्षादैक्यमेव न चेतरत् ॥ ७३ ॥
एवं जीवः स्वकं रूपं शिवं पश्यति चेद्दृढम् ।
स्वात्मन्येव रतिं क्रीडामन्यच्च कुरुते सदा ॥ ७४ ॥
बहिश्चेष्टा च मय्येव शिवे सत्यसुखात्मके ।
इति जानाति सर्वं तु स्वात्मनैव हि भासते ॥ ७५ ॥
स्वात्मनैव स्वयं[1] सर्वं यदा पश्यति निर्भयः ।
तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्य हि विमुक्तता ॥ ७६ ॥
एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसाऽपि च । ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदोक्तवर्त्मना ॥ ७७ ॥

विद्यया चाविद्यानिवृत्तौ स्वतःसिद्धमैक्यमेव जीवेश्वरयोरवशिष्यते तदेव साम्यशब्देन विवक्षितमिति निगमयति- **अत** इति ॥ ७३ ॥ 'प्राणो ह्येष' इति वाक्यस्यार्थं तात्पर्यतः संगृह्णाति-**एवमिति** । उक्तरीत्या यदि जीवस्याऽऽत्मनो निष्प्रपञ्चशिवरूपतां निर्विचिकित्सं साक्षात्करोति तदा वस्त्वन्तराभावात्स्वात्मविषयमेव क्रीडादिकं तस्य विदुषो भवतीत्यर्थः । **अन्यच्चेति** ध्यानपूजादिकमित्यर्थः ॥ ७४ ॥ 'क्रियावानि'ति श्रुतिपदं व्याचष्टे-**बहिरिति** । हस्तपादादिचलनरूपा या बाह्यक्रिया साऽपि मत्तो[2] नातिरिक्तेति जानतो न किंचित्कर्तव्यमवशिष्यत इत्यर्थः ॥ ७५ ॥ **तदा मुक्तो न मुक्तश्चेति** । बन्धस्याविद्यामयत्वान्मोक्षोऽपि तादृश इति परमार्थदृष्टौ मुक्तत्वमपि तस्य नास्तीत्यर्थः अत एवोक्तमाचार्यैः – "न निरोधो न चोत्पत्तिर्न ब[3]द्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता" इति ॥ ७६ ॥ अथ परविद्योत्पत्तौ सहकारिसाधनप्रतिपादकम् "सत्येन लभ्यस्तपसा" इति मन्त्रं संगृह्णाति-**एवंरूपेति** । **सत्यं** मृषावदनपरित्यागः । **तपश्चित्तैकाग्र्यं** तद्ध्यात्मदर्शनानुकूलं, नतु कृच्छ्रचान्द्रायणादि । अत एव स्मर्यते-"मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं[4] तप उच्यते" इति । **ब्रह्मचर्यादिभिरित्यादिशब्देनाहिंसास्तेयादियोगाङ्गस्य** संग्रहः । **वेदोक्तवर्त्मनेति** । "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यनेन प्रकारेणेत्यर्थः ॥ ७७ ॥

तब उसका सारा प्रेम आत्मा में ही होता है । खेल आदि अन्य जो कुछ भी वह करता है सब आत्मा में ही करता है । (अर्थात् आत्मातिरिक्त किसी में न उसका प्रेम रहता है न आत्मेतर से वह क्रीडादि करता है । कारण स्पष्ट है कि उसके लिये आत्मेतर कुछ रह ही नहीं जाता ।) ॥ ७४ ॥ 'बाह्यरूप से दीखने वाली सब चेष्टायें मुझ सत्य-सुखरूप शिव में ही हैं'-ऐसा वह जानता है और स्वस्वरूप से ही भासता रहता है ॥ ७५ ॥ जब सब कुछ निजरूप ही देखता है तब जीव निर्भय हो जाता है (क्योंकि भय सदा दूसरे से ही होता है) । निर्भय स्थिति ही मोक्ष है । वस्तुदृष्ट्या वह मुक्त भी नहीं होता ! यदि बद्ध हुआ होता तो मुक्त भी होता । जब बद्ध ही नहीं हुआ तो मुक्त होने का क्या प्रसंग ? यह पारमार्थिकता है ॥ ७६ ॥

इस प्रकार की (अर्थात् मोक्षप्रयोजक निष्प्रकारक ज्ञान) परा विद्या सत्य, तप, ब्रह्मचर्य आदि के पालन

---

१ ङ. शिवं । २ ङ. सतो । ३ झ. बन्धो न० । ४ ह्यैकाग्र्यमिति साहस्रीपाठः (१७.२५) । अयं श्लोको मोक्षधर्मे (२५०.४) वनपर्वणि च (२६०,२५) दृश्यते ।

शरीरेऽन्तः स्वयंज्योतिःस्वरूपं स्वकमैश्वरम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृताः ॥ ७८ ॥
एवंरूपपरिज्ञानं यस्यास्ति परयोगिणः । कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य संपूर्णरूपिणः[१] ॥ ७९ ॥
आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्नैव गच्छति । तद्वत्स्वा[२]त्मविभुत्वज्ञः कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥ ८० ॥
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः स निष्कलं पश्यति रूपमैशम् ॥ ८१ ॥
ध्यानेन परमेशस्य साम्बमूर्तिधरस्य च । स्वनिष्कलपरिज्ञानं जायते नान्यहेतुना ॥ ८२ ॥

शरीरेऽन्तरिति । शरीरमध्यस्थे हृत्पुण्डरीक इति यावत् । **क्षीणदोषा** इति । कामक्रोधादयश्चित्तमालिन्यापादका दोषास्ते क्षीणाः प्रशान्ता येषां ते तथोक्ताः । "सत्यमेव जयति नानृतम्" इति वाक्यस्यार्थमाह–**नेतर** इति । मायया ह्यावृतरूपा अतस्तया वशीकृताः स्वस्वरूपयाथात्म्यं न द्रष्टुं प्रभवन्तीत्यर्थः ॥ ७८ ॥ "बृहच्च तद्दिव्यम्" इति मन्त्रं तात्पर्यतः संगृह्णाति–**एवंरूपमिति** । स्वात्मनोऽपरिच्छिन्नपरशिवस्वरूपत्वं विदुषो गमनादिकं न संभवति, तस्य परिच्छिन्नधर्मत्वात् ॥ ७९ ॥ तदेव दृष्टान्तेनोपपादयति–**आकाशमिति** ॥ ८० ॥ यदेतत्स्वात्मनः परिपूर्णशिवरूपत्वं तदुपलब्धौ सहकारिसाधनं सत्यादिकमुपदिष्टम् । अधुना त्वसाधारणं कारणमुपदिशति–**न चक्षुषेति** । रूपादिराहित्याच्चक्षुराद्यविषयत्वम् । **नान्यैर्देवैरिति** । चक्षुर्वागातिरिक्तैर्ज्ञानेन्द्रियैः कर्मेन्द्रियैश्चेत्यर्थः । **तपसा** कृच्छ्रचान्द्रायणादिना । **कर्मणा**ऽग्निहोत्रादिरूपेण । ननु चक्षुरादिभिर्न गृह्यते चेत्कथं तर्हि तदुपलब्धिस्तत्राऽऽह–**ज्ञानप्रसादेनेति** । विशुद्धसत्त्वो विशुद्धान्तःकरणः पुरुषो **ज्ञानप्रसादेन** विषयेन्द्रियसंसर्गजनितरागादिमलकृतकालुष्यविरहे सति ज्ञानस्य यः प्रसाद आदर्शवत्स्वच्छता तेन स्वकीयं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं पारमेश्वरं रूपं साक्षात्करोति ॥ ८१ ॥ विशुद्धसत्त्वस्य सगुणध्यानमपि निष्कलज्ञानोत्पत्तौ कारण[३]मित्याह–**ध्यानेनेति** ॥ ८२ ॥

से वेदोक्त ढंग से ही हो सकती है ॥ ७७ ॥ शरीर में स्थित अपने स्वप्रकाश ऐश्वर स्वरूप को वे ही देख पाते हैं जिनके रागादि क्षीण हो चुके हैं, अन्य लोग नहीं ॥ ७८ ॥ उक्तविध ज्ञान जिस परम योगी को है उसे कहीं जाना-आना नहीं पड़ता । वह तो पूर्णरूप वाला–व्यापक–है ॥ ७९ ॥ जैसे आकाश एक है और संपूर्ण है–व्यापक है–अतः कहीं जाता-आता नहीं ऐसे ही अपनी व्यापकता को जानने वाला कहीं जाता आता नहीं ॥ ८० ॥ आत्मा का यह पूर्णस्वरूप आँख, वाणी, अन्य इंद्रियों या कर्म से विषय नहीं होता । शुद्ध चित्त वाले व्यक्ति का ज्ञान जब अन्य किसी वस्तु के सम्बन्ध से कलुषित नहीं होता तभी निरवयव (निष्प्रकारक) ऐश्वर (शिवाभिन्न) रूप को शुद्धमनस्क व्यक्ति समझ पाता है ॥ ८१ ॥ उमार्धविग्रह परमेश्वर के ध्यान से भी अपनी निरवयवता (निर्विशेषता) का ज्ञान हो सकता है । इसकी प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं ॥ ८२ ॥ यह अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा एकाग्र बुद्धि से समझा जा सकता है । यह सबका आश्रय है । पाँच तरह बँटा प्राण भी इसी में स्थित है । ('प्राणो ह्येतान्सर्वान् संवृङ्क्ते' (छा. ४.३.३) आदि से प्राण सबका आधार समझा जाता है उसका भी आधार शिव है यह बताने से सर्वाधारता स्पष्ट हो जाती है ।) ॥ ८३ ॥ विशुद्ध बुद्धि वाला आत्मज्ञ जिस किसी लोक की व जिस किसी विषय

१ सम्पूर्णत्वेमेवास्य रूपमित्यर्थः । २ झ °त्स्वात्मा विभुत्वाच्च कु° । ३ वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् । तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् । इति कल्पद्रुमाचार्योक्तिरनुसंधेया ।

एष आत्मा सुसूक्ष्मोऽपि वेदितव्योऽग्रया धिया ।
पञ्चधा संनिविष्टोऽसुर्यस्मिन्सर्वाश्रये सुराः ॥ ८३ ॥
संविभाति स्वचित्तेन यं यं लोकं विशुद्धधीः ।
सदा कामयते यांश्च तज्जयत्यखिलं ततः ॥ ८४ ॥
तस्मादात्मविदं साक्षादीश्वरं भवतारकम् ।
अर्चयेद्भूतिकामस्तु[१] स्वशरीरेण[२] चार्थतः ॥ ८५ ॥
[३]नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ ८६ ॥

"एषोऽणुरात्मा" इति वाक्यं संगृह्णाति–**एष आत्मेति** । सर्वजगत्कल्पनास्पदे यस्मिन्दहरमध्यावस्थिते परमात्मन्यसुः प्राणः प्राणापानादिपञ्चवृत्तिभेदेन प्रविष्टवान् । **एष आत्मा**ऽवच्छेदकोपाधिवशात्सूक्ष्मोऽपि ज्ञानप्रसा[४]देन हेतुभूतेनैकाग्रेण मनसा पूर्वप्रकारेणापरिच्छिन्नपरशिवस्वरूपत्वेन ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ ८३ ॥ एवमुक्तलक्षणं सर्वात्मानमात्मत्वेन प्रतिपन्नस्य सर्वावाप्तिलक्षणं फलमाह–**संविभातीति** । एवं विशुद्धधीर्विद्वान्'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिना श्रुत्यन्तरे प्रतिपादितं 'यं यं लोकं मनसा' भावयति यांश्च तत्रत्यान्का[५]मयते तस्य सर्वस्य स्वात्मनोऽनन्यत्वेन तत्सर्वमेव[६] हेलयैव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ८४ ॥ यस्मादेवं सर्वे कामा विदुषः स्वरूपभूतास्तस्मात्तत्परिचर्यानिरतस्याभिलषितफलावाप्तिः सिध्यतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥ उदीरितमात्मतत्त्वमुक्तोपायव्यतिरिक्तेनान्येन न ज्ञातुं शक्यत इति दर्शयति–**नायमिति** । **प्रवचनेन** वेदशास्त्राणां पठनेन । **मेधया** ग्रन्थार्थधारणशक्त्या । **बहुना श्रुतेन** बहुकृत्वः श्रवणेन । एतैरुपायैर्न **लभ्यो** लब्धुं न शक्यः । केन तर्हि लभ्य इति ? उच्यते । **एष** विद्वान्यमेवोक्तविधं परमात्मानं **वृणुते** प्राप्तुमिच्छति **तेन** कारणेन स परमात्मा **लभ्यो** नान्येन साधनान्तरेण । **तस्य** श्रवणमननादिभिस्तत्प्राप्तिं प्रार्थयमानस्य विदुष **एष आत्मा**ऽविद्यासंछन्नां स्वकीयां **तनुं विवृणुते** प्रकाशयति । श्रवणादिसाधनजनितया विद्यया तदविद्यानिवृत्तौ तत्स्वरूपमाविर्भवतीत्यर्थः ॥ ८६ ॥

की कामना करता है उसे विना प्रयत्न प्राप्त कर लेता है ॥ ८४ ॥ इसलिये आत्मवेत्ता साक्षात् ईश्वर है । वही संसार से तार सकता है । अपने शरीर से व धन आदि से आत्मज्ञानी की अर्चना करनी चाहिये ॥ ८५ ॥

वेदशास्त्रों के पढ़ने मात्र से आत्मलाभ नहीं हो जाता । बहुत कुछ याद करने से भी आत्मप्राप्ति नहीं होती । पुनः पुनः श्रवण करना भी आत्मा की प्राप्ति का हेतु नहीं है । आत्मा को पाने की अतितीव्र इच्छा से ही आत्मा मिलता है । वस्तुतः आत्मा अपना स्वरूप स्वयं दिखाता है, कोई साधन उसके दर्शन का कारण नहीं । (विविदिषा की प्रशंसा समझनी चाहिये । अतितीव्र इच्छा के बिना साधनानुष्ठान हो नहीं पाता अतः यही मुख्य हेतु कहा गया है । चूडामणि में कहा है 'सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम्' (श्लो. २९) । वैराग्य व मुमुक्षा तीव्र न होने पर शमादि भी व्यर्थ हैं । अतः मुमुक्षा ही अधिकारी का मुख्य विशेषण है । वह हो गया तो बाकी साधनों को स्वयं जुटा लेगा ।) ॥ ८६ ॥ मिथ्या ज्ञानों से अभिभूत न हो ऐसा जिसमें बल नहीं है वह आत्मा को नहीं पा सकता । (प्रतीति में अश्रद्धा के विना ब्रह्मनिश्चय असंभव

---

१ ङ. °स्तु श° । २ ङ. °ण न चा° । ३ इतस्तृतीये द्वितीयखण्डं व्याचष्टे– । ४ ङ. छ. °सादन° । ५ छ. °न्कामान्काम° । ६ घ. ङ. °मेकहे° ।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः प्रमादतस्तपसो नान्यलिङ्गात् ।
एतैर्यत्नं यः करोत्येव धीमांस्तस्याऽऽत्माऽयं विशते ब्रह्म धाम ॥ ८७ ॥
संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतशोकाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वशः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्ति ॥ ८८ ॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतार्तपरिमुच्यन्ति सर्वे[1] ॥ ८९ ॥

आत्मप्रार्थनासहायभूतानि बलादीनि च संपादनीयानीत्याह–**नायमिति** । आत्मनिष्ठाजनितं वीर्यं बलं तद्रहितेन पुंसा नासौ लब्धव्यः । तथा पुत्रपश्वादिविषयासङ्गनिमित्तात्प्रमादादनवधानात् । **अन्यलिङ्गादुत्तमाश्रमलिङ्गरहितात्तपसः** । तपोऽत्र ज्ञानम् । तथाविधाज्ज्ञानादपि नासौ ज्ञातुं शक्यते । अतो बलाप्रमादतपांसि विशिष्टाश्रमयुक्तानि तदधिगमेऽन्तरङ्गसाधनानीत्यर्थः । ''एतैरुपायैर्यतते'' इति श्रुतिवाक्यं संगृह्णाति–**एतैर्यत्नमिति** । **एतैरुक्तैर्बलादिभिरित्यर्थः** । **तस्याऽऽत्माऽयमिति** । बलादिभिर्यतमानस्य **तस्य** विदुषो**ऽयमात्मा** साक्षिचिन्मात्ररूपोऽयं **धाम** तेजोरूपमपरिच्छिन्नं **ब्रह्म विशते** प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ८७ ॥ विदुषस्तत्प्राप्तिप्रकारमाह–**संप्राप्येति** । **एनमा**त्मानं **संप्राप्य** सम्यग्ज्ञानेनावाप्य ऋषयो दर्शनवन्तस्तेनैव ज्ञानेन तृप्ताः । **कृतात्मानः** कृतनिश्चयाः । **वीतशोकाः** शोकमोहादिसांसारिकदुःखरहिताः । **प्रशान्ता** उपरतेन्द्रियाः । **त** आत्मविदः **सर्वगमा**काशवत्सर्वगतं सर्वप्रकारेणापि **प्राप्यो**पाधिकृतं परिच्छेदं विहाय **धीरा** विवेकिनः सन्तो **युक्तात्मानो** नित्यसमाहितमनस्काः शरीरपातकालेऽपि भिन्नघटाकाशवदविद्याकृतोपाधिपरिच्छेदनाशेन सर्वात्मकमपरिच्छिन्नं ब्रह्मै**वाऽऽविशन्ति** ॥ ८८ ॥ **वेदान्तविज्ञाने**ति । तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यजनितं ब्रह्मात्मैक्यविषयं यद्विशिष्टं ज्ञानं तेन सुनिश्चित उदीरितरूपोऽर्थो येषां ते तथोक्ताः । **संन्यासयोगात्**सर्वकर्मपरित्यागेन केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगा**द्यतयो** यतनशीलाः[2] । अत एव शुद्धान्तःकरणाः । एवंभूतास्ते सर्वे **परान्तकाले** भूतभौतिककार्यापेक्षया परं तत्कारणमज्ञानं तस्य विनाशकाले समुपजातात्**परामृता**न्निरतिशयामृतत्वसाधनाज्ज्ञानाद्‌ **ब्रह्मलोके** लोक्यत इति लोको ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः स्वस्वरूपतया लोक्यमाने ब्रह्मणि **परिमुच्यन्ति** परितः सर्वस्मादपि संसारबन्धनान्मुच्यन्ते[3] । अत्र स्थिता एव ज्ञानेनोपाधिविलये सति घटाकाशादिवदपरिच्छिन्नब्रह्मरूपतां भजन्त इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

है । विचार से पहले यह दृढ करना चाहिये कि जो प्रतीत होता है वह वस्तुतः होता ही नहीं है । इस बल को पाकर ही 'नेह नानास्ति' आदि समझ आ सकते हैं ।) विषयों में आसक्तिरूप प्रमाद के रहते भी आत्मज्ञान दुर्लभ है । संन्यास-रहित ज्ञान से भी आत्मप्राप्ति दुष्कर है । (वस्तुतः ज्ञान होता ही तब है जब संन्यास हो चुके । अतः यहाँ संन्यास के लिये लिंगशब्द का प्रयोग किया है । छिपे हुए आत्मरूप अर्थ के बोध का उपाय होने से संन्यास लिंग है । अथवा, ज्ञान होने पर संन्यास अर्थ-सिद्ध है अतः संन्यास को ज्ञान का लिंग कहा गया है । सर्वथापि संन्यासरहित ज्ञान नहीं होता । इसलिये कहा कि संन्याससहित ज्ञान ही मोक्षहेतु है । ज्ञान को यद्यपि मोक्ष के लिये किसी की अपेक्षा नहीं तथापि अपने लिये तो है ही । अपने लिये जिनकी अपेक्षा है उनमें संन्यास बहुत अंतरंग है यह भाव है । 'मैं अकर्ता हूँ' ऐसे निश्चय से ससाधन कर्मत्याग का नाम संन्यास है । यदि तप से ज्ञान समझने में कष्ट हो तो

---

१ परामृता इत्युपनिषदि । 'परममृतममरणधर्मकं ब्रह्मात्मभूतं येषान्ते परामृता जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परामृताः सन्त' इति तद्भाष्यम् । जीवन्मुक्ता देहत्यागे विदेहकैवल्यमाप्नुवन्तीति भाष्यानुसारी मन्त्रार्थः । सर्वयत्ननिवृत्तिरेवैषां यत्नो येनेमे यतयः । २ झ. 'शीलास्तत॰ । ३ घ. झ. ॰बन्धान्मु॰ ।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवताश्च ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥ ९० ॥

तस्य मुक्तस्य प्राणाद्याः कलाः कथं भवन्तीत्येतत्प्रतिपादयति–**गताः कला** इति । ताश्च प्रश्नोपनिषदि "षोडश कलाः प्रभवन्ति" इति प्रस्तुत्याऽऽम्नायन्ते–"स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः । अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम" इति ताश्च प्राणाद्याः कलाः संसारिणो देहान्तरारम्भहेतवः । विदुषस्तु मुक्तिसमये नामातिरिक्तास्ताः[1] **पञ्चदश कलाः प्रतिष्ठाः**, द्वितीयाबहुवचनान्तमेतत्, स्वस्वकारणं **गतास्तत्र** प्रलीना भवन्तीत्यर्थः। ये च चक्षुरादीन्द्रियेष्वनुग्राहकत्वेन स्थिता आदित्यादिदेवाः[2], "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" इत्यादिश्रुतेः तेऽपि प्रतिनियतं स्वं स्वं देवशरीरमेव गता भवन्तीत्यर्थः । यानि चानारब्धफलानि **कर्माणि** यश्च **विज्ञानमयो** विज्ञानप्रायो बुद्ध्याद्युपाधिविशिष्टः कर्ताऽऽत्मा ते सर्वेऽव्यये नाशरहिते विकारजातात्परेऽद्वितीये ब्रह्मण्येकी **भवन्ति** । यथा जलभाजनात्तदाधारापनये तत्रत्याः सूर्यप्रतिबिम्बाः सूर्ये तद्वदित्यर्थः ॥ ९० ॥

अन्वय यों जानना चाहिये 'तपसो न लभ्योऽन्यलिंगान्न लभ्यः' । कृच्छ्रादि तप से आत्मा प्राप्त नहीं होता । अपने से अन्य किसी के चिह्नादि का धारण करने से या प्रतीकोपासनादि से आत्मलाभ नहीं होता ।) जो बुद्धिमान् इन उपायों से प्रयास करता है उसका साक्षिरूप आत्मा ही ब्रह्मरूप धाम की प्राप्ति कर पाता है ॥ ८७ ॥ इसे प्राप्त कर ज्ञान से संतुष्ट ऋषि कृतकृत्य, निःशोक और निष्क्रिय हो जाते हैं । वे हर तरह से व्यापक आत्मा को स्वस्वरूपतया पा जाते हैं । सदा समाहित मन वाले हुए वे सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित रहते हैं ॥ ८८ ॥ महावाक्य के श्रवणादि से जनित शिवात्मैक्यविषयक विशिष्ट ज्ञान से जिन्होंने पूर्वोक्त परमार्थ का निश्चय कर लिया है तथा सर्वकर्मपरित्यागपूर्वक केवल ब्रह्मनिष्ठारूप योगके अभ्यास में जो यत्नशील हैं वे शुद्धचित्त वाले महात्मा जगत्के प्रयोजक परम अर्थात् मूलाज्ञान की समाप्ति के समय निरतिशय अमरता की प्राप्ति के साधनभूत उस अज्ञाननिवर्तक ज्ञान के कारण सारे संसारबंधनों से छूटकर स्वरूपभूत स्वप्रकाश ब्रह्मरूप से स्थित होते हैं । (इस श्लोक के मूलभूत मंत्र के शब्दों के अनुसार और वहाँ के प्रसंग का ख्याल कर भाष्यकार ने अन्य तरह से अर्थ किया है, यह जान लेना चाहिये ।) ॥ ८९ ॥ मुक्त की प्राणादि पन्द्रह कलायें अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाती हैं । इन्द्रियादि पर अनुग्रह करते हुए स्थित देवता अनुग्रह करना छोड़ अपने ही रूप में स्थित रह जाते हैं । उसके संचितादि कर्म और बुद्धि आदि उपाधि वाला कर्ता-आत्मा (चिदाभास) परम अव्यय ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं । (मुक्त के मरणकाल का प्रसंग है । प्राणादि कलायें प्रश्नोपनिषत् में (६.४) वर्णित हैं । यद्यपि वहाँ सोलह कलायें हैं तथापि यहाँ प्राण और मन को इकट्ठा कर पंद्रह कर दिया है । अथवा अन्त्य कला 'नाम' बची रहती है । लोग याद रखते हैं 'शुक मुक्त हुए थे' आदि । इसलिये पंद्रह कहा है ।) ॥ ९० ॥ जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्र को प्राप्त होती हैं, अपने-अपने नामों व रूपों को छोड़ देती हैं, उसी तरह शिवतत्त्ववेत्ता नाम-रूप से छूटकर परात्पर ब्रह्म-पुरुष को प्राप्त करता है । (माया ही कारण होने से पर है उससे भी परे होने से ब्रह्म परात्पर कहा जाता है । जीवभाव (जीवता) नष्ट होने पर भी जीव नष्ट नहीं होता जैसे

---

१ 'यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति ? नामेति, अनन्तं वै नामे'त्यार्तभागप्रश्नस्थितवचसा (बृ. ३.२.१२) षोडश पंचदशेति च संख्याभेदसंगत्यर्थं नामातिरिक्ताइत्युक्तम् । वस्तुतस्तु तस्य नाममात्रं तिष्ठतीत्यस्य न किंचित्तिष्ठतीत्येवार्थ-उक्तश्रुतेर्भाष्यकारीयादौ व्यक्तः । संख्याविगानन्त्वन्तर्भावकल्पनया संगमनीयम् । २ घ. ङ. छ. झ. "त्या दे" ।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं यान्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषं ब्रह्म याति ॥ ९१ ॥
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद सुरर्षभाः ।
ब्रह्मैव भवति ज्ञानान्नास्ति संशयकारणम् ॥ ९२ ॥
सुनिश्चितं परं ब्रह्म वेद चेत्स्वानुभूतितः । कुले भवति नाब्रह्मवित्तस्य सुरपुंगवाः[1] ॥ ९३ ॥
शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिर्विनश्यति । अमृतो भवति प्राज्ञः सत्यमेव मयोदितम् ॥ ९४ ॥
सर्वमुक्तमतिशोभनं मया शोकमोहपटलस्य भेदकम् ।
आशु सत्यसुखबोधवस्तुदं वेदमाननिरतस्य भासते ॥ ९५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु वस्तुस्वरूपविचारो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७॥

उक्तमेकीभावं दृष्टान्तेनोपपादयति–**यथा नद्य** इति । **नामरूपादिति** । देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि नाम । रूप्यत इति रूपं स्थूलशरीरादिलक्षणमुपाधिः भेदहेतोस्तस्माद्विमुक्तो विविक्तः सन्परात्स्वकार्यव्यापकत्वात्परं माया ततः **परं पुरुषं** पुरिशयं पूर्णं **ब्रह्म** स्वरूपं प्राप्नोति ॥ ९१ ॥ जीवब्रह्मभेदस्याविद्यामात्रनिबन्धनत्वात्तन्निवृत्तौ च विद्यातिरिक्तसाधनानपेक्षत्वाद्वेदनमात्रेण कण्ठगतचामीकरवद् ब्रह्मप्राप्तिः सिध्यतीति दर्शयति–**स यो ह वा** इति ॥ ९२ ॥ "नास्याब्रह्मवित्कुले भवति" इत्यस्यार्थमाह–**सुनिश्चितमिति** । ब्रह्म विदुषः कुले यो यो जायते स सर्वोऽपि ब्रह्मविदेव भवतीत्यर्थः ॥ ९३ ॥ **शोकं तरतीत्यादि** । शोकमनेकेष्टवैकल्यनिमित्तं मानसं तापं **तरति** जीवन्नेवातिक्रामति । **पाप्मानं** संसारहेतुभूतं धर्माधर्मात्मकमपि तरति । **गुहाग्रन्थिर्हृदयस्थाविद्यावासनाग्रन्थिः** सोऽपि **विनश्यति** । एवं प्राज्ञो विशुद्धचित्प्रकाशःसन्विद्ययाऽमृतत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥ प्रतिपादितमुपनिषदर्थं निगमयति–**सर्वमुक्तमिति** ॥ ९५ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे
ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु वस्तुस्वरूपविचारो नाम सप्तमोऽध्याय ॥ ७ ॥

गंगारूपता आदि न रहने पर भी समुद्र में मिलने से गंगा नष्ट नहीं होती । अन्यथा अपुरुषार्थता की आपत्ति होगी ।) ॥ ९१ ॥ जो कोई भी उस पर ब्रह्म को जानता है वह उस ज्ञान के आधार पर ब्रह्म ही हो जाता है इसमें कोई संदेह नहीं । (क्योंकि वह सदा ही ब्रह्म है इसलिये अज्ञाननिवृत्ति हो जाने पर व्यवहार होता है कि वह ब्रह्म हो जाता है । ॥ ९२ ॥ जिसने परब्रह्म की स्वरूपतया अनुभूति कर ली उसके कुल में भी कोई ऐसा नहीं होता जो ब्रह्मवित् न हो ॥ ९३ ॥ शोक और पाप से वह परे हो जाता है । उसके मन की गाँठ खुल जाती है, इतरेतराध्यास–शरीरादि में 'मैं-मेरा' यह निश्चय–सर्वथा समाप्त हो जाता है । वह स्वयं अमृत ब्रह्म हो जाता है, यह सत्य बात है ॥ ९४ ॥ यों मैंने कल्याणप्रद सब बता दिया है । शोक-मोह की समस्त राशि का समापन उक्त ज्ञान से हो जाता है । सच्चिदानन्द रूप वस्तु की अतिशीघ्र प्राप्ति का यही उपाय है । जो साधक वेदरूप प्रमाण में श्रद्धा रख श्रवणादि करता रहता है उसे इस अनुभव की निश्चित प्राप्ति होती है ॥ ९५ ॥

---

१ श्रुतिरियमर्थवादः । यद्वा ब्रह्मविदः सर्वात्मकत्वाद्योऽपि भवति स ब्रह्मविदेव भवतीत्यर्थः । यद्वा ब्रह्मविद्भवत्येवेति योजना। इह जनुषि जन्मान्तरे वा तत्कुलीनो ब्रह्मविद्भवतीति फलं कल्प्यम् । यद्वा वेदज्ञो भवति, ईश्वरोपासको भवतीतिवा वोध्यम् । यद्वा कुले कश्चिद्भवति चेद् ब्रह्मविदेव भवति, अन्यथा नैव भवतीत्यर्थः ।

अष्टमोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच– अस्ति तत्त्वं[1] परं साक्षाच्छिवरुद्रादिसंज्ञितम् ॥

तदवश्यं महायासाद्वेदितव्यं मनीषिभिः ॥ १ ॥

तद्विद्या यतिभिः सेव्या निगूढाऽतीव शोभना । अचिरात्सर्वपापघ्नी परब्रह्मप्रदा नृणाम् ॥ २ ॥

श्रद्धया च महाभक्त्या ध्यानेन च सुरोत्तमाः ।

योगेन च परा विद्या लभ्या सा नैव कर्मणा ।

न प्रजाभिर्न चार्थेन त्यागेनैषा[2] सुरर्षभाः ॥ ३ ॥

अथ कैवल्योपनिषदोऽप्यु[3]क्तब्रह्मात्मैक्यपरत्वं दिदर्शयिषुस्तां संगृह्णाति–**अस्ति तत्त्वमि**त्यादिना । **शिवरुद्रादिसंज्ञितमि**ति । निरतिशयानन्दरूपत्वाच्छिव इति । रुत्संसारदुःखं तस्य द्रावकत्वाद्रुद्र इत्येतादृशीं संज्ञां प्राप्तमित्यर्थः । एवं विद्याविषयं प्रतिज्ञाय तस्यामधिकारिणं प्रयोजनं च क्रमेण दर्शयति–**तदवश्यमि**त्यादिना । एवं हि श्रूयते–"अथाऽऽश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनं परिसमेत्योवाच । अधीहि भगवन्ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम् । ययाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्" इति । एवं सर्वत्र वक्ष्यमाणेष्वर्थेषु मूलश्रुतिरनुमेया ॥ १ ॥ २ ॥ तस्याः परविद्यायां उत्पत्तावनुकूलसाधनान्युपदिशति–**श्रद्धये**ति । **श्रद्धा** गुरूपदिष्टेऽर्थे विश्वासः । **भक्तिः** सर्वदा तत्र तात्पर्यम् । तस्मिन्नुपदिष्टेऽर्थे सजातीयप्रत्ययप्रवाहो **ध्यानम्** । "विविक्तदेशे च सुखासनस्थः" इतिश्रुत्युक्तोऽत्र वक्ष्यमाणस्वरूपो **योगः** । एतत्सर्वं परविद्योत्पत्तौ साधनम् । ईदृग्विधसाधनसंपन्नस्यैषणात्रयपरित्याग एव मोक्षसाधनं नान्यदिति दर्शयति–**सा नैवे**ति। **कर्मणा** यज्ञदानादिना । **प्रजाभिः** पुत्रपौत्रादिभिः । **अर्थेन** धनेन । एतानि ह्यनित्यफलसाधनानि परविद्या त्वतथाविधेत्येषां कर्मादीनां **त्यागेनैव** प्राप्येत्यर्थः ॥ ३ ॥

तत्त्ववेदनविधि नामक आठवाँ अध्याय

(अन्यत्र भी साधनोपदेशपूर्वक अद्वैत शिव का विवरण श्रुति ने किया है यह बताने के लिये कैवल्योपनिषत् के आधार पर) ब्रह्माजी बोले–स्वयंसिद्ध पर तत्त्व है । शिव, रुद्र आदि उसी के नाम हैं । बुद्धिमानों को पूर्ण प्रयास कर उसे अवश्य जानना चाहिये ॥ १ ॥ संन्यासियों को उस तत्त्व को विषय करने वाली रहस्यभूत विद्या का सेवन अवश्य करना चाहिये । लोगों के पापों को वह बहुत जल्दी समाप्त करती है और परब्रह्म की प्राप्ति कराती है ॥ २ ॥ श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग से वह परा विद्या मिलती है, कर्म से नहीं । पुत्र-पौत्रादि या धन से भी उसकी प्राप्ति नहीं होती । बल्कि कर्मादि के त्याग से ही यह मिलती है । (ध्यान से निदिध्यासन और योग से यहीं (श्लो. ७ से) बताया जाने वाला विशिष्ट ध्यान समझना चाहिये ।) ॥ ३ ॥ वेदान्त-महावाक्यों के श्रवण से उत्पन्न विद्या द्वारा जिन परम विशुद्ध हृदय वालों ने परमार्थ का पक्का निश्चय कर लिया है उनके आत्मभास्य इस शरीर में रहते ही अज्ञान नामक मूल कारण का नाश

---

१ पूर्वं (३.४६) परस्यास्तित्वमतिष्ठिपत्तत्स्मारयति–अस्तीति । कठेऽपि 'न प्राणेन नापानेने' त्यादिना परास्तित्वमुक्तम् । अस्तीत्यत्र प्रमाणमाह–साक्षादिति । २ 'व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ती'ति विविदिषूणां कृते विधिरित्यंगीकारात्त्यागस्यानिवार्यत्वम् । ३ झ. °प्युक्तं य° ।

ये वेदान्तमहावाक्यश्रवणोत्पन्नविद्यया । सुनिश्चितार्था यतयो विशुद्धहृदया भृशम् ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृश्ये शरीरेऽस्मिन्नन्तकाले परस्य[१] तु ।

अज्ञानाख्यस्य[२] ते सर्वे मुच्यन्ते हि परामृताः ॥ ५ ॥

अतो विद्याप्तिसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुर्मतिमत्तमः[३] ॥ ६ ॥

विविक्तं देशमाश्रित्य सुखासीनो महाशुचिः ।

समग्रीवशिरःकायः सितभस्मावगुण्ठितः[४] ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणि समस्तानि निरुध्य सुरपुंगवाः ।

प्रणम्य स्वगुरुं भक्त्या विचिन्त्य हृदयाम्बुजम् ॥ ८ ॥

विशुद्धं विरजं तस्य मध्ये विशदमीश्वरम् ।

अनन्तं शुद्धमव्यक्तमचिन्त्यं सर्वजन्तुभिः ॥ ९ ॥

अथ परविद्योत्पत्तावसाधारणकारणाभिधानपुरःसरमधिकारिणस्तथा प्राप्यं फलमाह–**ये वेदान्तेति** । उक्तार्थमेतद्गतेऽध्याये ॥ ४–५ ॥ एवं विषयप्रयोजनसाधनाधिकारिभिः सह विद्यास्वरूपमुपदिष्टम् । अथ तत्साधनभूतं योगमुपदिशति– **अत** इत्यादिना ॥ ६–८ ॥ **विशुद्धं विरजमिति** । विषयवैतृष्ण्येन तदु[५]पभोगजनितकालुष्यराहित्याद्विरजं निर्मलमतएव **विशुद्धं हृदयाम्बुजमिति** संबन्धः[६] । तस्मिन्हृदयकमलमध्येऽनुसंधेयं वस्तु संदर्शयति–**विशदमिति** । **विशदं** निर्मलम् । विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिवशादी**श्वरम्** । **अनन्तम**न्तो विनाशस्तद्रहितम् । अत एव **शुद्धम्** । शब्दस्पर्शादीनामभिव्यक्तिहेतूनामभावाद**व्यक्तम्** । अत एवात्यन्तनिर्विकल्पकत्वान्मनसाऽ**प्यचिन्त्यम्** ॥ ९ ॥

होने पर वे सब मुक्त हो जाते हैं और परम अमृतभाव में प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ४–५ ॥ इसलिये विद्याप्राप्ति के लिये बुद्धिमान् मुमुक्षु को चाहिये कि किसी शुद्ध एकान्त स्थान में स्वयं भी शुद्ध होकर सिर गर्दन और धड़ सीधा रख आराम से बैठ जाये । श्वेत भस्म का लेप भी कर लेना चाहिये । सारी इंद्रियों की बहिःप्रवृत्ति रोक, निज गुरु को प्रणाम कर हृदयकमल में ध्यान एकाग्र करे ॥ ६–८ ॥ इस अभ्यासी का हृदय (कम से कम ध्यानकाल में) विषयेच्छा और भोगस्मृति से रहित होना चाहिये । वहाँ निर्मल ईश्वर का ध्यान करे । नैर्मल्य और ईश्वरत्व से अतिरिक्त ध्येय गुण हैं– अनन्तता अर्थात् विनाशराहित्य । शुद्धि अर्थात् दुःखादि दोषराहित्य । अव्यक्तता अर्थात् शब्दादि सब विशेषताओं से रहित होना । अचिन्त्यता अर्थात् मन-वाणी की अविषयता । शिवरूपता अर्तात् परमानंद होने से मंगलात्मकत्व । प्रशान्ति अर्थात् अविद्या से अस्पर्श । अमृतता अर्थात् काल से असंबन्ध । वेदयोनिता अर्थात् वेदके प्रति कारणता, इससे सबके प्रति कारणता भी समझ लेनी चाहिये । अदि-मध्य-अन्तरहितता अर्थात् जन्म आदि विकाररहितता । एकता अर्थात् अद्वितीयता । साक्षाद् अर्थात् अपने से अभिन्नता । विभुत्व अर्थात् व्यापकता । अरूपता आकाररहित । सच्चिदानन्दता । अद्भुतता अर्थात् लोकोत्तरता । पारमैश्वर्य । उमासहायत्व अर्थात् अपनी शक्ति की सहितता ।

---

१ अज्ञानस्य परत्वं कार्यापेक्षया । मूलाज्ञानस्य विनाशकाल इत्यर्थः । २ झ. °ज्ञाननाशतः स° । ३ झ. °तिसत्त° । ४ झ. °गुण्ठनः । इ° । ५ ङ. च. °दुभयभो° । ६ हृदयस्यानेवंविधत्वेपि तदेवमिति चिन्तयेदित्यर्थः । पूर्वं हृदयमेवमिति ध्यायेत् तत ईश्वरं ध्यायेदिति विज्ञेयम् । शनैःशनैश्च हृदयमेवंविधं कार्यमेव ।

शिवं प्रशान्तममृतं वेदयोनिं सुरर्षभाः । आदिमध्यान्तनिर्मुक्तमेकं साक्षाद्विभुं तथा ॥ १० ॥

अरूपं सच्चिदानन्दमद्भुतं परमेश्वरम् ।

उमासहायमोमर्थं प्रभुं साक्षात्त्रिलोचनम् ॥

नीलकण्ठं प्रशान्तस्तं[1] ध्यायेन्नित्यमतन्द्रितः ॥ ११ ॥

एवं ध्यानपरः साक्षान्मुनिर्ब्रह्माऽऽत्मविद्यया ॥ १२ ॥

भूतयोनिं समस्तस्य साक्षिणं तमसः परम् ।

गच्छत्येव न संदेहः सत्यमुक्तं मया सुराः ॥ १३ ॥

योऽयं ध्येयश्च विज्ञेयः शिवः संसारमोचकः ।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥ १४ ॥

परानन्दरूपतया **शिवं** मङ्गलात्मकम् । संसारसंस्पर्शविरहान्निस्तरङ्गसमुद्रवत्**प्रशान्तम्** । **अमृतम**मृतत्वसाधनभूतम् । **वेदयोनि**मिति श्रुतिगतब्रह्मपदस्य व्याख्यानम् । **आदिमध्यान्तनिर्मुक्तमा**दौ मध्ये चान्ते चावस्थितेन वस्त्वन्तरेण परिच्छेदकेन विनिर्मुक्तम् । **एकम**द्वितीयम् । **विभुं** सर्वव्यापकम् ॥ १० ॥ **अरूपं** लौकिकाकाररहितम् । एवं ताटस्थ्येन प्रतिपादितस्य स्वरूपप्रतिपादनं **सच्चिदानन्द**मिति । **उमासहाय**मिति स्वशक्त्या सहितम् । सा हि परशिवस्य स्वरूपानतिरेकिणीति प्राक्प्रतिपादितम् । अत **एवोमर्थं** प्रणवप्रतिपाद्यम् । शिवशक्तिवाचकस्य सोऽहमिति परमात्ममन्त्रस्य सकारहकारयोर्लोपे सति प्रणवस्योत्पन्नत्वात् उक्तं ह्याचार्यैः :– "सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत् । संधिं वै पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्" ॥ इति । एवं निष्कलं रूपमभिधाय ध्येयत्वे लीलाविग्रहमुपदिशति–**त्रिलोचन**मिति ॥ ११ ॥ **एवं ध्यानपर** इति । उक्तविधं परशिवस्वरूपं स्वकीयहृदयाम्बुजे ध्यायन्नात्मनस्तद्रूपत्वसाक्षात्कारेण वियदादिभूतभौतिकस्य सर्वस्य जगतः कारणं तस्य सर्वस्य साक्षिणं **तमसो** मायायाः **परमे**वंविधं परशिवस्वरूपं प्राप्नोति ॥ १२ ॥ १३ ॥ तस्य ज्ञेयत्वेनोपदिष्टस्य परशिवस्वरूपस्योक्तमद्वितीयत्वं सार्वात्म्येन प्रतिपादयति–**योऽय**मिति । ब्रह्मादिदेवतारूपेण परशिव एव तत्तदुपाधिना व्यपदिश्यते । अतोऽस्मात्ते[2] न पृथग्भूताः । **स** तथाविधः परशिवो**ऽक्षरो** नाशरहितः । ब्रह्मेन्द्रादीनामपि कारणत्वा**त्परमः** । **स्वराट्** स्वयमेव राजमानः स्वतन्त्रः अन्ये तु तत्पारतन्त्र्यान्न स्वराजः ॥ १४ ॥

ओमर्थता अर्थात् प्रणवप्रतिपाद्यता । (यह तो निष्कल ध्यान है । इसमें असमर्थ के लिये संक्षेप में सकल ध्यान बताते हैं–) तीन नेत्रों वाले, नीले कण्ठ वाले तथा परम शान्त स्थिति वाले महादेव का जागरूकता पूर्वक ध्यान करना चाहिये ॥९–११ ॥ तत्परता से यों ध्यान करने वाला मुनि आत्मज्ञान द्वारा उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है जो सब भूतों का कारण है, सबका साक्षी है, और अज्ञान से परे है ॥ १२–१३ ॥ संसार-बंधन से छुड़ाने वाले जो ये ध्येय और ज्ञेय शिव हैं वे ही ब्रह्मा हैं, शिव हैं, इंद्र है, अनश्वर हैं, सबसे परे हैं, सर्वथा स्वतन्त्र हैं । वे ही विष्णु, प्राण, काल, अग्नि और चंद्रमा हैं । अधिक क्या कहें ? दुनियाँ में जो कुछ हुआ है और जो कुछ होना है वह सब ये महादेव ही हैं ।

१ ङ. °न्तस्तु ध्या° । २ घ. ङ. °त्तेऽपृ° ।

स एव[1] विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ।
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं समासतः ॥ १५ ॥
स एव विद्याऽविद्या च न ततोऽन्यत्तु किंचन ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ १६ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि । संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥ १७ ॥
आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनादेव पापान्दहति[2] पण्डितः ॥ १८ ॥
स एव भगवानीशो माययैवाऽऽत्मभूतया
मुह्यमान इव स्थित्वा स्वस्वातन्त्र्यबलेन तु ॥ १९ ॥

किं बहुना ? द्विविधं सर्वं जगद्भूतमतीतकालावच्छिन्नं भव्यमागामिकालावच्छिन्नं, तदुभयमपि तत्स्वरूपानतिरिक्तम् ॥ १५ ॥ एवं परशिवस्वरूपव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यभावादात्मनस्तद्रूपत्वज्ञानमेव मुक्त्युपाय इति दर्शयति–**ज्ञात्वेति** । **मृत्युं** मरणजननादिलक्षणं संसारम् ॥ १६ ॥ **सर्वभूतस्थमिति** । भूतभौतिकप्रपञ्चस्य प्रतिभासावस्थायामपि तत्र सर्वत्र कारणत्वेनावस्थितमात्मानं पश्यति । **आत्मनि** च कार्यतयाऽध्यस्तानि तानि सर्वाणि भूतानि पश्यति । एवं सार्वात्म्यं पश्यन्ननेनैव ज्ञानेन तदद्वितीयं परं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ नन्वीदृग्विधा ज्ञानोत्पत्तिः प्रतिबन्धकपापबाहुल्यान्न संभवतीत्याशङ्क्य तन्निवृत्त्युपायमाह–**आत्मानमिति** । उक्तार्थमेतत्पूर्वस्मिन्नध्याये । ब्रह्मध्यानस्य पापक्षयहेतुत्वं स्मृतावपि प्रसिद्धम्–"उपपातकपूर्वेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत्" ॥ इति ॥ १८ ॥

(स्पष्टतः यहाँ शिव की सर्वदेवरूपता प्रतिपादित है । वैदिकों का यही निश्चय है कि एक महादेव ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, वरुण आदि सब रूपों में पूजनीय हैं । 'येप्यन्यदेवताभक्ताः' (९.२३) आदि गीता भी यही व्यक्त करती है । अतः वेद को छोड़ आगमादि के अनुसर्ता वैष्णवंमन्यों का देवभेदवाद अत्यन्त निकृष्ट और अनादरणीय है ।) ॥ १४ ॥ महेश्वर ही विद्या अविद्या दोनों हैं । उनसे अन्य कुछ नहीं है । उन्हें जानकर मरणप्रवाह से निकला जा सकता है । उनके ज्ञान से अतिरिक्त और कोई उपाय मोक्ष का नहीं है ॥ १६ ॥ सब भूतों में स्थित अपने को और अपने में स्थित सब भूतों को समझ कर ही परम पद मिलता है, अन्य तरीके से नहीं ॥ १७ ॥ हृदय को अधरारणि और प्रणव को उत्तरारणि बनाकर बार-बार ध्यान करना रूप मंथन से ही जानकार व्यक्ति पापों को क्षीण करता है । (पूर्वत्र (७.३८) भी यह ध्यान स्पष्ट किया गया है । यहाँ यह विशेषता है कि इससे चित्तशुद्धि भी फल कहा है ।) ॥ १८ ॥ वह शासक भगवान् ही अपने से भिन्न न रहने वाली माया से मानो मोहित हो तथा अपने जगत्कर्तृभाव के स्वातन्त्र्य के बल से इस–अस्मदादि के दृश्यमान–शरीर में प्रविष्ट हो सब कर्मादि करता है । निज माया (अज्ञान) से ही जाग्रत् नामक स्थान (अवस्था) की कल्पना कर हर ही उसमें केवल क्रीडा करते हुए रहता है जैसे

---

१ श्रौता एवं वदन्ति सएव विष्णुरिति । पाञ्चरात्रिकास्तु विष्णुरेव स इति । तन्मतं श्रुत्याऽनादृतत्त्वादुपेक्ष्यमिति । २ घ. पाशान्द" ।

शरीरमिदमास्थाय[1] करोति सकलं पुनः । जाग्रत्संज्ञमिदं धाम प्रकल्प्य स्वीयमायया ॥ २० ॥

राजपुत्रादिवत्तस्मिन्क्रीडया केवलं हरः । अन्नपानादिभिः स्त्रीभिस्तृप्तिमेति सुरर्षभाः ॥ २१ ॥

स्वप्नकाले तथा शंभुर्जीवत्वेन[2] प्रकाशितः । सुखदुःखादिकान्भोगान्भुङ्क्ते स्वेनैव निर्मितान् ॥ २२ ॥

सुषुप्तिकाले सकले विलीने[3] तमसाऽऽवृतः । स्वस्वरूपमहानन्दं भुङ्क्ते दृश्यविवर्जितः ॥ २३ ॥

पुनः पूर्वक्रियायोगाज्जीवत्वेन[4] प्रकाशितः । जाग्रत्संज्ञमिदं धाम याति स्वप्नमथापि वा ॥ २४ ॥

जाग्रदाद्यवस्थासु सुखदुःखोपभोक्ता संसारी जीवः । ईश्वरस्तु न तथाविध इति कथमनयोरेकत्वमित्यत आह–स एवेति । **मुह्यमान इवेति** । न तु परमार्थतस्तस्य मोहः संभवतीतीवशब्दार्थः ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ **सकले विलीन** इति । स्वप्नावस्थायां हि वाह्येन्द्रियेषूपरतेष्वपि तत्तत्स्वाप्नपदार्थाकारेण परिणममानमन्तःकरणमस्ति, तदपि सुषुप्तिकाले विलीयते । अतः सर्वस्मिन्करणग्रामे विलीने सति भावरूपाज्ञानरूपेण **तमसाऽऽवृतः** सन्स्वस्वरूपभूतमानन्दं भुङ्क्ते साक्षात्करोति । अत एव हि स्वापोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शः ॥ २३ ॥ २४ ॥

राजकुमार (बिना किसी विशेष प्रयोजन के क्रीडा किया करते हैं।) अन्न, पान, स्त्री आदि भोगों से जाग्रत् काल में श्रीहर ही तृप्ति पाया करते हैं ॥ १९–२१ ॥ इसी तरह शंभु स्वप्नकाल में जीवरूप से प्रतीत हो खुद के द्वारा निर्मित सुख दुःख आदि सब भोगों को भोग लेते हैं ॥ २२ ॥ सुषुप्तिकाल में अन्य सबके साथ मन भी विलीन हो जाता है, एक अज्ञान ही बचता है। उस वाले हुए शिव विषयतारहित स्वरूपभूत महान् आनंद का भोग करते हैं ॥ २३ ॥ फिर पूर्वकृत कर्मों के फलोन्मुख होनेपर वे ही जीव रूप से जाग्रत् या स्वप्न नामक स्थान पर पहुँचते हैं ॥ २४ ॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति–ये तीनों पुर (स्थान, अवस्था) आत्मा के भोग के लिये ही ऐश्वर माया से निर्मित हैं। इस आत्मा का भोग भी केवल क्रीडा है, इसके दुःख का कारण कभी नहीं बनता। (आत्मा को दुःख नहीं होता। दुःख होता है आत्माभास को। जैसे सूर्य में कम्पन नहीं होता, सूर्याभास–सूर्यप्रतिबिंब में–कम्पन होता है। 'विशिष्टं शुद्धादतिरिच्यते' न्याय से, उपाधि से स्वयं को अभिन्न समझने वाला आत्मा ही आत्माभास है जिसे आत्मा से भिन्न वैसे ही कह सकते हैं जैसे सूर्याभास को सूर्य से भिन्न कह सकते हैं। उसमें–आत्माभास में दुःख होता है, आत्मा में नहीं। आत्मा का भोग तो साक्षित्व ही है जिसके लिये पुरत्रय का निर्माण कहा है। साक्षी को दुःखादि होता नहीं। प्रश्न होता है कि भोग तो कर्मफल है। कर्म साक्षी के हैं नहीं, आत्माभास के हैं। तव

---

१ अहं मनुष्य इत्याद्यभिमानं समन्तात्स्वीकृत्येयर्थः । २ अयमंशो जाग्रत्पर्यायेपि वोध्यः । तत्र शरीरमास्थायेत्यनेनोक्तत्वात्तत्रैवमनुक्तम् । स्वप्ने देहाध्यासस्याव्यक्तत्वेऽपि प्राणधारणस्य व्यक्तत्वात् स्वप्नपर्याये जीवोक्तिरिति द्रष्टव्यम् । ३ दृष्टिसृष्टिनये समस्तवस्तूनां विलय एव । वादान्तरे ज्ञानांशस्यैव लय इति विवरणउक्तम् 'प्राणलक्षणक्रियाशक्त्यंशं वा विहाय विज्ञानशक्त्यंशस्य लयः कल्प्यताम्; सांशत्वादन्तःकरणस्य । स्वप्नादिवद् दृष्टिसृष्टिमाश्रित्य वा सुषुप्तपुरुषदृष्ट्यभिप्रायेति सर्वस्य तत्र लयो दर्शितः । सुषुप्तप्राणशरीरादिदर्शनस्य पुरुषान्तरस्य विभ्रमत्वादिति ।' (पृ. ३२९ कल.) । ४ सुषुप्तौ मनोलयान्मनसो जीवोपाधित्वात्सत्सम्पत्तिश्रवणात्र सुषुप्तौ जीवभावः । न चैवमवस्थात्रयभोक्तृचिज्जीव इति मतभंग इति वाच्यं यतो जीव एव ब्रह्मतया तदाऽऽस्तइत्यंगीकारात्स्वदस्थावत्त्वोपपत्तेः अत्र चैकत्वजीवादोनुसर्यते ! 'अशनायापिपासादिमद् ब्रह्म गम्यमानमपी' त्यादिना कहोलप्रश्नगतभाष्येण (पृ. २५२) प्रक्रियेयमाश्रितेति द्रष्टव्यम् । अथवा सुषुप्तेऽपि जीवस्तिष्ठति । अविद्यैव जीवोपाधिस्तस्याश्च तत्र सत्त्वात् । अत एव सुखरूपमासमिति न स्मर्यते किंतु भेदेनैव सुखमभुञ्जीति । अतएव माण्डूक्य आनन्दमयो नानन्द एव किंत्वानंदप्राय, आयासदुःखाभावात् । 'अत्यंतानायासरूपा हीयं स्थितिस्तेनानुभूयत इत्यानन्दभुगिति तत्र भाष्यम् । एवं 'क्वैष तदाभूदि'ति काश्योपदेश एव इतिशब्दितस्य जीवस्य तदा स्थितिरेव गम्यत इति दिक् ।

पुरत्रयमिदं पुंसो भोगायैव विनिर्मितम् ।
भोगश्चास्य सदा क्रीडा न दुःखाय कदाचन ॥ २५ ॥
विश्वाधिको महानन्दः स्वतन्त्रो निरुपद्रवः ।
असक्तः सर्वदोषैश्च कथं दुःखी भवेद्धरः[1] ॥ २६ ॥
स न जीवः शिवादन्यो यो भुङ्क्ते कर्मणां फलम् ।
भेदाभावाच्चितश्चेत्यं न कर्मफलमर्हति ॥ २७ ॥

पुरत्रयमिदिमिति । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यं स्थानत्रयं पुरुषस्य **भोगायैव** परमेश्वरमायया **विनिर्मितमि**त्यर्थः । नन्वीश्वर एव चेज्जीवस्वरूपेणावस्थितस्तस्य च भोगो न युज्यते "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इतिश्रुतेरित्यत आह—**भोगश्चास्ये**ति । स्वर्गनरकादिसकलदुःखोपभोगोऽप्यस्य क्रीडा, न दुःखहेतुः ॥ २५ ॥ कुत इत्यत आह—**विश्वाधिक** इति । यस्मादसौ विश्वस्मादपि जगतोऽधिकस्तदारोपबाधयोरधिष्ठानावधित्वेनावस्थानात्ततश्चावास्तवो भोगोऽस्य न दुःखहेतुः । किंचायं **महानन्दः** । अस्य लेशभागोऽन्यानि सुखानि । इतोऽपि वैषयिकसुखोपभोगो लीलामात्रमित्यर्थः । **स्वतन्त्रो निरुपद्रव** इति । पारतन्त्र्यादिकं हि दुःखहेतुः । अयं तदभावात्कथं दुःखी भवेदित्यर्थः ॥ २६ ॥ नन्वेवमीश्वर एवं भवतु । जीवस्तु तत्परतन्त्र इति तस्य वास्तव एव भोगः किं न स्यादित्यत आह—**स न जीव** इति । जीवेश्वरयोर्वास्तवभेदो नास्ति उभयत्रावस्थितस्य चिन्मात्ररूपस्य भेदाभावस्य प्रागेव प्रतिपादितत्वात् । किंच **चेत्यं** हि **कर्मफलम्** । तदपि चित्स्वरूपेऽध्यस्तत्वेन मिथ्याभूतम् । अतः कथं तद्विषयोपभोगश्चिद्रूपस्याऽऽत्मनो वास्तवः स्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥

साक्षी के भोग के लिये सृष्टि कैसे ? इस व अन्य ऐसे अनेक प्रश्नों की संभावना से ही परमाचार्यों ने इन पक्षों को कि सृष्टि भोग के लिये है या क्रीडा के लिये है, सदोष ठहराया है । सृष्टि का और कोई नहीं अज्ञान ही प्रयोजक है । इस विषय में माण्डूक्यकारिका (१.८,९), भाष्य व आनंदगिरि टीका का अनुसंधान कर लेना चाहिये । जो तो सृष्टि की क्रीडात्मकता कही जाती है उसका तात्पर्य प्रयोजनाभाव में ही है, क्रीडा या अरतिनिवृत्ति रूप प्रयोजन बताने में नहीं । यह 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (२.१.३३) के भाष्य में स्पष्ट है । वहाँ आचार्य ने कहा है 'यदि नाम लोके लीलास्वपि किंचित् सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत तथापि नैवात्र किंचित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यत आप्तकामत्वश्रुतेः ।' इस सब अभिप्राय को प्रकृत पुराण में भी जान लेना चाहिये : 'पुंसो भोगाय' से कर्मसापेक्षता प्राप्त होने पर उसके निषेधार्थ ही 'भोगः क्रीडा' कहा है । इसी की व्याख्या की है 'न दुःखाय' । अर्थात् क्रीडार्थ है का तात्पर्य है कि दुःखोपलक्षित किसी प्रयोजन के लिये नहीं है । निष्प्रयोजनता में यदि हेतुजिज्ञासा हो तो 'न कदाचन' इनका तन्त्रेण उच्चारण समझना चाहिये । क्योंकि मे तीन पुर कभी हैं ही नहीं इसलिये इनकी 'सृष्टि' निष्प्रयोजन—क्रीडार्थ—है । इससे मायामयता भी अर्थसिद्ध हो जाती है ।) ॥ २५ ॥ श्रीहर जो विश्व से अतीत हैं, महान् आनन्दरूप हैं, स्वतंत्र हैं, रोगादि उपद्रवों से अस्पृष्ट हैं तथा सभी दोषों से सम्बन्ध वाले नहीं, वे दुःखी हो कैसे सकते हैं ॥ २६ ॥ जो जीव कर्मों का फलभोग करता है वह शिव से अन्य नहीं है । क्योंकि चेतन

---

१ इ. भवेदयम् ।

अतः सर्वजगत्साक्षी चिद्रूपः परमेश्वरः । अद्वितीयो महानन्दः क्रीडया भोगमर्हति ॥ २८ ॥

धामत्रयमिदं शंभोर्न दुःखाय कदाचन । क्रीडारामतया भाति न चोद्यार्हो महेश्वरः ॥ २९ ॥

इदं धामत्रयं शंभोर्विभेदेन न विद्यते । शंभुरेव तथा भाति न ह्यन्यत्परमेश्वरात् ॥ ३० ॥

[1]जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यावस्थारूपेण भाति यः ।
स विश्वतैजसप्राज्ञसमाख्यः क्रमशो भवेत् ॥ ३१ ॥

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
प्राज्ञस्त्वानन्दभुक्[2] साक्षी केवलः सुखलक्षणः ॥ ३२ ॥

एवं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु जीवभावापन्नस्य परशिवस्य वास्तवभोगासंभवात्तत्तदवस्थानिर्माणं तत्तद्भोगश्च सर्वोऽपि लीलामात्रमिति निगमयति–अत इति ॥ २८ ॥ **क्रीडारामतयेति** । जाग्रदादिस्थानत्रयमीश्वरस्य केवलं क्रीडार्थमुद्यानम्। आप्तकामस्य तस्य तत्र प्रयोजनान्तरासंभवात् । अतो न तस्य भोगप्रसक्तिरिति न चोदनीयमित्यर्थः ॥ २९ ॥ नन्वेतत्स्थानत्रयं क्रीडारामतया विद्यते चेद् द्वैतापत्तिरित्यत आह–**इदमिति** ॥ ३० ॥ **स विश्वतैजसेति** । स्वस्मिन्परिकल्पितजाग्रदाद्यवस्थारूपसापेक्षभेदात्तत्तत्साक्ष्यविशेषघटितात्तत्साक्षिचिन्मात्ररूप आत्मा विश्वतैजसादिसंज्ञां क्रमेण लभत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तेषां स्वरूपविशेषमाह–**विश्वो हीति** । जाग्रदवस्थासाक्षी विश्वाख्य आत्मा **स्थूलभुक्** । पञ्चीकृतशब्दस्पर्शादिविषयः स्थूलः । यद्वा सर्वभोक्तृसाधारण्येनेश्वरमायया निर्मितो भोग्यप्रपञ्चः स्थूलस्तस्य भोक्ता । **तैजसस्तु** स्वप्नावस्थासाक्षी **प्रविविक्तभुक्** । प्रविविक्तं भोक्त्रन्तरात्प्रकर्षेण विविक्तं स्वाविद्यापरिकल्पितमसाधारणमेव विषयजातं भुङ्क्ते । **प्राज्ञः** सुषुप्त्यवस्थासाक्षी सविषयस्येन्द्रियवर्गस्यान्तःकरणेन सार्धं स्वकारणभूतेऽज्ञाने विलयाद्विक्षेपाभावेन स्वरूपभूतमानन्दं भुङ्क्ते । एवमवस्थासंबन्धकृत एवास्य[4] भोगः । स्वरूपतस्तु परानन्दरूपः **केवलः साक्षी** चिन्मात्ररूपः ॥ ३२ ॥

में कोई भेद है नहीं इसलिये जीव को शिवेतर समझ नहीं सकते । (फलभोग इतरता का प्रयोजक क्यों न हो ? इसका समाधान है–) चेत्य, दृश्य, कर्मफल वस्तुतः चेतन जीव से सम्बद्ध हो नहीं सकता । (अतः जीव कर्मफल का भोक्ता है नहीं कि तत्प्रयुक्त भेद हो । मिथ्या भोग से मिथ्या भेद ही माना जा सकता है । मिथ्या भेद का मतलब ही है कि भेद नहीं है ।) ॥ २७ ॥ इसलिये सारे जगत् के साक्षी चेतनात्मा अद्वितीय परमानन्द रूप परमेश्वर क्रीडा (माया) से ही भोग कर सकते हैं ॥ २८ ॥ जाग्रदादि तीनों स्थान–अर्थात् संसारमात्र–कभी भी शंभु के दुःख के हेतु नहीं होते । खेल के बगीचे की तरह ये स्थान (विचार दृष्टि से) प्रतीत होते हैं । अतः ये प्रश्न नहीं किये जा सकते कि प्रभु ने दुःखमय संसार क्यों बनाया, मरणादि का नैरन्तर्य क्यों नियमित किया, उच्च-नीच की सृष्टि क्यों की, इत्यादि । (खेल में किसी को 'चोर' बनाते हैं । वह बेचारा भागता फिरता है । उसका स्पर्श हो जाये तो अन्य व्यक्ति 'चोर' बन जाता है । इस सब के लिये कोई प्रश्न उठता है ? किसी को दोष दे सकते हैं ? ऐसे ही सृष्टि के लिये

---

१ माण्डूक्यप्रक्रियामवलम्ब्याह–जाग्रदिति । २ अनावृतचिद्भोगः । सुषुप्तौ सुखांशाभिव्यक्तिप्रतिबन्धकदुःखस्याभावादात्मनः सुखांशस्यानावृतत्त्वात्तदा सुखभोग इत्युक्तम् । छ. प्राज्ञः स्वान° । ४ आत्मनइत्यर्थः ।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
उभयं ब्रह्म यो वेद स भुञ्जानो न लिप्यते ॥ ३३ ॥
अश्वमेधसहस्राणि ब्रह्महत्याशतानि च । कुर्वन्नपि न लिप्येत[1] यद्येकत्वं प्रपश्यति ॥ ३४ ॥
जीवरूप इव स्थित्वा यः क्रीडति पुरत्रये ।
स न जीवः सदा शंभुः सत्यमेव न संशयः ॥ ३५ ॥
ततस्तु जातं सकलं विचित्रं सत्यवत्सुराः ।
स सत्योऽसत्यसाक्षित्वात्साक्षित्वाच्चित्सुखं तथा ॥ ३६ ॥
प्रेमास्पदत्वादद्वैतो भेदाभावात्सुरर्षभाः । तस्मिन्नेव लयं याति पुरत्रयमिदं ततः ॥ ३७ ॥
न जीवो जीववद्भाति साक्षाद् ब्रह्मैव केवलम् । अज्ञानाज्जीवरूपेण भासते न स्वभावतः ॥ ३८ ॥

त्रिषु धामस्विति । जाग्रदादिस्थानत्रयेऽपि भोग्यप्रपञ्चस्य निरुपाधिकपरशिवरूपेऽध्यस्तत्वेन मिथ्यात्वाद्भोक्तुश्चोपाध्यपगमे सति तदनन्यत्वाद्भोक्तृभोग्यात्मकमुभयमपि ब्रह्मैवेति विजानतो भोगजनितपुण्यपापकृतलेपो न भवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ एतदेव विवृणोति–**अश्वमेधेति** ॥ ३४ ॥ एवमेकत्वज्ञानस्य फलमुक्त्वा तदेकत्वमुपपादयति–**जीवरूप इवेति** । ईश्वर एव क्रीडाव्याजेन जीवरूपेणावस्थितो न तु जीवस्ततोऽन्य इति ॥ ३५ ॥ प्रतिज्ञातमर्थं साधयति–**ततस्तु जातमिति** । यदद्वितीयं ब्रह्म **ततस्**तस्मादेव भोक्तृभोग्यात्मकं विचित्रमिदं सर्वं जगन्मायावशात्सत्यवदुत्पन्नं न तु परमार्थतः सत्यम् । चिन्मात्ररूप[2]स्य[3] स्वात्मनो ब्रह्मलक्षणयोगात्तदेकत्वं वक्तुं सच्चित्सुखात्मतां प्रतिपादयति–**स सत्य** इति । असत्यस्य सर्वस्य दृश्यत्वनियमात्तत्साक्षी दृग्रूप आत्मा **सत्य** एवैष्टव्यः । अत एव जडप्रपञ्च**साक्षित्वाच्चि**द्रूपः । परप्रेमास्पदत्वात्सुख[4]रूपः । प्रागुक्तरीत्या क्वचिदपि भेदस्य दुर्निरूपत्वेन स्वरूपलाभाभावाद**द्वैतः** । एवं सच्चिदानन्दरूपो यः साक्षी **तस्मिन्नेव** जाग्रदाद्यवस्थात्रयं लीयते । यस्मादवस्थात्रयसाक्ष्येवंरूपस्तस्मादसौ **न जीवः** । किंतूपाधिवशाज्जीववदवभासमानः स निरस्तसमस्तोपाधिकत्वेन **ब्रह्मैव** । कस्तर्हि जीववद्भान उपाधिरित्यत आह–**अज्ञानादिति** ॥ ३६–३८ ॥

न कोई प्रश्न है, न कोई दोष की संभावना ।) ॥ २९ ॥ ये तीनों अवस्थायें भी कोई शंभु से अलग नहीं । शंभु ही इन रूपों में भासते हैं । परमेश्वर से अन्य कहीं कभी कुछ नहीं है ॥ ३० ॥ वे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति नामक अवस्थाओं वाले रूपों में क्रमशः विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहलाते हैं ॥ ३१ ॥ विश्व स्थूल वस्तुओं का भोग करता है । तैजस वासनामय वस्तुओं का भोग करता है । प्राज्ञ आनंद का भोग करता है ।स्वरूपतः तो शंभु केवल सुखात्मक साक्षी है ॥ ३२ ॥ तीनों ही अवस्थाओं में जो भोग्य और भोक्ता प्रसिद्ध हैं, उन दोनों को जो ब्रह्म ही समझता है वह भोग करते हुए भी भोग से पुण्य या पाप वाला नहीं होता ॥ ३३ ॥ यदि अद्वैत दर्शन हो गया तो हज़ारों अश्वमेध करे या सैकड़ों ब्रह्म हत्यायें करे, उसे न कोई पुण्य होता है न पाप ॥ ३४ ॥ जो मानो जीवरूप ग्रहण कर तीनों अवस्थाओं में क्रीडा करता है वह जीव है नहीं, वह सदा–क्रीडा करता प्रतीत होते हुए भी–शंभु

१ अन्यत्रापि श्रूयते–'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्' इति (बृ.४.४.२३) । ब्राह्मणस्येति त्यक्तसर्वैषणस्य ब्रह्मविद इत्यर्थः । २ छ °पस्याऽऽत्म° । ३ घ. ङ. च. °स्य त्वात्म° । ४ घ. °खदुःखरू° ।

ब्रह्मणो जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च भूमिर्विश्वस्य धारिणी ॥ ३९ ॥
यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्याऽऽयतनं महत् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतमं नित्यं तत्त्वंशब्दार्थ एव हि ॥ ४० ॥
यस्त्वंशब्दस्य लक्ष्यार्थः स तच्छब्दार्थ एव हि ।
तत्त्वंशब्दौ स्वतःसिद्धे चिन्मात्रे पर्यवस्यतः ॥ ४१ ॥

एवं जीवस्य सच्चिदानन्दाद्वितीयत्वलक्षणं स्वरूपं प्रतिपाद्य ब्रह्मणोऽपि तटस्थलक्षणतया तत्प्रतिपादयति–**ब्रह्मणो जायत** इत्यादिना ॥ ३९ ॥ **सूक्ष्मात्सूक्ष्मतमम्**मिति । सूक्ष्ममपञ्चीकृतं वियदादिकं ततोऽपि सूक्ष्ममव्याकृतं तस्मादपि सूक्ष्मं यज्जगत्कारणं[1] ब्रह्म । तदेव जीववाचिनस्त्वंशब्दस्यार्थः ॥ ४० ॥ जगत्कारणवाचिनस्तच्छब्दस्य देहाद्युपाधिविशिष्टात्मवाचिनस्त्वंशब्दस्य च विरुद्धांशत्यागेनोभयत्रानुगतचिन्मात्ररूपेणैकत्वप्रतिपादनपरत्वं पञ्चमेऽध्याये प्रपञ्चितं "त्वमहंशब्दवाच्यार्थस्यैव" इत्यादिना । तदेतत्सिद्धवत्कृत्योच्यते–**चिन्मात्रे पर्यवस्यत** इति ॥ ४१ ॥

ही है । यह निश्चित सत्य है, इसमें संदेह नहीं ॥ ३५ ॥ उसी शंभु से विचित्र प्रपंच पैदा हुआ है जो सब सत्य की तरह ही प्रतीत होता है । वह शंभु असत्यमात्र का साक्षी होने से उससे भिन्न अर्थात् सत्य है । और साक्षी होने से ही चेतन है (क्योंकि चेतन ही साक्षी–साक्षात् द्रष्टा–हो सकता है) । इसी तरह निरतिशय प्रेम का विषय होने से वह सुखरूप है । उसमें त्रिविध भेद न होने से वह अद्वैत है । (साक्ष्य मिथ्या होने से साक्ष्य-भेद भी मिथ्या अर्थात् आत्मवर्ती नहीं है जिससे अद्वैतहानि हो ।) उसी शंभु में तीनों अवस्थायें विलीन हो जाती हैं । (अनुगत में व्यावृत्त का अन्तर्भाव, विलय, एकायन प्रकिया में प्रसिद्ध होने से अवस्थाओं का साक्षी में विलय सहज समझा जा सकता है ।) क्योंकि आत्मा ऐसे स्वरूप वाला है इसलिये वह जीव नहीं है । स्वयं ब्रह्म ही जीव की तरह प्रतीत होता है । अज्ञानवश जीवरूप से परमशिव ही प्रतीत होता है । उसका अपना स्वरूप अपरिवर्त्य है ॥ ३६–३८ ॥ प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ तथा सारे महाभूत ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥ जो परब्रह्म सबका आत्मा है, सबका अन्तिम आधार है, सूक्ष्म महाभूतों से सूक्ष्म अव्यक्त की अपेक्षा भी सूक्ष्म है, नित्य है, वही ('तू वह है' इस महावाक्यस्थ) 'तू' शब्द का अर्थ है ॥ ४० ॥ 'तू' शब्द का जो लक्ष्य अर्थ है वही 'वह' शब्द का भी लक्ष्यार्थ है । (लक्षणा से) 'तू' और 'वह' शब्द स्वप्रकाश चैतन्य को ही सूचित करते हैं । ('तू वह है' सुनकर प्राथमिक बोध होता है कि कहा जा रहा है 'मैं वह हूँ' । तुरंत शंका उठती है कि 'वह' से तो परोक्षादिविशिष्ट कहा जाता है, मुझे कैसे 'वह' कह दिया ? वाक्य को उपपन्न करने के लिये श्रोता समझ जाता है कि अवश्य किसी वस्तु को बताया जा रहा है जो 'मैं' और 'वह' दोनों है । ऐसी वस्तु वही हो सकती है जिसमें 'मैं' और 'वह' कल्पित हों, क्योंकि वस्तुतः 'मैं' और 'वह' तो

---

१ झ. "णं त" । १ झ. "पोऽर्थो लक्षणया प्र" ।

यः पदद्वयलक्ष्यार्थस्तस्मिन्भेदः प्रकल्पितः । मायाविद्यात्मकोपाधिभेदेनैव[1] न वस्तुतः ॥ ४२ ॥

स्वतः सिद्वैकताऽज्ञानं व्युदस्य[2] श्रुतिरादरात् । स्वभावसिद्धमेकत्वं बोधयत्यधिकारिणः ॥ ४३ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चत्वेन भाति यत् । तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

यस्तु ब्रह्म विजानाति स्वात्मना सुदृढं नरः । तस्य स्वानुभवस्त्वेवं स्वभावादनुवर्तते ॥ ४५ ॥

यः पदद्वयलक्ष्यार्थ इति । तत्त्वमितिपदद्वयेन वाच्यगतं संसारित्वादिविरुद्धांशं परित्यज्य लक्षणया यश्चिन्मात्ररूपोऽर्थः प्रतिपादितः स एव पारमार्थिकः । तस्मिन्मायाविद्योपाधिवशाज्जीवेश्वरयोर्भेदः कल्पितः । विशुद्धसत्त्वप्रधाना स्वाश्रयाव्यामोहकरी मायेश्वरोपाधिः । मलिनसत्त्वप्रधाना स्वाश्रयव्यामोहकर्यविद्या जीवोपाधिः । अतस्तयोस्तद्वशादेव भेदो न वास्तव इत्यर्थः ॥ ४२ ॥ **एकताज्ञानमिति** । स्वतःसिद्धं यदेकत्वं तस्याऽऽच्छादकमज्ञानमित्यर्थः । **श्रुतिरादरादिति** । सा श्रुतिरेषा– "सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्" इति । अस्य श्रुतिवाक्यस्य निष्पन्नमर्थमनुवदति–**जाग्रदिति** । जाग्रदाद्यवस्थारूपेण प्राणमनःप्रभृतिप्रपञ्चरूपेण च यद् ब्रह्म पारोक्ष्येण भाति तदेव त्वमहंशब्दलक्ष्यमापरोक्ष्येण भासमानं प्रत्यक्चैतन्यमिति वाक्यार्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कोई एक वस्तु हो ही नहीं सकती । अतः 'तू' और 'वह' शब्द का अभीप्सित अर्थ वही वस्तु है । उसे ही लक्ष्य अर्थ कहते हैं । 'तू' और 'वह' के जिन अर्थों को समझने पर विरोध प्रतीत हुआ था उन अर्थों को वाच्य अर्थ कहते हैं । इस सम्बन्ध में संक्षेप शारीरक का संक्षेपाभिधान (१.१९६) स्मर्तव्य है ।) ॥ ४१ ॥ दोनों शब्दों का जो एक लक्ष्य अर्थ है उसी में सारा भेद प्रपंच कल्पित है । अविद्यात्मक मायारूप उपाधि के कारण भेद-इस रूप से सारा भेद कल्पित है । (अथवा, माया और अविद्या इन उपाधियों के भेद के कारण ईश्वर और जीव यह भेद कल्पित है । इस अर्थ में याद रखना चाहिये कि वेदान्त में बहुत्र यों माया और अविद्या का भेदेन व्यवहार होने पर भी कहीं भी यह तात्पर्य नहीं कि ये तत्त्वान्तर हैं । एक ही अज्ञान की ये विभिन्न अवस्थायें या विभिन्न शक्तियों वाले रूप या व्यापक और परिच्छिन्न रूप हैं । तत्त्वांतर मानते ही द्वैतापत्ति आ जायेगी । दोनों को मिथ्या मानने का अर्थ ही है दोनों को अज्ञानमय मानना । अतः 'मायाऽविद्याभेदवादी' यद्यपि कुछेक प्रक्रिया मानने वाले कहे जाते हैं तथाऽपि वह इन्हें तत्त्वांतर मानने से नहीं ।) ॥ ४२ ॥ एकता का अज्ञान अनादि है, स्वाभाविक है । श्रुति तत्परता से उसे हटाने के लिये वस्तुतः स्वतया–'स्व' इस रूप से–नित्य सिद्ध एकता बोध अधिकारी को कराती है ॥ ४३ ॥ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि प्रपंच रूप से जो प्रतीत हो रहा है वह ब्रह्म मैं हूँ यह जानकर व्यक्ति सब बंधनों से छूट जाता है ॥ ४४ ॥ जो निजरूप से ब्रह्म को पक्का जान लेता है उसका यह स्वाभाविक अनुभव बना रहता है–तीनों अवस्थाओं के भोक्ता, भोग्य, भोग और उनसे पृथक् उनका साक्षी–सब चैतन्यरूप मैं सदाशिव ही हूँ । मुझ ही में सब उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही स्थिति है, मुझमें ही विलीन होता है । वह अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ । छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा मैं ही हूँ । मैं व्यापक, विशुद्ध

---

१ मायैवाविद्या सात्मा यस्योपाधेः स मायाविद्यात्मकोपाधिः तत्कृतो भेदः तेन रूपेण भेदः प्रकल्पित औपाधिको भेदइत्यर्थः । यद्वा, एकोप्युपाधि र्द्विविधो द्विविधकार्यदर्शनात् । सर्वथापि मायाविद्ययो र्भेदो नाभ्युपेय इतिदिक् । २ व्युदस्य ज्ञातुमिति शेषः । यद्वा 'तत्त्वमेवे'ति व्युदस्य 'त्वमेव तद्' इति बोधयति । व्यतिहाराधिकरणे (३.३.२३.३७) ह्येवं विधवाक्यानां सार्थकत्वं प्रपंचितम् ।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यस्तथा ।

तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥ ४६ ॥

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥ ४७ ॥

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विशुद्धः[1] ॥

पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥ ४८ ॥

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुश्च शृणोम्यकर्णः ।

अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम् ॥ ४९ ॥

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदा[2]न्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धयश्च ॥ ५० ॥

एवं ब्रह्मात्मैकत्वविदुषो जीवन्मुक्तस्यानुसंधानप्रकारमाह-त्रिष्वित्यादिना ॥ ४६-४८ ॥

प्राचीन, पुरुष (सर्व-पाप-दाहक), ईश, हिरण्मय (ज्ञानप्रचुर या सब कार्य-करणों का आत्मा सूर्यस्थित पुरुष), तथा मंगलस्वरूप ब्रह्म हूँ। हाथ-पैर से रहित किंतु अचिन्त्य सामर्थ्य वाला मैं हूँ । बिना आँख कान के ही मैं देख सुन लेता हूँ । बुद्धि आदि से पृथक् रूप वाला मैं इस विविध प्रपंच को जानता हूँ । मुझे जानने वाला कोई नहीं । मैं सदा चेतन हूँ । अनेक वेदों द्वारा मुझे समझा जा सकता है । वेदान्तशास्त्र का रचयिता (और प्रलय में वेदों को भी विलीन कर देने वाला) मैं ही हूँ। मुझे पुण्य-पाप नहीं लगते । मेरा नाश असंभव है । जन्म, शरीर, इंद्रियाँ, बुद्धि–इनका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं । पृथ्वी आदि महाभूतों से मैं असंबद्ध हूँ । मैं ही सदा 'मैं मैं' इस तरह स्फुरित होता रहता हूँ और अपने स्वाभाविक अज्ञान से मैं ही 'यह' इस रूप से भी भासता रहता हूँ । (अविवेकी इन दोनों का भेद न कर 'मैं यह' 'मैं देवदत्त', 'मैं खड़ा', 'मैं श्रोता' आदि एक ही अनुभव समझते हैं । वही अहंकार है ।) इसमें 'मैं' यह आत्मतया आत्मस्फुरण है और देवदत्तादि 'यह' रूप से उसीका स्फुरण है । स्फुरण दोनों उसी के भले ही हों, हैं दो, यों ही उन्हें समझने का अभ्यास करना चाहिये । इन्हें अन्यत्र 'अहमात्मा', 'इदमात्मा' और 'अहमिदमात्मा' कहा है ।) अज्ञात, ज्ञात, ज्ञान और अज्ञान रूप से मैं ही भासता हूँ । अतः मैं ही पुरातन देव हूँ ॥ ४५-५२ ॥ हृदय गुफा में स्थित निष्कल अद्वितीय परमात्मा के स्वरूप को यों समझ कर सबका भानरूप, सद्-असद्-विरहित, शुद्ध परमात्मरूपता की प्राप्ति होती है । ॥ ५३ ॥ अतः मोक्षेच्छुओं को चाहिये कि प्रतिदिन वेदान्त वचनों द्वारा सर्वनेता महादेव का गुरुप्रोक्त ढंग से और युक्तियों

---

१ ध. छ. विचित्रम् । २ वेदान्तशास्त्रस्य कर्ता व्यासोप्यहमित्यर्थः ।

न भूमिरापो मम नैव वह्निर्नचानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च ।
सदाऽहमेवाहमिति स्फुरामि स्वभावतश्चेदमिति स्फुरामि ॥ ५१ ॥
अभातरूपेण तथैव सर्वदा विभातरूपेण च भानरूपतः ।
अभानरूपेण[1] च सर्वरूपतः स्फुरामि देवोऽहमतः पुरातनः ॥ ५२ ॥
एवं विदित्वां परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ।
समस्तभानं सदसद्विहीनं[2] प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥ ५३ ॥
अतश्च वेदान्तवचोभिरञ्जसा मुमुक्षुभिर्नित्यमशेषनायकः ।
गुरूपदेशेन च तर्कतस्तथा विचिन्तनीयश्च विशेषतः शिवः ॥ ५४ ॥
कैवल्योपनिषत्परा परकृपायुक्ता यदुच्चैर्मुदा प्रोवाच प्रथितौजसैरपि हरिब्रह्मादिभिश्चाऽऽदृतम् ।
हे देवा अहमुक्तवानतिशुभब्रह्मापरोक्षाय तत्सर्वेषामधिकारिणां मतमिदं वित्तातिभक्त्या सह ॥ ५५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु
कैवल्योपनिषद्विवरणे तत्त्ववेदनविधिर्नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच[3]— प्रत्यग्रूपः शिवः साक्षात्परानन्दस्वलक्षणः । परप्रेमास्पदत्वेन प्रतीतत्वात्सुरर्षभाः ।
परप्रेमास्पदानन्दः सुरा आनन्द एव हि ॥ १ ॥

न चास्ति वेत्तेति । अन्यो वेदिता मम नैवास्ति । अहमेव सर्वदा चिद्रूपः सर्वस्य वेदितेत्यर्थः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ईदृग्विधानुसंधानस्य फलमाह—एवमिति ॥ ५३ ॥ प्रतिपादितमर्थं निगमयति—अत इति ॥ ५४ ॥ वित्तातिभक्त्येति । एवं कैवल्योपनिषदस्तात्पर्यगम्यं मया प्रतिपादितमर्थं हे देवा यूयं वित्त जानीतेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे
ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु तत्त्ववेदनविधिर्नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ बृहदारण्यकस्याप्युक्त ब्रह्मात्मैक्यपरत्वमध्यायद्वयेन प्रतिपाद्यते । तत्र मैत्रेयीब्राह्मणेऽमृतत्वसाधनस्याद्वितीयात्मदर्शनस्य तत्साधनानां श्रवणादीनां च प्रतिपादनेन संपूर्णोपदेशरूपत्वात्तदर्थं प्रथमं संगृह्णाति—प्रत्यग्रूप इत्यादिना । अहमिति प्रत्यक्त्वेन भासमानो जीवभावापन्नो यः परशिवः स साक्षात्परमानन्दरूपः । तत्र हेतुमाह—परेति । हेतोरप्रयोजकत्वं निरस्यति—परप्रेमेति । यद्यपि परप्रेमास्पदभूतः पुत्रवित्तादिविषयजनित आनन्दः साक्षादानन्दो न भवति, तस्यान्यशेषत्वात्, तथाऽपि यो निरतिशयप्रेमास्पद आनन्दः स तु स्वप्राधान्यात्साक्षादानन्द एवेति परप्रेमास्पदत्वमानन्दरूपत्वस्य गमकमित्यर्थः ॥ १ ॥

सहित विचार करें ॥ ५४ ॥ हे देवो ! परम कृपालु हो कैवल्योपनिषत् ने प्रसन्नतापूर्वक स्पष्ट रूप से जिस तत्त्व का उपदेश दिया है, प्रसिद्ध तेजस्वी हरि, ब्रह्मा आदि द्वारा जो आदृत है उस अतिशुभ ब्रह्म का मैंने आप सब अधिकारियों को उपदेश दिया है ताकि आप उसका अपरोक्ष साक्षात्कार करें । यह मेरी अभिलाषा है कि आप सभी उसे जानें ॥ ५५ ॥

बृहदारण्यकोपनिषत् की व्याख्या नामक नवाँ अध्याय

(परमशिव का स्वरूपलाभ मोक्ष सिद्ध किया । सभी को प्रायः अनुभव है कि विषयलाभ से सुख होता

---

१ ङ च ॰भासरू॰ । २ न सत्तन्नासदुच्यत इति स्मृत्यनुसारेणार्थो ज्ञेयः । ३ प्रतिज्ञयाऽऽत्माप्तेः पौमर्थ्यमसकृदुक्तं युक्त्यागमाभ्यां पोषयितुं ब्रह्मोवाचेत्यर्थः ॥

प्रियो भवति भार्यायाः पतिः सोऽयं सुरर्षभाः ॥ २ ॥

पतिर्न पत्युः कामाय प्रियो भवति सर्वथा[1] ।

किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः[2] स्वयम् ॥ ३ ॥

जायायास्तु न कामाय न हि जाया प्रिया मता ।

किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ ४ ॥

पुत्राणां तु न कामाय प्रियाः पुत्रा भवन्ति च ।

किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ ५ ॥

तच्चाऽऽत्मन्यसिद्धमित्याशङ्क्य श्रुतौ "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यादिभिर्बहुभिः पर्यायैः पतिजायापुत्रवित्तादीनामात्मशेषतयैव प्रियत्वोपन्यासेन तस्य यत्सर्वप्रियतमत्वं प्रतिपादितं तदभिधत्ते–**प्रियो भवतीत्यादिना** । **भार्यायाः पतिः प्रियो भवतीति** यत्तत्र **पत्युः कामाय** । किंतु जायायाः[3] स्वात्मनः सुखायैव । तथाच यो यच्छेषतया प्रि[4]यस्ततोऽपि तस्मिञ्शेषिणि[5] प्रीतिविशेषो भवति । यथा[6] पुत्रशेषतया तद्भार्यादिकात्पुत्रे । एवं स्वात्मशेषतया प्रियात्पत्युरपि जायायाः स्वात्माऽतिशयेन प्रिय इत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ **जायायास्त्विति** । पत्युर्जाया प्रिया भवतीति यत्तत्र जायायाः सुखाय । किंतु पत्युः स्वात्मनः सुखायेति पूर्ववत्ततोऽपि प्रियतमः पत्युः स्वात्मा । एवं **पुत्राणां तु न कामायेत्यादिषु** पर्यायान्तरेष्वपि योजना ॥ ४ ॥ ५ ॥

है । शिवोपलंभ विषयतया होता नहीं । फलतः मोक्ष में सुख न होने से वह पुरुषार्थ नहीं । दुःखनिवृत्ति ही अकेली कोई नहीं चाहता, थोड़े सुख के लिये काफी दुःख भी सह लेता है । अतः आत्मरूप मोक्ष की सुखरूपता सिद्ध हुए बिना मोक्षार्थ प्रवृत्ति न होगी यह समझ कर आत्मा की सुखरूपता बताने वाले याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीसम्वाद का परामर्श करते हुए) ब्रह्मा जी बोले–प्रत्यगात्मरूप स्वयं प्रकाशमान शिव परम आनन्द स्वभाव वाले हैं । इसमें कारण है कि उनकी प्रतीति सर्वथा प्रिय रूप से होती है । जो आनंद परम (निष्कारण) प्रेम का विषय होता है वही वस्तुतः आनंद है । (हम जो कुछ चाहते हैं वह किसी न किसी तरह अपने सुख के लिये चाहते हैं । यह चाहे जितना स्वार्थीपन हो, किन्तु है सत्य । सुख भी अपने लिये चाहते हैं । 'या सुख मिलेगा या तुम रहोगे' ऐसा विकल्प उपस्थित होने पर हम अपना ही चयन करते हैं । आत्महत्यारा भी दुःख से अपने को छुड़ाने के लिये ही कोशिश करता है । अतः सिद्ध है कि हमें अपने से अत्यधिक और बिना कारण प्रेम है । हम जिसे भी अपना स्वरूप समझते हैं और जितना कम या अधिक समझते हैं, उसीसे उतना ही प्रेम भी रखते हैं । सुख का स्वरूप यही है–जिससे निष्कारण प्रेम हो । एवं च आत्मा सुख है यह निश्चित है । अन्यथा उससे प्रेम न होता । फिर भी अज्ञानवश हम इस बात को जानते नहीं और भ्रम से विषयों से सुख मानते हैं जिससे हम प्रवृत्ति में ही दत्तचित्त रहते हैं । फलतः अज्ञाननिवृत्ति से निरतिशयसुख की 'प्राप्ति' संभव होने से मोक्ष पुरुषार्थ है । आत्मा सुख के साथ ज्ञानरूप होने से और आत्मा से अनन्य अनावृत सुख ही अभीष्ट होने से सब

---

१ ङ. नान्यथा । २ झ. °मस्त्वयम् । अयं पाठः पुरतः प्रतिपद्यमन्वेति । ३ ङ. च. °याः सु° । ४ झ. प्रियाप्रिय° । ५ झ. °िण्यपि प्री° । ६ च. झ. तथा ।

ब्रह्मणस्त्वेव कामाय न ब्रह्म भवति प्रियम् ।
किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ ६ ॥
क्षत्रस्यैव तु कामाय न क्षत्रं भवति प्रियम् ।
किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ ७ ॥
वित्तस्यैव तु कामाय न वित्तं भवति प्रियम् ।
किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ ८ ॥
लोकानामेव कामाय न भवन्ति प्रियाश्च ते ।
किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ ९ ॥
देवानामपि कामाय प्रिया देवा भवन्ति न ।
किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ १० ॥
वेदानामेव कामाय प्रिया वेदा भवन्ति न ।
किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ ११ ॥
भूतान्यपि च भूतानां कामाय न भवन्ति च ।
किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ १२ ॥
सर्वस्यैव तु कामाय न सर्वं भवति प्रियम् ।
किं त्वात्मनस्तु कामाय ततः प्रियतमः स्वयम् ॥ १३ ॥

ब्रह्मणस्त्वेवेति । ब्राह्मणजातेरित्यर्थः ॥ ६-१२ ॥ एवं पतिजायापुत्रवित्तादिकान्प्रियविषयान्भावविशेषानुपन्यस्यानुक्तसंग्रहायाऽऽह-सर्वस्यैवेति ॥ १३ ॥

उपपन्न हो जाता है । इससे कुछ गैर समझ लोगों की उक्ति कि 'मिसरी बनने से क्या लाभ, चींटी बनना चाहिये जो मिसरी चख सके' इत्यादि अत्यन्त नास्तिक्य-प्रेरित होने से परास्त समझनी चाहिये । परमेश्वर को जड मानना उसे न मानने से खराब है । फ्रान्सिस बेकन नामक पाश्चात्य निबन्धकार ने एक जगह कहा है कि ईश्वर के बारे में कोई विचार न रखना इससे श्रेष्ठ है कि उसके बारे में ऐसा विचार रखें जो ईश्वर के अयोग्य हो; प्रथम केवल नास्तिकता है जब कि द्वितीय ईश्वर को गाली देना है । अतः ऐसे मत अत्यन्त हेय हैं ।) ॥ १ ॥ पत्नी को पति जो प्रिय होता है वह पति के लिये नहीं बल्कि खुद पत्नी को अपने ही लिये पति प्रिय होता है । अतः निजरूप ही प्रियतम है ॥ २–३ ॥ ऐसे ही पति को पत्नी भी उस पत्नी के लिये–पत्नी है इसलिये–प्रिय नहीं होती किंतु अपने लिये–मेरे सुख का कारण है इसलिये–प्रिय होती है । अतः निज आत्मा ही प्रियतम है ॥ ४ ॥ इसी तरह पुत्र, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, धन, लोक, देव, वेद, अन्य प्राणी सभी उन-उनके लिये प्रिय नहीं हुआ करते । सभी अपने लिये प्रिय होते हैं । इसलिये आत्मा ही प्रियतम है ॥ ५–१३ ॥ यों निष्कारण अत्यन्त प्रिय होने से

अतः प्रियतमो ह्यात्मा सुखवत्सुखलक्षणः ।

सुखाभिलाषिभिः सोऽयं त्यक्त्वा कर्माणि सादरम् ॥ १४ ॥

द्रष्टव्यस्तु[1] सुरा नित्यं श्रोतव्यश्च तथैव च ।

मन्तव्यश्च विचिन्त्यश्च सर्वं तद्दर्शनादिभिः ।

विदितं तदभेदेन भवत्यत्र न संशयः ॥ १५ ॥

अतः प्रियतम इति । यत एवं सर्वमात्मशेषतया प्रियतममतः सर्वप्रियतम आत्मा । **हि**शब्दो हेतौ । यस्मादेव परप्रेमास्पदस्तस्मात्**सुखलक्षणो** निरतिशयानन्दस्वरूपः । अतः परिच्छिन्नसुखसाधनानि **कर्माणि** परित्यज्यापरिच्छिन्न**सुखाभिलाषिभि**र्मुमुक्षुभिस्तादृग्रूप आत्मा **सादरं द्रष्टव्यः** साक्षात्कर्तव्यः । तस्य च दर्शनस्य मनननिदिध्यासनसहकृतं वेदान्तमहावाक्यश्रवणमेव साधनमित्याह–**श्रोतव्यश्चे**ति । तत्र **श्रवणं** नाम शब्दशक्तितात्पर्यार्थन्यायानुसंधानम् । न्यायतः श्रुतिप्रतिपादितस्यार्थस्यासंभावनादिनिरासेन तथात्वगमकयुक्त्यनुसंधानं **मननम्** । एवं श्रवणमननाभ्यामधिगतेऽर्थे साक्षात्कारं जनयितुं विजातीयप्रत्ययानन्तरितः सजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनापरपर्यायं **विचिन्तनम्**[2] । तथा चाऽऽम्नातम् "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति । अस्य च वाक्यस्य तात्पर्यमाचार्यैरुक्तम्–'आत्मदर्शनफलमुद्दिश्य मनननि[3]दिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां श्रवणं नामाङ्गि विधीयत' इति । "आत्मनो वा अरे दर्शनेन" इत्यादिना यद्दर्शनस्य सर्वावाप्तिलक्षणफलमाम्नातं तद्व्याचष्टे–**सर्वं तद्**इति । **दर्शनादिभि**रित्यादिशब्देन श्रुत्युक्तश्रवणमनननिदिध्यासनसंग्रहः । तस्मिन्प्रियतम आत्मतत्त्वे श्रवणादिभिर्दृष्टे सति यत्तस्मिन्नध्यस्तं तच्छेषतया प्रियं प्रागुपन्यस्तं सर्वं जगत्तत्**सर्वं तदभेदेन** वस्तुतस्तदनन्यत्वेन **विदितमेव भवती**त्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥

आत्मा सुखरूप ही है क्योंकि सुख का लक्षण जैसे सुख में रहता है वैसे आत्मा में । अतः जो सुख चाहें उन्हें सब कर्मों का त्यागकर श्रद्धापूर्वक मनन व निदिध्यासन सहित श्रवण के द्वारा आत्मा का दर्शन करना चाहिये । क्योंकि सभी कुछ उस आत्मा से अभिन्न ही है इसलिये आत्मा को समझ लेने पर उससे अनन्य रूप से सब समझ आ जाता है । (श्रवणादि को विधेय स्वीकारा गया है । यदि प्रकृत प्रसंग में आत्मप्राधान्य होने से और श्रोतव्यादि का प्रत्ययार्थ अर्हता बताकर भी उपक्षीण हो सकने से विधि मानना अस्वरस लगे तो आगे कही 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः' (बृ.३.५.१) श्रुति से पाण्डित्य, बाल्य और मुनि शब्दों से कहे श्रवण, मनन और निदिध्यासन को विहित मान लेना चाहिये । अत एव बादरायणाचार्य ने सहकार्यन्तरविध्यधिकरण में (३.४.१४.४७) इसी वाक्य से विधि स्वीकारी है । अतः साक्षात्कार पर्यन्त नियमतः श्रवणादि का अनुष्ठान करना चाहिये । यह प्रसंग विवरण में (पृ.३५–३६ कल.) दर्शनीय है । युक्तिपूर्वक निर्णय करना कि शास्त्र क्या प्रतिपादित कर रहा है श्रवण कहा जाता है । शास्त्रप्रतिपाद्य अर्थ को युक्तिपूर्वक समझना कि वह अर्थ युक्ति से भी वैसा ही स्थित होता है जैसा शास्त्र में प्रोक्त है, मनन कहाता है । शास्त्र व युक्ति से निश्चित अर्थ का सतत चिन्तन निदिध्यासन

---

१ दर्शनविषयतामापादयितव्यः । अत्र द्रष्टव्य इति न विधि दर्शनशब्दितज्ञानस्याऽविधेयत्वात् । तदुद्देश्येन श्रोतव्यादित्रयस्य विधिः । तस्यापि मावाभूदसौ,अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तत्रापि प्रवृत्तिसंभवादिति मधुब्राह्मणभाष्यादौ सूचितम् (पृ. २०४) । २ अनुभूतिप्रकाशे तु 'श्रुत्यर्थाविष्कृतेर्हेतुः शब्दशक्तिविवेककृत् । श्रुतिलिंगादिकन्यायः प्रोक्तः श्रोतव्य इत्यतः ॥ अर्थासम्भावनोच्छेदी तर्को मननमीरितम् । वेदशास्त्राविरोध्यत्र तर्को ग्राह्यो न चेतरः ॥ अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्यासनमुच्यते । ध्यानशङ्कानिवृत्त्यर्थं विज्ञानेनेत्युदीरणात् ॥' (१५.२२–२४) इत्युक्तम् । ३ झ. °निदर्शना° ।

दुःखराशेर्विनाशाय परमाद्वैतविद्भवेत् ॥ १६ ॥

परमाद्वैतविज्ञानात्संसारः प्रविनश्यति । स्वतःसिद्धाद्वयानन्दः स्वयमेव विभाति च ॥ १७ ॥

परादात्तं सुरा ब्रह्म स्वतोऽन्यद् ब्रह्म वेद यः ।

तथा परादात्क्षत्रं तं लोका अपि तथैव च ॥ १८ ॥

देवा वेदाश्च भूतानि परादुः खलु तं पशुम् । स्वस्वरूपात्परं किंचिदपि पश्यन्प्रणश्यति ॥ १९ ॥

ननु तावता कथं संसारदुःखनिवृत्तिरिति ? तत्राऽऽह–**दुःखराशेरि**ति । परमाद्वैतविदः पुरुषस्य स्वातिरिक्तदुःखहेत्वभावाद्भवपरम्परार्जितो दुःखराशिर्विनश्यतीत्यर्थः । ननु दुःखराशेर्विनाशेऽपि स्वर्गादिसुखहेतोः पुण्यस्य सद्भावात्तन्निमित्तः संसारो विदुषोऽपि कुतो नेत्यत आह–**परमाद्वैते**ति । अद्वितीयब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारोत्तरकालं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिमदन्तःकरणस्य निखिलपुण्यपापाश्रयस्य[1] विविक्तत्वात्तत्कृतः सुखदुःखोपभोगलक्षणः सर्वोऽपि **संसारो** विदुषः **प्रविनश्यति** । ईदृग्विधस्य मोक्षस्य सुखदुःखवत्स्वर्गादिसुखस्यापि निवर्तनादपुरुषार्थत्वमाशङ्क्याऽऽह–**स्वतःसिद्धे**ति । कारणान्तरानपेक्षो य आत्मनः स्वरूपभूतो नित्यनिरतिशयाद्वितीय आनन्दस्तस्य स्वरूपप्रकाशनेनैव स्फुरणान्नोक्तदोष इत्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ एवं मोक्षसाधनमद्वितीयप[2]रमानन्दात्मदर्शनमुपन्यस्य या भेददर्शननिन्दा "ब्रह्म तं परादात्" इत्यादिभिः पर्यायैः श्रुतौ प्रतिपादिता, तां संगृह्णाति–**परादात्तमि**ति । यः पुरुषः स्वात्मनो**ऽन्यद्ब्रह्म** ब्राह्मणजातिं **वेद** तद्**ब्रह्म** भेददर्शिनं **तं** पुरुषं **परादाद्** बहिस्त्यजति तदनधीनं सत्तस्य सुखदुःखहेतुर्भवतीत्यर्थः । एवं **परादात्क्षत्रमि**त्यादिषु योजना । **तं पशुमि**ति । यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्स्वव्यतिरेकेण पश्यत्ययथार्थदर्शित्वात्स एव पशुः । तथा चाऽऽम्नातम् "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्" इति । अस्त्वेवं ब्रह्मक्षत्रादिभिरात्मनः परादानं, ब्रह्मक्षत्रादिभेदस्त्वनुभवसिद्धः कथमपलपितुं शक्यत इत्यत आह–**स्वस्वरूपादि**ति । प्रतीयमानस्य भेदस्य शुक्तिकारजतादिवद् भ्रमत्वाद्वस्तुतः स्वातिरिक्तं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्पश्यंस्तत्कृतपुण्यपापवशीकृतो जन्ममरणादि[3]लक्षणं संसारं प्राप्नोति । श्रूयते हि–"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति ॥ १८ ॥ १९ ॥

कहा जाता है । इस पर सर्वज्ञमुनि की कारिकायें याद रखनी चाहिये 'शब्दशक्तिविषयं निरूपणं युक्तितः श्रवणमुच्यते बुधैः । वस्तुवृत्तविषयं निरूपणं युक्तितो मननमित्युदीर्यते ॥ चेतसस्तु चितिमात्रशेषता ध्यानमित्यभिवदन्ति वैदिकाः । अन्तरंगमिदमित्थमीरितं तत्कुरुष्व परमात्मबुद्धये ॥' (सं.शा. ३.३४४–५) ॥) ॥ १४–१५ ॥ दुःखराशि के विनाश के लिये परम अद्वैत का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये ॥ १६ ॥ परम अद्वैत का अनुभव पा लेने से संसार सर्वथा नष्ट हो जाता है और स्व-रूप से सिद्ध हो अद्वितीय आनन्द खुद ही भासने लगता है ॥ १७ ॥ जो ब्राह्मण जाति को, क्षत्रिय जाति को, लोकों को, देवों को, वेदों को, भूतों को अपने से भिन्न मानता है उस व्यक्ति को वे जाति आदि श्रेयःप्राप्ति नहीं होने देते । (अर्थात् वह उनसे प्रयुक्त हो कर्मप्रवाह में ही रहता है ।) इन्हें आत्मा से अतिरिक्त समझने वाला पशु ही है । निजस्वरूप से अतिरिक्त कुछ भी है ऐसा समझने वाला प्रणाश ही पाता है ॥ १८–१९ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रियादि भेद से प्रतीत सब वर्ण, आश्रम, संकरजातियाँ, देव, गंधर्व आदि प्राणी, सब भुवन, 'है' कहे जाने वाला और

१ झ. "यवि" । २ घ. झ. "परान" । ३ च. "दितत्कृतं सं" ।

ब्रह्मक्षत्रादिभेदेन प्रतीता ह्यखिला अमी ।
वर्णास्तथाऽऽश्रमाः सर्वे संकराः सकला अपि ॥ २० ॥
देवगन्धर्वपूर्वाश्च भूतानि भुवनानि च ।
अस्ति नास्तीति शब्दार्थौ तथैवान्यच्च[1] किंचन ॥ २१ ॥
मायाविद्यातमोमोहप्रभेदा अखिला अपि । सर्वमात्मैव नैवान्यदन्यबुद्धिर्हि संसृतिः ॥ २२ ॥
निर्विकल्पे परे तत्त्वे विद्यया बुद्धिविश्रमः ।
सा हि संसारविच्छित्तिर्नापरा पुरुषाधिका[2] ॥ २३ ॥

कथं तर्हि प्रतीयमानं ब्रह्मक्षत्रादिकं वेदनीयमित्याशङ्क्य तत्सर्वमात्मतयैव ज्ञातव्यमिति यदाम्नातम् 'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रम्' इत्यादिना, तदाह–**ब्रह्मक्षत्रादिभेदेने**त्यादिना ॥ २० ॥ २१ ॥ **मायाविद्ये**ति । विशुद्धसत्त्वप्रधाना प्रकृतिर्**माये**श्वरोपाधिः मलिनसत्त्वप्रधाना **त्वविद्या** जीवोपाधिः । **तमः**शब्देन वियदादिभूतोपादाना तमःप्रधाना प्रकृतिरुच्यते । **मोह**शब्देन कार्यभूतशुक्तिरूप्यादिविभ्रमो विवक्षितः । **सर्वमात्मैवेति** । यदिदं ब्रह्मक्षत्रादिकं मायातत्कार्यजातमनुक्रान्तं तत्सर्वमात्मैव न ततोऽतिरिक्तम् । तत्स्वरूपेऽध्यस्तत्वेन शुक्तिरूप्यादिवदधिष्ठानादन्यत्वेन निर्वक्तुमशक्यत्वात् । **अन्यबुद्धिर्हीति** । ब्रह्मक्षत्रादिजगतः प्रत्यगात्मनश्च या भेदबुद्धिः सा संसारहेतुः "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः ॥ २२ ॥ तस्मादद्वितीयब्रह्मात्मविद्यैव निःशेषदुःखोच्छित्तिनिरतिशयानन्दावाप्तिलक्षणाया मुक्तेः साधनमित्याह–**निर्विकल्प** इति । **निर्विकल्पे** निरस्तसमस्तोपाधिके सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसे विकारजातेभ्यः **परे** ब्रह्मणि श्रवणादिसाधनजनितया तद्गोचरया **विद्यया** तदावरणाविद्यानिवृत्तौ सत्यां विषयान्तराभावेन विक्षेपवासनारहितायाश्चित्तवृत्तेस्तत्र प्रत्यग्रूपे ब्रह्मणि यो **विश्रम** उपरमः स ह्युदीरितलक्षणो मोक्ष इत्यर्थः ॥ २३ ॥ ज्ञानिनः प्रभावमाह–**प्रतीतमिति** ॥ २४ ॥

'नहीं है' कहा जाने वाला तथा और भी जो कुछ है, माया, अविद्या, तम, मोह आदि भेद–सब आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त नहीं । आत्मा से अन्य कुछ समझना ही संसरण का कारण है । (शुद्ध-सत्त्व-प्रधान प्रकृति माया और मलिन-सत्त्वप्रधान वही अविद्या है । आकाश आदि महाभूतों की उपादानभूत तमोगुणप्रधान प्रकृति तम और शुक्तिरूप्य आदि भ्रम मोह है ।) ॥ २०–२२ ॥ सारी उपाधियों से रहित, सब विकारों से परे, तात्त्विक परमेश्वर विषयक विद्या से परमेश्वर विषयक आवरण निवृत्त हो जाने पर चित्तवृत्ति का उसी परमेश्वर में उपरत हो जाना ही संसारविच्छेद अर्थात् मोक्ष कहा जाता है, परमपुरुष से हटकर मोक्ष कुछ नहीं है ॥ २३ ॥ जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह सब बिना किसी भेद के ब्रह्म ही है ऐसा जो व्यक्ति जानता है वह जगद्गुरु है, उसे मैं सदा प्रणाम करता हूँ ॥ २४ ॥

---

१ अन्यदिति सिद्धान्तसंमतमिथ्यात्वं तदसंमतमनैकान्तिकत्वं चोच्यते । २ मुक्तेरभावादिरूपतां प्रत्याह–पुरुषेति । निवृत्तिरात्मा मोहस्येत्युक्तेरात्मनएवाज्ञानहानिरूपत्वाभ्युपगमात् । पंचमप्रकारादिपक्षाणां मन्दबुद्धिव्युत्पादनार्थताया मधुसूदनादिभिरुक्तत्वात् । संसारविच्छित्तिश्च तत्त्वज्ञानकालेऽविद्यातत्कार्यपूर्वत्वानधिकरणत्वमेवेति रत्नावल्यादौ स्पष्टीकृतम् । अविद्याया व्यावहारिकत्वात्तन्निवृत्तेरपि तथात्वमुचितमिति दिक् ।

प्रतीतमविशेषेण सकलं ब्रह्म यः पुमान् ।
वेद तं शिरसा नित्यं प्रणमामि जगद्गुरुम् ॥ २४ ॥
वेदा बहुमुखा भान्ति स्मृतयश्च तथैव च ।
पुराणानि समस्तानि बुद्धार्हाद्यागमान्तराः ॥ २५ ॥
शैवाश्च वैष्णवाश्चैव मदुक्ता आगमा अपि ।
अपभ्रंशाः समस्ताश्च केवलं लौकिकी मतिः ॥ २६ ॥
तर्काश्च विविधाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च सकला अपि ।
परस्परविरोधेन प्रभान्ति सकलात्मनाम् ॥ २७ ॥
तेषामेवाविरोधे तु कालो याति च धीमताम् ।
कथंचित्कालसद्भावेऽप्यविरोधो न सिध्यति[1] ॥ २८ ॥
अतः सर्वं परित्यज्य मनसो मलकारणम् ।
यथाभातेन रूपेण शिवं पश्येत्सुनिश्चलः ॥ २९ ॥

नन्वेवंविधमद्वितीयब्रह्मात्मविज्ञानं किमिति न सर्वत्र सुलभमिति तत्कारणमाह–**वेदा** इति । **परस्परविरोधेनेति** । "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" "न कर्मणा न प्रजया धनेन" "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इत्येवं परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेन श्रुतिस्मृतिपुराणादयः सर्वेषामविशेषतः प्रतिभासन्ते ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ **धीमतां** विदुषामपि तेषां श्रुतिस्मृतिपुराणादीनाम**विरोधे** परस्परविरोधपरिहारे कर्तव्ये सति तादर्थ्येन सर्वमायुरपगच्छति । **कथंचित्सद्भावेऽप्यविरोधो न सिध्यति,** तत्तच्छास्त्रपरिशीलन[2] एव बुद्धेरुपक्षीणत्वादित्यर्थः । एतेन "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिश्रुतेस्तात्पर्यं वर्णितं भवति ॥ २८ ॥

वेद बहुत तरह की बातें करते प्रतीत होते हैं । ऐसे ही स्मृतियाँ, सब पुराण, विभिन्न बौद्ध व जैन आगम, शैव वैष्णव और ब्राह्म आगम, सारे अपभ्रंश शास्त्र, लौकिक बुद्धि, विविध सूक्ष्म व स्थूल तर्क, सभी परस्पर विरोधी सबको लगते हैं । विद्वानों का भी समय इनका अविरोध स्थापित करने में निकल जाता है । समय बच भी जाये तब भी अविरोध स्थापित नहीं हो पाता ॥ २५–२८ ॥ अतः मनको मलिन करने वाला सारा व्यापार छोड़कर जो जैसा प्रतीत होता है उसे वैसे ही शिव समझते चलना चाहिये ॥ २९ ॥ क्रिमि, कीट, पतंगों से पशु प्रज्ञा में अधिक हैं । पशुओं से मनुष्य और उनमें विद्वान् लोग

१ प्रपंचस्य मायामयत्वात्प्रपंचविषय ऐकवाक्यं कदाप्यसंभवि वादान्तराणि च तत्त्वदृष्ट्याऽद्वैतं समर्थयन्त्यपि प्रतिपादनप्रक्रियामेवमवलम्बन्ते यत्तन्मतं नाद्वैतमित्येव सामान्यतः प्रतिभाति । तत एवाविरोधाऽसिद्धिः । तदुक्तमाचार्यैः 'स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् । परस्परं विरुद्ध्यन्ते तैरयं न विरुद्ध्यते ॥' मा. का. ३.१७ ॥ इति । २ ञ. °लनेनैव ।

क्रिमिकीटपतङ्गेभ्यः पशवः प्रज्ञयाऽधिकाः ।

पश्वादिभ्यो नरा प्राज्ञास्तेषु[1] केचन कोविदाः ॥ ३० ॥

तथा तेभ्यश्च गन्धर्वाः पितरो मतिमत्तमाः ।

अन्ये च तारतम्येन पण्डिता उत्तरोत्तरम् ॥ ३१ ॥

यूयं सत्त्वोत्कटाः प्राज्ञाः सर्वेषामपि हे सुराः ।

युष्मभ्योऽहं महाप्राज्ञो मत्तः प्राज्ञो जनार्दनः ॥ ३२ ॥

जनार्दनादपि प्राज्ञः शंकरो गुणमूर्तिषु ।

ततः प्राज्ञतमः साक्षाच्छिवः साम्बः सनातनः ॥ ३३ ॥

स एव साक्षात्सर्वज्ञस्ततोऽन्यो नास्ति कश्चन ।

तस्माद्विद्यामिमां त्यक्त्वा ब्रह्म सर्वं विलोकयेत् ॥ ३४ ॥

आयासस्तावदत्यल्पः[2] फलं मुक्तिरिहैव तु ।

तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ३५ ॥

प्रतिपादितमैक्यात्मज्ञानमुपसंहरति–अत इति । यतो बहुविधश्रुतिस्मृतिपुराणादिपरिशीलनं[3] मनसो विक्षेपहेतुरतस्तत्सर्वं **परित्यज्य** वेदान्तमहावाक्यजनितात्मज्ञानवान्भूत्वा यद्यद्वस्तु येन येन रूपेण भासते तेन सर्वेण **रूपेण** तदधिष्ठानमद्वितीयं परशिवमेव सर्वत्रावलोकयेदित्यर्थः ॥ ३३ ॥ **तस्माद्विद्यामिमामिति** । क्रिमिकीटादीश्वरान्तानामुत्तरोत्तरं प्रज्ञायाः सातिशयत्वेन सर्वज्ञत्वासंभवादनवच्छिन्नज्ञानः परशिव एव साक्षात्सर्वज्ञः । यस्मादेवं **तस्मादिमां** प्रागुदीरितां श्रुतिस्मृत्यादिलक्षणामनात्मविषयां **विद्यां त्यक्त्वा सर्वं** ब्रह्मात्मनैवानुसंदध्यादित्यर्थः ॥ ३४ ॥

प्रज्ञा में अधिक हैं । उनसे भी गन्धर्व और पितर बुद्धिमान् अधिक हैं । अन्य (देवादि) भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक विद्वान् हैं । आप सभी देवता हैं अतः सबसे अधिक सत्त्व वाले हैं । आपसे मैं अधिक जानकार हूँ । मुझसे अधिक विष्णु जानते हैं । गुणमूर्तियों में रुद्र जनार्दन से भी अधिक जानते हैं । उनसे भी तथा सबसे अधिक प्राज्ञ साक्षात् साम्ब सदाशिव हैं । वे ही स्वयं सर्वज्ञ हैं, उन से अन्य कोई नहीं । अतः हम कोई निर्णय कर पायेंगे ऐसा अभिमान छोड़कर अनात्मविद्या को छोड़कर सब ब्रह्म है ऐसा अनुसन्धान करना चाहिये ॥ ३०–३४ ॥ यही ऐसा मार्ग है जिसमें आयास बहुत कम किंतु फल मोक्ष है फिर भी अविद्यावासनावश लोग परम-अद्वैत समझने का प्रयास करना ही नहीं चाहते ॥ ३५ ॥ इस विद्या के अभ्यास-काल में व फलकाल में, कभी भी कोई भय नहीं फिर भी लोग इसे नहीं चाहते हैं ॥ ३६ ॥ ब्रह्मविद्या

१ झ. प्राज्ञाः प्राज्ञे के॰ । २ आयासत्यागस्यैवात्र साधनत्वादसावल्पः । नाहं कर्तेति निश्चेतव्यं पुनः पुनः । साधनावस्थायामेव सर्व आयासस्त्याज्यः । उक्तं सहस्रिकायां 'सहैव विदुषा तस्मात् कर्म हेयं मुमुक्षुणे'ति (१.१५) इतरत्र च 'नित्यं नैमित्तिकं चापि सर्वं कर्म ससाधनम् । मुमुक्षुणा परित्याज्यं ब्रह्मभावमभीप्सुना ।' (सर्ववेदां १७२-३) । इति । आयासत्यागादेवास्ति तदल्पत्वम् । ३ ङ. च. छ. झ. "लनेन म" ।

कदाचिदपि चित्तस्य भयं किंचिन्न विद्यते ।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ३६ ॥
स्वस्वरूपातिरेकेण नास्ति मानं विरोधि च ।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ३७ ॥
स्वस्वरूपातिरेकेण तर्कश्च न हि विद्यते ।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ३८ ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणानि प्राहुरेकत्वमात्मनः ।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ३९ ॥
अनुग्राहकतर्कश्च कुरुते तर्कवेदनम् ।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ४० ॥
शिवागमेषु चाद्वैतं बभाषे परमेश्वरः ।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ४१ ॥
नारायणोऽपि चाद्वैतं बभाषे स्वागमेषु च ।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ४२ ॥
अहं चावोचमद्वैतं मदुक्तेष्वागमेषु च । तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ४३ ॥
अन्ये च योगिनः सर्वे प्राहुरद्वैतमात्मनः ।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ४४ ॥

आयासस्तावदित्यादि । उक्तब्रह्मात्मज्ञानस्य मनोव्यापारमात्रसाध्यत्वादायासस्तावदल्प एव, फलं तु परमपुरुषार्थरूपा मुक्तिस्तथाऽप्यविद्यावासनाभिः पिहितदृष्टयः संसारिणस्तदद्वैतं नैव वाञ्छन्तीत्यर्थः ॥ ३५-४१ ॥

का विषय निजस्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं और इसका विरोधी कोई प्रमाण भी नहीं, फिर भी मनुष्य प्रायः इस विद्या के इच्छुक नहीं होते ॥ ३८ ॥ श्रुति, स्मृति व पुराण आत्मा की एकता घोषित करते हैं, तथापि लोग इसे स्वीकारना नहीं चाहते ॥ ३९ ॥ अद्वैत की अनुग्राहक युक्ति तर्कानुसार भी अद्वैत अनुभव संगत बताती है, फिर भी मानव इसके अभिलाषी नहीं होते ॥ ४० ॥ शिवागमों में परमेश्वर ने अद्वैत का उपदेश दिया है फिर भी परमाद्वैत को लोग चाहते नहीं ॥ ४१ ॥ नारायण ने अपने आगमों में व मैंने अपने आगमों में अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है किंतु फिर भी मनुष्य परम अद्वैत स्वीकारना ही नहीं चाहते ॥ ४२–४३ ॥ अन्य भी सब योगी आत्मा की अद्वितीयता कहा करते हैं पर लोग फिर भी उसे मानते नहीं ॥ ४४ ॥ विशुद्ध ज्ञान वालों को भी अद्वैत में ही निष्ठा है पर सामान्य लोग फिर

विशुद्धज्ञानिनां देवा निष्ठाऽप्यद्वैतगोचरा ।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वाञ्छन्ति मानवाः ॥ ४५ ॥
केचित्सामान्यमद्वैतं वदन्ति भ्रान्तचेतसः ।
विशेषं द्वैतमाश्रित्य न तेषामस्ति वेदनम् ॥ ४६ ॥
द्वैतमेव हि सर्वत्र प्रवदन्ति हि केचन ।
न ते मनुष्याः कीटाश्च पतङ्गाश्च घटा हि ते ॥ ४७ ॥
अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति महेश्वरम् ।
स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स तु दुर्लभः ॥ ४८ ॥
जगदिति प्रतिभा व्यवहारतः परतरः परमः परमार्थतः ।
इति मतिर्न भवत्यपि कस्यचिच्छशिधरस्मरणेन हि सिध्यति ॥ ४९ ॥

इत्थं स्वप्रतिपादितेऽर्थेन्यानपि देवान्संपादयति[1] -**नारायणोऽपीति** ॥ ४२-४५ ॥ **केचित्सामान्यमिति** । भेदाभेदवादिनो[2] हि कारणब्रह्मरूपेण सामान्यरूपेण सर्वमिदमद्वैतं वदन्ति वियदादिभूतभौतिकविशेषाकारेण त्वेतज्जगत्प्रतिभासोऽपि सत्य इति संगिरन्ते । तेषां सम्यग्ज्ञानमेव नास्ति । द्वैताद्वैतयोः परस्परोपमर्दकयोरेकत्राभ्यु[3]पेतुमयुक्तत्वादित्यर्थः ॥ ४६ ॥ **द्वैतमेव हीति** । भेदाभेदपक्षस्यायुक्तत्वात्सर्वप्रकारेणापि भेद एव परमार्थ इति ये वैशेषिकादयो मन्यन्ते ते चेतना एव न भवन्ति किं तु घटादिवदचेतनाः । भेदानिर्वचनीयत्वस्य प्राक्प्रतिपादितत्वात् ॥ ४७ ॥ अतः सर्वप्रकारेणाद्वैतमेव वास्तवमित्युपसंहरति-**अविशेषेणेति** । विशेषस्य सर्वस्य मायामयत्वेन मिथ्यात्वात्तत्सर्वं वास्तवपरशिवस्वरूपमेवेति **यः पश्यति स एव** सम्यग्ज्ञानी **स एव** परशिवः । तादृशः पुरुषः क्वाचित्को, न तु सर्वत्र सुलभ इत्यर्थः । एतावता "यत्र हि द्वैतमिव भवति" इत्युपक्रम्य "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" इति पारमार्थिकाद्वैतप्रतिपादिका श्रुतिर्व्याकृता भवति ॥ ४८ ॥

भी उसे मानने की कतई इच्छा नहीं करते ॥ ४५ ॥ कुछ लोग कहते हैं कि सामान्य रूप से अद्वैत है और विशेषरूप से द्वैत है । ऐसा कहने वाले भ्रांत हैं, उनका ज्ञान गलत है । (द्वैत व अद्वैत आपस में विरोधी हैं अतः दोनों का तुल्य अस्तित्व कहना भ्रांतता का ही द्योतक है ।) ॥ ४६ ॥ अन्य लोग सर्वथा द्वैत का ही प्रतिपादन करते हैं । वे मनुष्य नहीं, कीट पतंग या घट जैसे जड ही हैं ॥ ४७ ॥ जो बिना भेद किये सब कुछ को महेश्वर ही समझता है वही साक्षात् विज्ञानी है, वह शिव ही है । ऐसा महात्मा दुर्लभ है ॥ ४८ ॥ जगत्-यह व्यावहारिक प्रतिभास है । वस्तुतः परतर परम शिव ही है । ऐसा निश्चय यों ही किसी को नहीं होता, केवल शशिधर के स्मरण से होता है ॥ ४९ ॥ बुद्धिमानों को तो जगत् यह प्रतीति भी शिवप्रतीति ही लगती है । यह निर्मल शुभ मति भी शिवकृपा से ही मिलती

---

१ संवादयति इति पठनीयम् । २ एतेन रामानुजनिम्बार्कादयः प्रत्युक्ताः । ३ ङ. "भ्युपगन्तुम" ।

जगदिति प्रतिभाऽपि च शांकरी मतिमतामिति मे सुविनिश्चयः ॥
इति मतिर्विमला च शुभावहा शशिधरस्मरणेन हि सिध्यति ॥ ५० ॥
जगदिति प्रतिभासमपेक्ष्य च श्रुतिरपि प्रियहेतुमिहाऽऽह हि ।
न हि जगत्प्रतिभा न च सा श्रुतिः प्रियकरः सकलश्च न[1] वस्तुतः ॥ ५१ ॥
इति मतिर्विमला[2] ननु जायते यदि जनः शिव एव तादृशः ।
न हि कृतिः सकला महात्मनो यदि कृतिः पशुरेव स मानवः ॥ ५२ ॥
न हि जनिर्मरणं गमनागमौ[3] न हि मलं विमलं न च वेदनम् ।
शिवमिदं सकलं विभासते[4] स्फुटतरं परमस्य तु योगिनः ॥ ५३ ॥
विसृज्य संदेहमशेषमास्तिकाः प्रतीतमेतन्निखिलं जडाजडम् ।
गुरूपदेशेन शिवं विलोकयेद्विलोकनं चापि शिवं विलोकयेत् ॥ ५४ ॥

तस्य दुर्लभत्वमुपपादयति–**जगदिति प्रतिभे**ति । यस्य हि परमेश्वरस्मरणमस्ति तस्यैवेदृशी प्रतिपत्तिर्नेतरस्येत्यर्थः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ **श्रुतिरपि प्रियहेतुमि**ति । व्यावहारिकजगत्प्रतिभासमपेक्ष्या'ग्निहोत्रं जुहुयादि'त्यादिश्रुतिरपि स्वर्गादिफलसाधनमग्निहोत्रादिकमुपदिशति । नैतावता जगत्सत्यत्वमित्यर्थः ॥ ५१ ॥ एवं कृतिमृतिजनिमितिगमनागमनादयः सर्वेऽपि भावा व्यावहारिकजगत्प्रतिभासवलादेव प्रतिभासन्ते न वस्तुत इति प्रतिपादयति–**न हि कृतिरि**त्यादिना ॥ ५२ – ५३ ॥ **विलोकनं चापी**ति । यदद्वितीयब्रह्मात्मविषयं विज्ञानं तद्बलात्तदतिरिक्तस्य सर्वस्य तन्मात्ररूपतां पश्यन्नन्ततस्तद्विज्ञानमपि कतकरजोन्यायेन तत्रैव विलीयमानत्वात्तदात्मकमवलोकयेदित्यर्थः ॥ ५४ ॥

है ॥ ५० ॥ जगत् की प्रतीति की अपेक्षा से ही श्रुति भी स्वर्गादि के साधनों का उपदेश दे देती है । वस्तुतः न जगत् है, न वह श्रुति है, न वह सब जो हमें सुख देता प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥ यह निश्चय यदि हो जाये तो वैसा मनुष्य शिव ही है । उसका किसी कर्म से सम्बन्ध नहीं । यदि कर्म-सम्बन्ध है तो वह मानव अभी पशु (जीव) ही है ॥ ५२ ॥ उक्त दृष्टि वाले का न जन्म है न मरण, न गमन है न आगमन, न कोई मल है न निर्मलता और न कोई विषय-प्रतिभास है । इस परम योगी को स्पष्ट ही सब कुछ शिव भासता है ॥ ५३ ॥ सब संदेह छोड़ गुरु के उपदेश के अनुसार प्रतीत होने वाले जड-चेतन सब कुछ को शिव ही समझना चाहिये । इस समझ को भी शिव ही समझना चाहिये ॥ ५४ ॥ समझ को भी शिव समझते हुए समझने का भी परित्याग कर देना चाहिये । तब स्वभावभूत निज चिद् रूप से बच जाता है । बच जाना भी उसका वस्तुतः नहीं है (क्योंकि कुछ और होता तो उसके हटने पर यह बचता । और जब कुछ है ही नहीं तो इसे किससे बचा कहें ?) ॥ ५५ ॥ उस मुक्त

---

१ घ. छ. झ. न च स्वतः । च नरः स्वतः । २ घ. ङ. °ला तु जा° । द्वितीयतृतीयपादयोरक्षरनैयून्यं हिकाराऽपिकाराभ्यामपाकर्तुं शक्यम् । ३ घ. ङ. गमागमी । ४ प्रविभासत इति पठने छन्दोऽभङ्गः । °लं हि विभा° इति वालपाठः ।

विलोकनं चापि[1] शिवं विलोकयन्विलोकनं चापि विसृज्य केवलम् ।
स्वभावभूतः स्वचिताऽवशिष्यते चिताऽवशेषश्च न तस्य तत्त्वतः ॥ ५५ ॥
निष्ठा तस्य महात्मनः सुरवरा वक्तुं मया शक्यते
न प्रौढेन शिवेन वा मुनिगणैर्नारायणेनापि च ।
वेदेनापि पुरातनेन परया शक्त्या परेणाथ वा
मूकीभावमुपैति तत्र विदुषां निष्ठा हि तादृग्विधा ॥ ५६ ॥
सर्वमुक्तमिति वः सुरर्षभाः केवलेन करुणाबलेन च ।
वेद एव सकलार्थबोधकः शेष एव वचनं च तस्य मे[2] ॥ ५७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे
ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु बृहदारण्यकोपनिषद्व्याख्याने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच — अस्ति सर्वान्तरः साक्षी प्रत्यगात्मा स्वयंप्रभः ।
तदेव ब्रह्म संपूर्णमपरोक्षतमं सुराः ॥ १ ॥

स्वभावभूत इति । ब्रह्मात्मैक्यविषयान्तःकरणवृत्तावपि स्वकारणेन सह विलीनायां सत्यामवच्छेदकाभावाद्विदुषः स्वभावभूता या स्वकीया चित्तयैव केवलम**वशिष्यते**–चिन्मात्ररूपेणैव केवलं विद्वानवतिष्ठते । तस्य चिद्रूपस्य परमार्थतोऽवशिष्टत्वमपि न संभवति । अवशेषप्रतियोगिनोऽन्यस्य कस्यचिदप्यभावादित्यर्थः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे
ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु बृहदारण्यकोपनिषद्व्याख्याने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

एवमद्वितीयात्मविज्ञानं निःश्रेयससाधनमित्युक्तं, स चाऽऽत्मा किंरूप इत्येतत्सविशेषं प्रतिपादयितु**मुषस्तब्राह्मणं**[3] संगृह्णाति–**अस्ति सर्वान्तर** इत्यादिना । तत्र हि याज्ञवल्क्यं प्रत्युषस्तप्रश्न एवमाम्नायते–''यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व'' इति । अस्य च प्रश्नस्य 'एष त आत्मे'त्यभिनयेन स्वानुभवगम्यात्मविषयं प्रतिवचनमुपन्यस्तम् । एवं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां सिद्धोऽर्थः संगृह्यते[4] । **अस्ति सर्वान्तर** इति । **सर्वान्तरः** सर्वस्मात्कार्यकारणसंघातादभ्यन्तरः । **साक्षी** साक्षादव्यवधानेन सर्वस्य द्रष्टा । सोपाधिकस्य ह्यापेक्षिकमान्तरत्वमन्तःकरणवृत्तिव्यवधानेनैव द्रष्टव्यम् । यस्तु सर्वान्तरो निरुपाधिकः साक्षादीक्षणात्साक्षी स्वयंप्रकाशमानश्च स सर्वप्रत्यग्भूत आत्मा तदेवाऽऽत्मतत्त्वं श्रुतिप्रसिद्धमपरोक्षतमं स्वयंप्रकाशमानमपरिच्छिन्नं ब्रह्म । नानयोर्भेदो विद्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

की निष्ठा मेरे, शिव, मुनि, नारायण, वेद, पराशक्ति या और किसी के द्वारा भी नहीं बताई जा सकती । वह निष्ठा है ही ऐसी कि विद्वान् भी उसके विषय में चुप हो जाते हैं ॥ ५६ ॥ हे देवो ! मैंने केवल करुणा कर आपको सब सुनाया है । सारी बातें समझाने वाला वेद ही है । मेरे वचन उस वेद के ही शेष हैं–वेद की ही व्याख्या हैं ॥ ५७ ॥

बृहदारण्यक-व्याख्यान नामक दसवाँ अध्याय

(श्रवणादि का पूर्वाध्याय में विधान किया । श्रवण से निश्चित किये स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के

---

१ घ. °पि विलोकयञ्शिवं विलोकनं । २ मे वचनं तस्यैव शेषइत्यन्वयः । ३ उषस्तब्राह्मणे वाक्यार्थान्वययोग्यस्त्वमर्थो दर्शित उत्तरस्मिंश्च कहोलब्राह्मणे तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं विहितमित्यनयोरेकवाक्यता 'अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मन' इत्यत्र (३.३.३५) निरणायि । ४ घ. ञ. °ते । स° ।

प्राणापानादिभेदस्य यः सत्तास्फुरणप्रदः । यस्य संनिधिमात्रेण चेष्टते सकलं सुराः ॥ २ ॥

यश्च सर्वस्य चेष्टायामसक्तो निष्क्रियः स्वयम् ।

स हि सर्वान्तरः साक्षादात्मा[1] नान्यः सुरर्षभाः ॥ ३ ॥

योऽयं सर्वान्तरः स्वात्मा सोऽहमर्थो न विग्रहः ।

दृश्यत्वादस्य देहस्य द्रष्टा योऽस्य स एव सः ॥ ४ ॥

योऽयं सर्वान्तरः स्वात्मा सोऽयं न प्राणपूर्वकः ।

दृश्यत्वात्प्राणपूर्वस्य द्रष्टा योऽस्य स एव सः ॥ ५ ॥

"एष त आत्मा" इत्यभिनयेन निरुपाधिकमात्मस्वरूपमुपदिष्टमप्यजानानस्योषस्तस्य बोधनाय "यः प्राणेन प्राणिति" इत्यादिना श्रुतौ यत्तटस्थलक्षणमाम्नातं तत्संगृह्णाति–**प्राणापानादिभेदस्येति** । भेदेन प्रतिभासमानस्य प्राणापानादिकार्यकारणसंघातस्य दारुयन्त्रवत्स्वभावतोऽचेतनस्य यदधिष्ठानवशात्सत्तास्फुरणे भवतस्तच्च प्राणापानादिकं सर्वं यत्संनिधिमात्रेण प्राणापानादिचेष्टावद्भवत्ययस्कान्तसंनिहितायोवत् ॥ २ ॥ **यश्चेति** । तस्य **सर्वस्य** कार्यकारणसंघातस्य सत्यामपि प्राणापानादिरूपायां **चेष्टायां यो** निरुपाधिकश्चिन्मात्ररूप आत्मा स्वयमविक्रियः[2] संस्तत्कृतैः पुण्यपापादिभिर्न सज्जते स खलु प्रागुदीरितः सर्वान्तरत्वादिलक्षण **आत्मे**त्यर्थः ॥ ३ ॥ **योऽयमित्यादि** । "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादौ प्रत्यगर्थवाचिनोऽहमित्यस्मच्छब्दस्य **सर्वान्तरः** सर्वप्रत्यग्भूत उदीरित आत्मैव मुख्योऽर्थः । न तु षाट्कौशिकं स्थूलशरीरम्, घटादिवदचेतनत्वेन तस्य **दृश्यत्वात्** । **अस्य** च स्थूलदेहस्य **यो द्रष्टा स एव** सर्वान्तर आत्मेत्यर्थः ॥ ४ ॥ [3]एवं स्थूलशरीरादात्मन आन्तरत्वं प्रतिपाद्य लिङ्गशरीरादपि तत्प्रतिपादयति–**योऽयमिति** । **न प्राणपूर्वक** इति । प्राणापानाद्याः पञ्च वायवो धीकर्मेन्द्रियाणि दश बुद्धिमनसी चेत्येवं सप्तदशात्मको यः सूक्ष्मदेहः सोऽपि नाऽऽत्मा । तस्यापि भूतकार्यत्वेन **दृश्यत्वात्** । तत्कार्यत्वं च शिवमाहात्म्यखण्डे प्रतिपादितम् । एवं कार्यकारणसंघातस्य **यो द्रष्टा स** सर्वान्तर आत्मेति ताटस्थ्येन निरुपाधिकस्वरूपं लक्षितम् ॥ ५ ॥

लिये शाकल्यब्राह्मणातिरिक्त परिशिष्ट तृतीयाध्याय के ब्राह्मणों का और चतुर्थाध्याय के तीसरे और चौथे ब्राह्मण का संक्षिप्त परिचय यहाँ कराया जायेगा । गार्गी के अक्षरविषयक प्रश्न व उत्तर प्रमुखतम होने पर भी उषस्त ब्राह्मण से एकवाक्यताप्राप्त कहोल ब्राह्मण के सूचित संग्रह से गतार्थ समझकर तथा अन्यत्र शुद्ध स्वरूप का बहुशः प्रतिपादन किया होने से यहाँ छोड़ दिये हैं । इस प्रकार मुनिकाण्ड के प्रतिपाद्यका बोध कराने के लिये–) ब्रह्मा जी बोले–सबसे व सबके अन्दर विद्यमान स्वप्रकाश प्रत्यगात्मरूप साक्षी है । वही मुख्यतः अपरोक्ष अपरिच्छिन्न व्यापक ब्रह्म है । (एवं च उषस्त-कहोल ब्राह्मणों की एकवाक्यता–एक-अर्थ-प्रतिपादकता–के बल पर महावाक्यार्थ का लाभ हो जाता है ।) ॥ १ ॥ प्राण अपान आदि भेद वाले कार्यकरण संघात को सत्ता व स्फूर्ति (सिद्धि) देने वाला जो है, जिसकी केवल संनिधि होने से सब अपना काम करते हैं किंतु जो उन सबके कामों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, स्वयं निष्क्रिय है, वही सबसे व सबके अंदर अपरोक्ष आत्मा है, अन्य कोई नहीं । (आत्मसंनिधि से सबकी चेष्टायें संभव होती हैं कहने में संनिधि का अर्थ इतरेतराध्यासवैशिष्ट्य

---

१ ङ "क्षात्परमार्थः सु" । २ च. "यः सन कृतपु" । ३ यद्यपि साक्षात्त्वादात्मनस्तत्र लिंगप्रदर्शनं व्यर्थमथापि सौक्ष्म्याद्वस्तुनोऽशुद्धचेतस्कस्य च तद्दृष्टिदौर्लभ्याद्वात्सल्याच्छ्रुति र्लिङ्गैरपि बोधयामासेति ।

दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता च यः सुराः ।
विज्ञातेरपि विज्ञाता स हि सर्वान्तरः परः ॥ ६ ॥

"न हि[1] दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येत्" इत्यादिना श्रुतौ साक्षादेव तत्वरूपं शृङ्गग्राहिकया स्वप्रकाशचिदात्मकं लक्षितं, तत्संगृह्णाति– **दृष्टेर्द्रष्टेति** । रूपशब्दादिविषयसंप्रयुक्तचक्षुरादि[2] द्वारा रूपाद्युपरागेण जायमाना स्वरूपचिच्छायाव्याप्ता बुद्धिवृत्तिर्दृष्टिश्रुत्यादिषष्ठ्यन्तपदैर्विवक्षिता । दृष्टिश्रुत्यादयो ह्यनात्मभूतं रूपादिविषयजातमेव प्रकाशयन्ति, न तु स्वात्मनश्चैतन्यप्रकाशेन व्याप्तारं रूपादिरहितं प्रत्यगात्मानम् । स खलु लौकिक्या दृष्टेर्द्रष्टा चैतन्यस्वरूपया स्वभावभूतया दृष्ट्या व्याप्तया कथं कर्मीभूतया लौकिक्या दृष्ट्या व्याप्येत । एवं 'श्रुतेःश्रोते'त्यादावपि योजनीयम् । एवं बुद्धिवृत्तेः प्रकाशकः स्वप्रकाशचिदात्मा स एवोक्तविधः **सर्वान्तरः** परमात्मेत्यर्थः ॥ ६ ॥

समझना चाहिये । चेष्टा तभी होती है जब चेतन यों समझे कि मैं कर रहा हूँ । यह समझना अन्योन्याध्यास के बिना होता नहीं । सूर्यादि की चेष्टायें इसीलिये उनके अभिमानी पुरुषों की अनुमापिका होती हैं । अतएव व्यापक चेतन के रहते भी मुर्दा चेष्टा नहीं करता इत्यादि उपपत्तियाँ समझ लेनी चाहिये ।) ॥ २–३ ॥ जो यह सर्वान्तर (सबसे व सबके अंदर) निज आत्मा है वह 'मैं' शब्द का मुख्य अर्थ है । शरीर 'मैं' शब्द का मुख्य नहीं गौण अर्थ है । शरीर तो घटादि की तरह दृश्य है । जो इस शरीर का द्रष्टा है वही मुख्य अर्थ है 'मैं' शब्द का । (शरीर है गौण अर्थ किन्तु क्योंकि हमें यह मालूम नहीं इसलिये वही मुख्य अर्थ की तरह लगता है । इसीसे शरीरादि को मिथ्यात्मा कहा जाता है । गौणात्माशब्द वहीं प्रयुक्त होता है जहाँ यह बोध बना रहे कि अर्थ अमुख्य है । यह विषय गीताभाष्य में (पृ ५३१ आ.आ.) तथा बृहद्भाष्य में (पृ. १६६) आचार्यों ने स्पष्ट किया है ।) ॥ ४ ॥ जो यह सर्वान्तर आत्मा है वह प्राणादि सूक्ष्मशरीररूप नहीं है क्योंकि सूक्ष्मांग भी दृश्य हैं–ज्ञेय है । जो इसका ज्ञाता है वही आत्मा है ॥ ५ ॥ सर्वान्तर परमात्मा वही है जो बुद्धिवृत्तिरूप दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति आदि को जानने वाला अतएव द्रष्टा, श्रोता, मंता, विज्ञाता कहा जाता है । ('अभी मुझे घटज्ञान नहीं है', 'अब मुझे घटज्ञान है'–इस प्रकार के अनुभव से दो ज्ञान सिद्ध होते हैं । एक तो वह जो 'नहीं था' और 'हो गया', अर्थात् उत्पत्ति विनाशशाली अनित्य ज्ञान । दूसरा वह जो बना ही रहा, 'नहीं है' को भी जानता रहा और 'हो गया' को भी जानता रहा । यह नित्य ज्ञान आत्मरूप है । अनित्यज्ञान का स्वरूप यों बताया जाता है कि विषयसम्बन्ध अथवा अन्य किन्हीं–जैसे लिंग ज्ञान और व्याप्ति संस्कार–कारणों से अन्तःकरण में एक परिवर्तनविशेष हो जाता है जिसे 'वृत्ति' कहते हैं । हर वृत्ति में कोई ऐसा धर्म रहता है जो उस वृत्ति को अन्य वृत्तियों से अलग किये रहता है । यही 'आकार' शब्द से कहा जाता है । 'विषयाकारवृत्ति' कहने का मतलब है कि उस वृत्ति का निरूपण आवश्यकता रखता है विषय के निरूपण की । विषयनिरूपण–उल्लेख–किये बिना उस वृत्ति का निरूपण नहीं किया जा सकता । (देखें लघुचं. पृ. ४० पं. १ बम्बई और वेदान्ततत्त्वविवेकदीपिका पृ. २७७) । अथवा आकार का अर्थ है–विषय के 'है' इस प्रकार के व्यवहार के प्रतिबंधक अज्ञान को निवृत्त करने की योग्यता । (देखें अद्वैतसि. पृ ४८३ पं. १४ बम्बई) । अर्थात् जिसके कारण 'घट

१ श्रुतौ हिर्न दृश्यते । पश्येरिति च मध्यमपुरुषप्रयोगस्तत्र । २ घ. °दिरू° ।

अतोऽन्यदार्तं सकलं न सत्यं तु निरूपणे ।
स एव सर्वं नैवान्यदिति सम्यङ्निरूपणे[1] *॥ ७ ॥*

इत्थं सर्वान्तरमात्मानं स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यामुपदिश्य तद्व्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वमाम्नायते–"अतोऽन्यदार्तम्" इति । तदभिप्रायमाविष्करोति–अत इति । अतोऽस्मात्सर्वान्तरादात्मनोऽन्यद्यत्कार्यकारणादिकं भूतभौतिकं जगदस्ति तदार्तमधिष्ठानतया याथात्म्यज्ञानेन शुक्तिरूप्यवद्बाधितम् । अतस्तस्य व्यवहारदशायामेव सत्यत्वम् । परमार्थनिरूपणे तु नैव तत्सत्यम् । किंतु सर्वान्तरे प्रत्यगात्मन्यध्यस्तत्वेन तत्रैव लीयमानमधिष्ठानमात्रेणावशिष्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

है' ऐसा व्यवहार नहीं हो पा रहा है वह है उसके वैसे व्यवहार का प्रतिबंधक अज्ञान, उस अज्ञान को हटाने की योग्यता जिस वृत्ति में है वह वृत्ति घटाकार वृत्ति कहलाती है । यदि एतादृश आकार ज्ञान का ही है तो निरुक्तयोग्यता की अवच्छेदकता या उपाधिता को वृत्ति की तदाकारता समझ लेना चाहिये । आकार से अतिरिक्त, ज्ञान–वृत्तिज्ञान–में प्रायः 'प्रकार' भी हुआ करता है । जिस ज्ञान में जिस विशेषता का भान होता है वह प्रकार कहलाता है । ज्ञान किसी चीज़ का होगा और उसमें कोई खासियत प्रतीत होगी जिसका रूप होगा 'अमुक विशेषता वाला' । जैसे 'लालिमा वाला घट' इस ज्ञान में घट का भी भान है, लालिमा का भी और उनके सम्बन्ध का भी । इस ज्ञान में लालिमा ही प्रकार है और घड़ा 'विशेष्य' कहलाता है । जिसका ज्ञान हुआ वह विशेष्य और उसमें जिस विशेषता का ज्ञान हुआ वह प्रकार । किन्तु कुछेक ज्ञान निष्प्रकारक भी होते हैं । तब ज्ञान में आकार तो होता है, प्रकार नहीं । वृत्ति मनोविकार होने से अनात्मा अतः ज्ञानरूप नहीं जैसे अनात्मा घट ज्ञानरूप नहीं, किन्तु स्वच्छ द्रव्य होने से (अपंचीकृत भूतों के सात्त्विकांश से निर्मित होने से) मन में अतः उसकी वृत्तियों में यह विशेषता है कि उससे अविविक्त होने पर आत्मस्वरूप ज्ञान उसमें (वृत्ति में) प्रतीत हो जाता है जैसे घटादि में सामर्थ्य है कि आत्मा से अविविक्त होने पर आत्मस्वरूप सत्त्व अपने में प्रतीत करा देते हैं । वृत्ति जिससे अविविक्त हो ज्ञान प्रतीत होती है वह आत्मा है जो वृत्तिसद्भाव और उसके असद्भाव में समान स्फुरित होता है । 'द्रष्टा' अर्थात् देखने वाला, चेतन ही कहा जा सकता है, जड घट आदि तो नहीं । किन्तु सामान्यतः दृष्टि होने पर ही द्रष्टा कहा जाता है, न होने पर नहीं । दृष्टि न होने पर भी चेतन तो है ही जो दृष्टि के असद्भाव में भास रहा है, जिसके भासते हुए ही दृष्टि का असद्भाव सिद्ध होता है । यदि चेतन ही न हो तो दृष्टि उत्पन्न हो किससे अविविक्त होकर ज्ञान बनेगी ? दृष्टि से बनने वाला द्रष्टा तो अहंकार है, दृष्टि के न रहने पर बिना दृष्टि वाला भी अहंकार है जो कभी दृष्टि वाला व कभी बिना दृष्टि वाला है, जिसमें दृष्टि वाला होना और उससे रहित होना दोनों कल्पित होते हैं वह दृष्टि का द्रष्टा यहाँ विवक्षित है । जिससे अविविक्त हो दृष्टि दृष्टि बन पाती है, वृत्ति ज्ञान बन पाती है, वह द्रष्टा है । बृहद्भाष्य में (पृ ९३ तथा पृ. २४७–२४९) इसका खुलासा देखना चाहिये ।) ॥ ६ ॥ इस आत्मा से अतिरिक्त सभी मिथ्या है, विचार करने पर वह सब असत्य ही निकलता है । ठीक-ठीक समझें तो आत्मा ही सब तरह से प्रतीत हो रहा है ॥ ७ ॥ जैसे सब पार्थिव वस्तुएँ पृथिवी में ओत-प्रोत हैं वैसे (अपने कार्यों समेत)

---

१ च. °रूपणम् ॥ ७ ॥

यथा पृथिव्यामोतं च प्रोतं च सकलं सुराः ।
तथाऽप्सु सकलं देवा[1] ओतं प्रोतं न संशयः ॥ ८ ॥
आपश्च वायौ हे देवा ओताः प्रोतास्तथैव च ।
अन्तरिक्षेषु वायुश्च लोकेषु सुरपुंगवाः ॥ ९ ॥
अन्तरिक्षाश्च लोकाश्च तथा गन्धर्वकेषु च ।
लोकेष्वादित्यलोकेषु[2] स्थिता गन्धर्वसंज्ञिताः ॥ १० ॥

एवमध्यात्मं प्रत्यगात्मनः सर्वान्तरत्वमुपदिश्याधिभूतमपि तदुपदेष्टुं **गार्गीब्राह्मणं**[3] संगृह्णाति–**यथा पृथिव्यामित्यादिना** । तत्र हि सर्वान्तरस्याऽऽत्मनो[4] निरतिशयं सूक्ष्मत्वं व्यापित्वं च दर्शयितुं पृथिव्यादीनां ब्रह्मलोकान्तानामुत्तरोत्तरमोतप्रोतभावेन सूक्ष्मताव्यापित्वेन तरतमभावेनाऽऽम्नायते "यदिदं सर्वमोतं च प्रोतं च" इत्यादिना । यथा तन्तुषु पटो[5] दीर्घसूत्रैस्तिर्यक्सूत्रैश्चोतप्रोतभावेनावस्थितस्तथा पार्थिवं सर्वं जगत्कारणभूतायां सूक्ष्मायां व्यापिकायां पृथिव्यामोतप्रोतभावेनावस्थितं । यथैवं तथा तत्सर्वं पृथिवीतत्त्वं कारणभूतास्वप्स्वोतप्रोतभावेनावस्थितम् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ ८ ॥

सारी पृथ्वी जल में ओत-प्रोत है । ('वे' धातु (भ्व. उभय) का अर्थ होता है बुनना । उससे क्त प्रत्यय करने से 'उत' शब्द बनता है । उत का अर्थ है बुना हुआ । 'आ' उपसर्ग लग जाने से ओत शब्द बना है । अर्थ हुआ अच्छी तरह बुना हुआ । यही प्रोत शब्द का भी अर्थ है । जब दोनों का साथ प्रयोग होता है तो तात्पर्य होता है लम्बाई और चौड़ाई में बुना हुआ । जो जिससे बुना होता है वह उससे अनतिरिक्त होता है जैसे कपड़ा धागे से अनतिरिक्त होता है । एवं च समस्त कार्य अपने कारण से अनतिरिक्त होता है । अतः पार्थिव वस्तुमात्र पृथ्वी से और वह अपने कारण जल से अनतिरिक्त होने से जल में ओत-प्रोत कही जाती है अर्थात् यदि पृथ्वी को कपड़ा मानें तो उसकी लम्बाई भी जल से बुनी हुई है और चौड़ाई भी, जल से अतिरिक्त कुछ नहीं है । ऐसे ही अन्यत्र समझ लेना चाहिये ।) ॥ ८ ॥ जल वायु में ओत-प्रोत है । (अग्नि क्योंकि लकड़ी, बिजली आदि के परतंत्र ही मिलती है और यहाँ किसी स्वतंत्र तत्त्व में ओतप्रोतता बतानी है इसलिये अग्नि के भी कारण वायु में जल की ओत-प्रोतता कह दी है ।) वायु अंतरिक्ष लोकों में ओत प्रोत है । (पांचभौतिक होने से यहाँ सब लोकों का बहुवचनान्त निर्देश उनके घटक भूतों के बहुत्व से है । उत्तरोत्तर लोकों को सूक्ष्म और व्यापक समझते जाना चाहिये ।) ॥ ९ ॥ अन्तरिक्ष लोक गंधर्वलोकों में, गंधर्वलोक आदित्यलोकों में, आदित्यलोक चंद्रलोकों में, चंद्रलोक नक्षत्र लोकों में, नक्षत्र लोक देवलोकों में, देवलोक इंद्रलोकों में, इंद्रलोक प्राजापत्य लोकों में (प्रजापति अर्थात् विराट्–समष्टि स्थूल शरीराभिमानी ।), प्राजापत्य लोक ब्रह्मलोकों में (ब्रह्मलोक अर्थात् स्थूलप्रपंच

---

१ झ. "वास्तथ्रोतं नैव सं" । २ घ. "त्यपूर्वेषु । ३ कहोलब्राह्मणस्य त्वर्थ उपस्तब्राह्मणार्थव्याख्यान एव योजितत्वात्पृथगुक्ते वैयर्थ्यादिति भावः । न च तर्हि श्रुतौ कथं ब्राह्मणद्वयमिति शंक्यम् तत्र पदार्थशोधनपूर्वकत्वस्य दिदर्शयिषितत्वात्। ४ अनुभूतिप्रकाशे 'षष्ठेस्मिन् ब्राह्मणे ब्रह्मकार्यं सर्वं विविच्यते । सर्वान्तरत्वं सुज्ञेयं ब्रह्मणः सर्वनिर्णयाद् ॥' (१७.१८८) ॥ इत्युक्तम् । ५ ओतं दीर्घपटतन्तुवत् प्रोतं तिर्यक्तन्तुवद्, विपरीतं वेति भाव्यम् । अस्य स्वयमेव स्पष्टीकरणं दर्शितमन्तर्बहिश्च व्याप्तमिति ।

चन्द्रलोकेषु चाऽऽदित्यलोका ओतास्तथैव च ।
चन्द्रलोकाश्च नक्षत्रलोकेषु सुरपुंगवाः ॥ ११ ॥
देवलोकेषु नक्षत्रलोका ओतास्तथैव च ।
देवलोकाश्च हे देवा इन्द्रलोकेषु संस्थिताः ॥ १२ ॥
प्राजापत्येषु लोकेषु स्थिता ऐन्द्राः सुरर्षभाः ।
प्राजापत्यास्तथा लोका ब्रह्मलोकेषु संस्थिताः ॥ १३ ॥
[1]विष्णुलोकेषु हे देवा ब्रह्मलोकाः सुसंस्थिताः ।
विष्णुलोकास्तथा ओता रुद्रलोकेषु हे सुराः ॥ १४ ॥
रुद्रलोकाः स्थिता लोकेष्वीश्वरस्य सुरर्षभाः ।
सदाशिवस्य लोकेषु स्थिता ह्यैशाः सुरर्षभाः ॥ १५ ॥
ओताः प्रोताश्च ते लोका ब्रह्मसंज्ञे परे शिवे ।
एवं सर्वे सदा साक्षिस्वरूपे प्रत्यगात्मनि ॥ १६ ॥

आपश्च वायाविति । नन्वपामग्निः कारणम् "अग्नेरापः" इति श्रुतेः, तथा चाऽऽपोऽग्नाविति वक्तव्यम् ? नैष दोषः । अग्नेः पार्थिवं वायव्यं धातुमनाश्रित्येतरभूतवत्स्वातन्त्र्येणावस्थानं नास्तीति तत्कारणभूते वायावपामोतप्रोतभावो व्यपदिश्यते । **अन्तरिक्षेषु वायुश्चेत्यादि** । अन्तरिक्षलोकानां वायोः संचरणस्थानत्वात्स तत्रोतप्रोतभावेनावस्थितः । सूक्ष्मतारतम्यभावक्रमेणोत्तरोत्तरं सातिशयभोगाश्रयाकारेण परिणतानि संहतानि पञ्चभूतान्येवावस्थाविशेषैस्तत्तल्लोकत्वेन व्यपदिश्यन्ते । अत एव सर्वत्रान्तरिक्षलोकेषु गन्धर्वलोकेष्वित्येवमेकैकस्मिन्नपि लोके बहुवचनप्रयोगः ॥ ९-१२ ॥ **प्राजापत्येष्विति** । प्रजापतिः स्थूलशरीराभिमानी[2] विराट् । तच्छरीरारम्भकाणि वैराजपदोपभोगसाधनानि पञ्च भूतानि प्राजापत्या लोकास्तेष्वित्यर्थः । **प्राजापत्यास्तथेति** । हिरण्यगर्भरूपापन्नेन ब्रह्मणा पञ्चीकृतानि ब्रह्माण्डारम्भकाणि तान्येव वियदादिभूतानि ब्रह्मलोकशब्देनोच्यन्ते । तेषु कारणभूतेषु कार्यभूताः प्राजापत्यलोका ओतप्रोतभावेनावस्थिता इत्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

के उत्पादक पंचीकृत पंचमहाभूत ।), ब्रह्मलोक (अर्थात् अपंचीकृत पृथ्वी) विष्णुलोकों में (अर्थात् अपंचीकृत, सूक्ष्म जल में), विष्णु लोक रुद्रलोकों में (सूक्ष्म तेज में), रुद्रलोक ईश्वर लोकों मे (सूक्ष्म वायु में), ईश्वर लोक सदाशिव लोकों में (सूक्ष्म आकाश में) तथा सदाशिव लोक ब्रह्म नामक परमशिव में (कारण ब्रह्म में) और ये सभी साक्षी-स्वरूप प्रत्यगात्मा में ओत-प्रोत हैं । (यद्यपि उपनिषत् में गार्गी ब्राह्मण की समाप्ति स्थूल प्रपंच के उत्पादक पंचीकृत पंचमहाभूतों की व्यापकता में हो जाती है जिसे ब्रह्मलोक शब्द से कहा

१ उपनिषदि ब्रह्मलोकपर्यन्तमेवोक्तम् । २ घ. झ. स्थूलप्रपञ्चाभि" ।

सर्वान्तरतमे प्रोता ओता अध्यासतः स्थिताः ॥ १७ ॥

सर्वाधिष्ठानरूपस्तु प्रत्यगात्मा स्वयंप्रभः ।

न कस्मिंश्चित्स्थितः साक्षी सत्स्वरूपः सुरर्षभाः ॥ १८ ॥

यस्मिन्नध्यस्तरूपेण स्थितं सर्वं निरूपणे ।

स एव सकलं नान्यदिति सम्यङ्निरूपणे[1] ॥ १९ ॥

योऽयमात्मा स्वयं भाति सत्तयाऽन्यविवर्जितः ।

स एव साक्षात्सर्वेषामन्तर्यामी न चापरः ॥ २० ॥

अध्यासतः स्थिता इति । यथैवमेते सर्वे लोकाः स्वस्वव्यापकेष्वध्यासत एवावस्थिता अतो न वास्तवाः । एवमेव सर्वदा ते सर्वे ब्रह्मलोकान्ताः स्वप्रतीत्यधिष्ठानभूते सच्चिद्रूपे प्रत्यगात्मनि सर्वान्तरे मायावशेनोतप्रोतभावेनावस्थिताः । सर्वाधिष्ठानभूतस्तु **प्रत्यगात्मा** स्वव्यतिरिक्ते[2] **कस्मिंश्चि**दोतप्रोतभावेनावस्थितो न भवति किंतु स्वमहिमप्रतिष्ठः । पराधीनप्रकाशानां सद्विलक्षणानामेव सत्तास्फुरणसिद्धये तादृशे वस्तुन्योतप्रोतभावः । अयं तु **स्वयंप्रभः** स्वयंप्रकाशमानः सत्स्वभावश्च, कुतोऽन्यस्मिन्नाधार ओतप्रोतभावेनावतिष्ठेतेत्यर्थः ॥ १७ ॥ १८ ॥ एवं पृथिव्यादीनां ब्रह्मलोकान्तानां सर्वान्तरे प्रत्यगात्मन्यध्यस्ततया प्रतीतिं प्रतिपाद्य परमार्थतोऽधिष्ठानाव्यतिरिक्तत्वमाह–**यस्मिन्नि**ति ॥ १९ ॥ एवं सर्वजगत्कल्पनास्पदत्वेनाऽऽत्मनः सर्वान्तरत्वमुपपाद्यान्तर्यामितयाऽपि[3] तत्प्रतिपादयितु**मन्तर्यामिब्राह्मणं** संगृह्णाति–**योऽयमात्मे**त्यादिना । **योऽयं**सर्वान्तरः प्रागुदीरित **आत्मा** सत्स्वभावः **स एव सर्वेषां** हृद्यन्तरवस्थाय नियमनादन्तर्यामी । न तु प्रत्यगात्मनस्तस्मादन्यः कश्चिदित्यर्थः ॥ २० ॥

है तथापि क्योंकि आरुणि प्रश्न में सूत्रात्मा का वर्णन कर दिया गया है इसलिये पुराण में उसका भी संग्रह कर लिया जाये अतः सूक्ष्मभूतों की क्रमशः व्यापकता कह दी है । ब्रह्मादिलोकशब्दों से पृथ्व्यादि ग्रहण करने में पंचब्रह्माध्याय (४.पूर्व.१४) का आधार समझना चाहिये । अविद्यावद्ब्रह्म आकाश का भी कारण होने से आकाश उससे ओत-प्रोत होना स्वाभाविक है । शुद्ध चेतन अविद्या का भी अधिष्ठान होने से अविद्यावाला शुद्ध से ओत-प्रोत है । आगे शुद्ध किसी से ओत-प्रोत नहीं ।) साक्षी ही सबसे अंदर है (अर्थात् उससे ओत-प्रोत सब हैं, वह किसी से नहीं) । उसी में अध्यास से सब स्थित हैं । सबका अधिष्ठान-स्वरूप स्वप्रकाश प्रत्यगात्मा ही है । वह किसी में स्थित नहीं है । वह सत्स्वरूप है ॥ १०–१८ ॥ वास्तविकता का विचार करने पर जिसमें सब अध्यस्त रूप से स्थित हैं वही सब कुछ है–सब रूपों में प्रतीत हो रहा है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ १९ ॥

---

१ ध. च. "पणम् ॥ १९ ॥ २ ङ. स्वरूपव्यति" । ३ उद्दालकः सूत्रमन्तर्यामिणं चाप्राक्षीत् । तत्राद्यस्योत्तरं वायुरिति । पूर्वं भुज्युं प्रति य उक्तो वायुः स एवेहापि सूत्रमुच्यते । 'अपंचीकृतभूतानां कार्यं सूत्रमुदाहृतम् । अण्डारम्भकभूतानि प्रोतान्योतानि चात्रहि । सूत्रादप्यान्तरं तत्त्वमन्तर्याम्याख्यमुच्यते । कार्यकारणभावोऽयमस्मिन्नुक्ते समाप्यते ॥' (१७.२१०–११) ॥ इत्यनुभूतिप्रकाशे संग्रह । अन्तर्यामी नारायणाख्य ईश्वरो न प्रधानादिः । ततोत्रसगुणब्रह्मस्वरूपं दर्शितमिति ज्ञेयम् । अन्तर्याम्यधिकरणे (१.२.५.१८) विस्तरः ॥

पृथिव्यामपि यस्तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरः सदा ।
यं न वेद सुराः पृथ्वी शरीरं यस्य भूरपि ॥ २१ ॥
योऽन्तरो यमयत्येतां भूमिं निष्क्रियरूपतः ।
एष एव हि नः साक्षादन्तर्यामी परामृतः ॥ २२ ॥
अप्सु तिष्ठन्नपां देवा अन्तरो यं न ता विदुः ।
आपः शरीरं यस्यैता योऽन्तरो यमयत्यपः ॥
एष एव हि नः साक्षादन्तर्यामी परामृतः ॥ २३ ॥

श्रुतौ ह्यधिदैवतमधिभूतमध्यात्मं च तदुपादानत्वेनान्तरवस्थितो निरस्तसमस्तोपाधिकः प्रत्यगात्मा[1] तत्तन्नियमनव्यापारयोगादन्तर्यामीत्याम्नातं "यः पृथिव्यां तिष्ठन् " इत्यादिना । तच्छ्लोकी करोति-**पृथिव्यामिति** । यः कारणभूत आत्मा **पृथिव्यामभितस्तिष्ठ**[2]न्भवति; पृथिव्या वहिरवस्थितो न तां नियन्तुं शक्नोतीत्यभिप्रेत्य विशिनष्टि-**पृथिव्या अन्तर** इति । उपादानकारणत्वेन पृथिव्या अभ्यन्तरप्रदेशेऽपि व्याप्य वर्तमानत्वात्स **पृथिव्या अन्तरः** । एवमन्तर्वर्तमानं **यं पृथिवी** देवता **न वेद** 'ममाप्यन्यः कश्चिन्नियन्ता वर्तत' इति । **यस्य** चैषा पृथिवी **शरीरं** शरीरवदाच्छादिका, न ततोऽतिरिक्तं शरीरमस्ति[3] । एवंभूतो यः परमा**त्मैतां भूमिमन्तरवस्थितः** सन्नियमयति स्वव्यापारे प्रेरयत्येष **एवान्तर्यामी** । नन्वन्तर्यमनलक्षणव्यापारयोगात्तस्य विक्रियाप्रसक्तिरित्यत आह-**निष्क्रियेति** । यत्तस्य पारमार्थिकं निष्क्रियं रूपं तदपरित्यागेनैवोपाधिवशान्नियच्छतीत्यर्थः । ननु सोपाधिकत्वादयमप्यस्मदादिवत्कश्चिज्जीव एवेत्याशङ्क्याऽऽह-**परामृत** इति । अन्तर्यमनोपाधेरात्मीयत्वेनानभिमाननात्साक्षादयमेव **परामृतः** । विकारजातेभ्यः परः सांसारिकदुःखाद्यसंस्पृष्टः परमात्मेत्यर्थः । **अप्सु तिष्ठन्निति**पर्यायेऽप्येवं योज्यम् ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

जो यह आत्मा स्वयं भासता है और सद्रूप से स्थित है वह अद्वितीय है । वही सबका अव्यवहित अंतर्यामी है, अन्य कोई नहीं । ('सर्वलोकनियन्तृत्वं तु कर्मफलप्रदानादिना स्थितिहेतुत्वम्' ऐसा अन्तर्याम्यधिकरण में ब्रह्मविद्याभरणकार ने स्पष्ट किया है । अन्तर्यामी परमेश्वर ही है । मायाशक्ति ही उनके नियमन का साधन है जैसा न्यायरक्षामणि में कहा है 'श्रुत्यन्तरप्रसिद्धजगत्कारणत्वाक्षिप्तसर्वशक्तिशालिनः परमेश्वरस्य स्वत एव सर्वनियमन-शक्तियोगसम्भवाच्च (पृ. १२८)' साक्षी को ही अन्तर्यामी भी नहीं कहा गया है क्योंकि 'शारीरश्च' (१.२.२०) सूत्र में रक्षामणि में स्पष्ट किया है कि 'य आत्मनि', 'यो विज्ञाने'-इन वाक्यों में प्रमाता नहीं साक्षी का ग्रहण है 'अयं चात्मविज्ञानशब्दोक्तो जीवसाक्षिरूप एव न तु तत्तत्प्रमातृरूप, एकवचननिर्देशात् ।' एवं च समष्टि मायोपाधिक ईश्वर ही अन्तर्यामी कहा जा रहा है । प्रमाता तो 'सर्वेषु भूतेषु' से कहे ही जा चुके हैं । यद्यपि साक्षी एक है तथापि वह आवरण और विक्षेप दोनों वाला है जबकि अंतर्यामी केवल

१ सर्वेषु पर्यायेषु 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृत' इत्युक्तेः । उपाध्यपरामर्शे प्रत्यगात्मा परामर्शे चान्तर्यामी त्वं च तच्छासित इति भावः । २ झ. °ष्ठति पृ° । ३ अन्तर्यामिणइति शेषः । 'परार्थकर्तव्यतास्वभावत्वात् परस्य यत्कार्यं करणं च तदेवास्ये'ति भाष्यम् । परस्य जीवस्ययोर्थः पुमर्थस्तमसौ करोत्विति स्वभावोन्तर्यामिणस्ततश्च देहान्तरस्यानावश्यकत्वमित्यर्थः । अत्रानुभूतिप्रकाशे 'न चैकदेहयोगेऽपि यन्तृयन्तव्यसंकरः । बहिष्ठां देवतां भूमिमन्तस्थेशो नियच्छति ॥ कार्योपाधि र्वहिष्ठः स्यात्कारणोपाधिरान्तरः । उपाधिमात्रतो भेदो वस्तुतस्तु न भिद्यते ॥' (१७.३१७-१८) इति स्पष्टीकृतम् ।

एवमग्नेश्च यो नेता चान्तरिक्षस्य हे सुराः ॥ २४ ॥

वायुपूर्वस्य सर्वस्य चेतनाचेतनस्य च ।

एष एव हि नः साक्षादन्तर्यामी परामृतः ॥ २५ ॥

अदृष्टोऽयं सुरा द्रष्टा श्रोतैवायं तथाऽश्रुतः ।

अमतश्च तथा मन्ता विज्ञाता केवलं सुराः ॥ २६ ॥

एवं पर्यायद्वयं यथाश्रुति ग्रन्थयित्वा "योऽग्नौ तिष्ठन्" "योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्" इत्येवमादीन्पर्यायान्समानपाठत्वादतिदेशेन संगृह्णाति–**एवमिति** । **वायुपूर्वस्येति** । "यो वायौ तिष्ठन्" इति निर्दिष्टो वायुः पूर्वो यस्य "दिवि तिष्ठन्" इत्यादिना निर्दिष्टस्य द्युप्रभृतेः स तथोक्तः । तस्य चेतनाचेतनात्मकस्य सर्वस्य कार्यप्रपञ्चस्य यो नेता स्वव्यापारेषु नियमेन प्रेरयितैष एव सर्वान्तरः प्रत्यगात्मैवान्तर्यमनयोगा**दन्तर्यामी** भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ नन्विममन्तर्यामिणं स्वात्मनि तिष्ठन्तमस्मदादिवत्पृथिव्यादिदेवता अपि कस्मान्न विदुरित्यत आह–**अदृष्टोऽयमिति** । रूपराहित्येन कस्यचिदपि चक्षुर्दर्शनस्यायमविषय **इत्यदृष्टः** । स्वयं तु चक्षुषि संनिहितत्वाद् दृशिस्वरूप इति द्रष्टा । तथा शब्दराहित्यात्कस्यचिदपि श्रोत्रविषयतामनापन्न **इत्यश्रुतः** । सर्वश्रोत्रेषु संनिधानेनालुप्तश्रवणशक्तित्वाच्छ्रोता । संकल्पविकल्पात्मकं मनस्तेनाविषयीकृतत्वादमतः स्वयमलुप्तमननशक्तिः सन्सर्वत्र मनःसु संनिधानान्मन्ता निश्चयात्मिका बुद्धिर्विज्ञानं तत्र संनिधानात्**केवलं विज्ञातैव** न तु तेन विज्ञानेन विषयीकृत इत्यर्थः । एतेन "अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोता" इति श्रुतेरर्थः संगृहीतः । एवमन्तर्यामिण एव द्रष्टृश्रोतृमन्तृत्वादिरूपेण प्रतिपादनान्नियन्तव्यानां द्रष्टृप्रभृतीनामन्य एव नियन्तेति भेदभ्रमो व्युदस्तः । अत एव[1] श्रूयते "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता" इत्यादि ॥ २६ ॥

विक्षेप वाला है । अनुभूतिप्रकाश में कहा है 'प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासं स्वकार्यनियमात्मकम् । तदुपाधिर्नियन्तैष परः प्रोक्तो न तु स्वतः ॥ सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः । जगज्जन्मस्थितिध्वंसहेतुरेष महेश्वरः ॥' (१७.२२१-२२) ॥ यहाँ मन्दों को शंका उठती है कि जीव का नियामक उससे भिन्न ईश्वर बताया गया होने से जीव-ईश्वर की एकता कैसे कही जा सकती है ? इसका उत्तर सूत्रभाष्य में यों दिया है 'अविद्याप्रत्युपस्थापित- कार्यकरणोपाधिनिमित्तोयं शारीरान्तर्यामिणोः भेदव्यपदेशः, न पारमार्थिकः ।' (१.२.२०) । अथात् एक परमशिव ही उपाधिभेद से जीव और उसका अन्तर्यामी बन जाता है, वस्तुतः ये दो हों यह बात नहीं ।) ॥ २० ॥ जो पृथ्वी के भी भीतर रहता है, जिसे पृथ्वी देवता भी नहीं जानती, पृथ्वी ही जिसका भी शरीर है, जो निष्क्रिय रहते हुए ही भीतर से ही पृथ्वी का शासन करता है, यही हम सबका अव्यवहित अन्तर्यामी है, परमात्मा है, अमृत है ॥ २१–२२ ॥ जो जल के भीतर रहता है, जिसे जल देवता भी नहीं जानती, जल जिसका भी शरीर है, जो जल पर शासन करता है, यही हमारा साक्षात् अन्तर्यामी है, परम है, अमृत है ॥ २३ ॥ इसी तरह जो अग्नि, अंतरिक्ष, वायु आदि समस्त चराचर का शासक है, यही हमारा साक्षात् अन्तर्यामी है, परम है, अमृत है ॥ २४–२५ ॥ यह ऐसा द्रष्टा है जो कभी दीखता नहीं, यह

---

१ 'लोकसिद्धा नियम्यस्य जीवस्य द्रष्टृता तथा । अन्तर्याम्यपि चेद् द्रष्टा देहे भासेत तद् द्वयम् ॥ इति शंकानिवृत्त्यर्थं नान्योतोऽस्तीति भण्यते ॥ लोके जीवतया मूढैरन्तर्याम्येव भाव्यते ॥' इत्यनुभूतिप्रकाशः (१७.३३०-३१) ॥

रविसोमाग्निपूर्वेषु[1] विनष्टेष्वयमास्तिकाः । चित्तसाक्षितया भाति स्वप्रकाशेन केवलम् ॥ २७ ॥

चित्तव्यापारनाशे तु तदभावं सुरर्षभाः । स्वप्रकाशेन जानाति सुषुप्तौ वेद तामपि ॥ २८ ॥

नन्वन्तर्यामिणोऽप्यन्य एव जाग्रत्स्वप्नाद्यवस्थासु सुखदुःखभोक्तारः संसारिणो जीवा इत्याशङ्क्य तदनन्यत्वप्रतिपादनाय षष्ठाध्यायगतं[2] **ज्योतिर्ब्राह्मणं** संगृह्णाति–**रविसो**मेत्यादिना । ज्योतिर्ब्राह्मणे हि जाग्रत्स्वप्नाद्यवस्थासु तत्तदवस्थागतपदार्थैर्व्यवहारतोऽप्यस्योक्तविधस्याऽऽत्मनस्तत्कृतपुण्यपापादिसकलधर्माननुगमनमसङ्गत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वादि-निरतिशयानन्दस्वाभाव्यमद्वितीयत्वं चेत्येतानि प्रतिपादितानि । तत्रावस्थात्रयसाक्षिण आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वप्रतिपादनाय यदाम्नायते–"अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवति" इत्यादि । तत्संगृह्णाति–**रविसोमे**ति । सूर्यादिषु वाह्यज्योतिःषु व्यावृत्तेष्वप्यात्मा स्वस्वरूपभूतचैतन्यप्रकाशश्चित्तस्थान्तःकरणस्य साक्षितया स्वस्वरूपप्रकाशेनैव सर्वदा भाति नतु स्वप्रतिभाने वाह्यं ज्योतिरपेक्षत इत्यर्थः । एतेन जाग्रदवस्था वर्णिता ॥ २७ ॥ **चित्तव्यापारे**ति । यदा तु स्वप्नावस्थायां चक्षुरादीन्द्रियाणामुपरतत्वाच्चित्त-स्यापि वाह्यविषयव्यापारोपरमः, केवलं स्वाप्नपदार्थाकारपरिणामेनावस्थानम्, तदा स एवाऽऽत्मा प्रकाशान्तरनिरपेक्षेण स्वरूपचित्प्रकाशेनैव स्वप्नावस्थां **जानाति** । **सुषुप्तौ** वेदेति । यदा तु कारणभूते भावरूपाज्ञान इन्द्रियान्तरवच्चित्तमपि लीयते तदा सुषुप्तावस्था तदानीं केवलाज्ञानमयीं **ताम**प्यवस्थां स्वरूपचित्प्रकाशेनैवायमात्मा जानाति ॥ २८ ॥

श्रोता ही है कभी श्रुत नहीं होता । यह अमत मन्ता और अविज्ञात विज्ञाता है । (तात्पर्य है कि आत्मा कथंचिदपि विषय नहीं बनता किन्तु ज्ञानस्वरूप होने के कारण विषयसत्त्व में विषयी ही रहता है । वास्तविक विषयिता कहने में तात्पर्य नहीं । नहीं दीखना आदि तो अज्ञान, प्रधान आदि में भी संभव हैं । उन्हें न समझ लिया जाये इतना ही द्रष्टा, श्रोता आदि कहने का अभिप्राय है । अनुभूतिप्रकाश में कहा है 'अदृष्टत्वाश्रुतत्वादि प्रत्यग्ध्वान्तेऽपि संभवेत् । तन्निवृत्त्यै श्रुतिर्द्रष्टा श्रोता मन्तेत्यभाषत ॥' (१७.२२८) ॥ साथ ही इससे अभेद स्पष्ट कर दिया । द्रष्टा आदि तो नियन्तव्य हैं, नियन्ता को भी जब द्रष्टा आदि कह दिया तो दोनों के भेद की शंका ही नहीं रह गयी ।) ॥ २६ ॥

सूर्य चन्द्र अग्नि आदि के निवृत्त हो जाने पर यह आत्मा ही चित्त के साक्षी रूप से अपने स्वप्रकाश स्वरूप से ही भासता है ॥ २७ ॥ जब चित्त बाह्य विषयों से कोई सम्बन्ध न रख केवल स्वाप्न वस्तुओं के आकार का बन जाता है तब वही आत्मा बिना किसी अन्य प्रकाश की सहायता के स्वरूपभूत चैतन्यात्मक प्रकाश से ही बाह्यव्यापार के अभाव को और स्वप्न को जान लेता है । सुषुप्ति अवस्था में वही आत्मा केवल अज्ञानमयी उस अवस्था को चित्प्रकाश से जानता है । (इस प्रकार आगमापायी अवस्थात्रय से उनका प्रकाशक आत्मा अलग सिद्ध हो गया ।) ॥ २८ ॥ प्रकट और अप्रकट न होने वाला, भाव व अभावरूप सब वस्तुओं को सदा जानने वाला स्वयं प्रकाश यह आत्मा ही सर्वोपाधिशून्य वस्तुसत् है ॥ २९ ॥ भाव

---

१ झ. °पूर्णेषु । २ उपनिषत्क्रमेण चतुर्थोध्यायो ब्राह्मणक्रमेण षष्ठ उच्येत । तत्र तृतीयं ज्योतिर्ब्राह्मणम् । आगमतो गार्ग्यब्राह्मणेऽधिगतः, साक्षात्सर्वान्तर इत्युषस्तब्राह्मणे प्रोक्तः, अशनायाद्यतीतः कहोलब्राह्मणतो ज्ञातः, अक्षरमन्तर्यामी पुरुषो विज्ञानानन्दरूपस्ततो दर्शितः स एवेहतर्केण बोध्यतेऽभयप्राप्तये । तदुक्तं भाष्ये 'व्यतिरिक्तत्वं शुद्धत्वं स्वयं ज्योतिष्ट्वमलुप्तशक्तिस्वरूपत्वं निरतिशयानन्दस्वाभाव्यमद्वैतत्वं चाधिगन्तव्यमितीदमारभ्यत' इति ।

आविर्भावतिरोभावरहितस्तु स्वयंप्रभः । भावाभावात्मकं सर्वं सदाऽयं वेद केवलः ॥ २९ ॥
भावाभावात्मना वेद्यं समस्तं सुरपुंगवाः । वेत्तैवायं न चैवान्यदिति सम्यङ्निरूपणम् ॥ ३० ॥
एवं द्वैतं[1] विचारेण[2] स्वात्मना वेद यः पुमान् ।
स योगी सर्वदा द्वैतं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ३१ ॥
द्रष्टुर्दृष्टेर्न नाशोऽस्ति दृश्यमेव[3] विनश्यति ।
तच्च द्वैतं दृशेर्दृश्यं नास्ति द्रष्टाऽस्ति केवलम् ॥ ३२ ॥

अतस्तिसृष्ववस्थासु स्वयंप्रकाशमानश्चिदात्माऽऽविर्भावतिरोभावधर्मरहितः । अत एव **सदा** सर्वदा **भावाभावात्मकं** ज्ञाताज्ञातभेदेन द्विविधं **सर्वं** जगत्**केवलो**निरस्तसमस्तोपाधिकः स्वप्रकाशचिन्मात्ररूपो**ऽयम**त्मा जानाति ॥ २९ ॥**भावाभावात्मने**ति ज्ञाताज्ञातरूपेणेत्यर्थः । उक्तं ह्याचार्यैः[4]–"सर्वं वस्तु ज्ञाताज्ञाततया साक्षिचैतन्यस्य विषय एव" इति । एवं रविसोमादिवाह्यप्रकाशनिरपेक्षत्वाज्जाग्रदाद्यवस्थासु स्वयं सर्वस्य भासकत्वादात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं व्यावर्तमानास्ववस्थास्वनु-वृत्तेरतस्तद्व्यतिरेकश्चेत्येतावत्सिद्धमिति निगमयति–**वेत्तै**वेति । **वेत्ता** वेदितैव केवलं विद्यते **न चान्यद्वे**द्यमस्ति, तस्य परिकल्पितत्वेन मिथ्यात्वादित्यर्थः ॥ ३० ॥ "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति" इत्याद्यां श्रुतिं व्याचष्टे–**एवं द्वैत**मित्यादिना । **एव**मुक्तरीत्याऽवस्थात्रयसाक्षिणं ततो विविक्तं स्वयंज्योतिःस्वभावमेव तमात्मानं स्वात्मत्वेन **यो** जानाति **स योगी सर्वदा** सर्वावस्थासु **पश्यन्नपि द्वैतं न पश्यती**त्यन्वयः । अयमर्थः । विदुषः स्वव्यतिरिक्तस्याविद्यातत्कार्यस्य विद्यया निवर्तितत्वादसौ द्वैतं जगच्चक्षुरादीन्द्रियजनितविशेषविज्ञानेन पश्यति । अथापि स्वरूपज्ञानेन भासमान एव भवति ॥ ३१ ॥ कुत इत्यत आह–**द्रष्टुर्दृष्टे**रिति । **द्रष्टु**रात्मनश्चित्प्रकाशरूपा या दृष्टिस्तस्य नाशो **नास्ति** । यथाऽग्नेरौष्ण्यं यावदग्निभावि तथाऽविनाशिन आत्मनो[5] दृष्टिरप्यविनाशिनी यावद्द्रव्यभाविनी । अतस्तस्या नाशशङ्का न कार्येत्यर्थः । एतेन "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" इत्येषा श्रुतिर्व्याख्याता । ननु सा दृष्टिः सर्वदा विद्यते चेत्तयैव सर्वदा दृश्यजगत्प्रतिभासः कुतो नेत्यत आह–**दृश्यमे**वेति । **हि** यस्माद् **दृश्यं** दृग्विषयं द्वैतं जगन्न पश्यति, अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेन प्रतिपन्नोपाधौ विलापितं भवति, अतो विषयाभावकृत एव विशेषप्रतिभासो न तु चित्स्वरूपविपरिलोपकृत इत्यर्थः । अत**स्तद् द्वैतं दृशेः** प्रत्यगात्मस्वरूपप्रकाशेन प्रकाश्यं समाधिसुषुप्त्याद्यवस्थासु **नैवास्ति** । **द्रष्टा** चिदात्मैव **केवलं** विद्यते । एतेन "न तु तद् द्वितीयमस्ति" इत्यादिश्रुतिरुक्तार्था भवति ॥ ३२ ॥

और अभावरूप से स्थित सारे ज्ञेयप्रपंच का यह जानने वाला ही है, इससे अतिरिक्त कोई नहीं है जो जानने वाला हो ('भाव और अभावरूप से' आदि का टीकानुसारी अर्थ है–ज्ञात और अज्ञात रूप से यह सब कुछ जानता ही है।) ॥ ३० ॥ इस प्रकार विचार से जो द्वैत को केवल आत्मरूप समझ लेता है वही योगी है। वह द्वैत देखता प्रतीत होता हुआ भी उसे देखता नहीं। (या व्यवहार दृष्टि से देखते हुए भी तत्त्वदृष्टि से नहीं देखता।) ॥ ३१ ॥ द्रष्टा आत्मा की स्वरूपभूत दृष्टि का नाश नहीं होता। दृश्य वस्तुएँ ही विनष्ट होती हैं। नष्ट होने वाला तथा दृग्रूप आत्मा का दृश्य द्वैत वस्तुतः है ही नहीं, केवल दृग्रूप आत्मा ही है ॥ ३२ ॥ समस्त दृश्य का उच्छेद हो स्वरूप से बने रहना ही योगी की परम

---

१ ङ. च. छ. झ. द्वैतवि° । २ विचारः श्रुतौ विस्तरेण (४.३.१–२२) दर्शितः । इह संक्षेपार्थं नोक्तः । ३ घ. च. छ. °व हि न° । ४ विवरण इति शेषः (पृ. ९९ कल.) । ५ षष्ठ्यभेदे । 'स्वयंज्योतिष्ट्वं नाम चैतन्यात्मस्वभावते' ति भाष्योक्तेः (वृ.भा.पृ.३३५) ।

एषाऽस्य परमा संपद्गतिश्च परमाऽस्य तु ।
एषोऽस्य परमो लोक एतद्धि परमं सुखम् ॥ ३३ ॥
अहिनिर्ल्वयनीं मुक्तां यथाऽहिः स्वात्मना पुनः ।
न पश्यति तथा विद्वान्न देहेऽहंमतिर्भवेत् ॥ ३४ ॥
सर्वाधारे स्वतःसिद्धे शिवसंज्ञे[1] तु निर्मले ।
प्रत्यग्रूपे परानन्दे नेह नानाऽस्ति किंचन ॥ ३५ ॥

एवमद्वितीयात्मज्ञाननिष्ठस्य यद्गत्यादीनां निरतिशयत्वमाम्नायते "एषाऽस्य परमा गतिः" इत्यादिना, तत्संगृह्णाति– **एषाऽस्येति** । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति' सैषा ब्रह्मनिष्ठा **परमा संपत्** । इतरासां संपदां कृतकत्वेनानित्यत्वान्नित्याद्वितीयब्रह्मात्मनिष्ठैव विशिष्टा संपदित्यर्थः । तथैषैवा**ऽस्य** विदुषो **गतिः परमा** । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तास्त्वन्या गतयोऽविद्यापरिकल्पितत्वादपरमा इत्यर्थः । तथा**ऽस्य** विदुष **एष** एव **परमो लोकः** । ये कर्मफलाश्रया लोकास्तेऽपरमाः । उदीरितब्रह्मात्मनिष्ठा तु स्वाभाविकत्वान्न केनचित्कर्मणा जायत इति निरतिशयत्वाल्लोक्यमानत्वाच्च परमो लोक इत्यर्थः । **एतदेव** हि **परमं सुखं** यन्निरतिशयानन्दब्रह्मात्मभावेनावस्थानं तत्खलु नित्यत्वात्परमं, वैषयिकसुखं ह्यनित्यत्वादपरमं तल्लेशभूतत्वादुपेक्षणीयमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ एवं ब्रह्मीभूतः पुरुषः **पुनः** कार्यकारणसंघातं नाऽऽत्मत्वेनाभिमन्यत इत्येतत्सदृष्टान्तं श्रुत्या प्रतिपादितम्[2] "तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता" इत्यादिना, तत्संगृह्णाति–**अहिनिर्ल्वयनीं मुक्तामिति** ।**अहिनिर्ल्वयनी** सर्पत्वक् । सर्पाश्रये वल्मीकादौ निर्मुक्तां तां त्वचं **यथाऽहिः** सर्पः **पुनः** स्वात्मभावेन **न पश्यति** । एवं ब्रह्म **विद्वान**पि विविक्तं देहादिकं न कदाऽप्यात्मभावेनाभिमन्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ अपि च देहाद्यात्मभावस्य भेदाधीनत्वात्तस्यं चानिरूपणादित्यभिप्रेत्य तन्निषे[3]धश्रुतिमुदाहरति–**नेह नानाऽस्तीति** । अत्र इहेति सप्तम्यन्तेन यन्निषेधाधिकरणत्वेन निर्दिष्टं तद्विवृणोति–**सर्वाधार** इति । यस्मादुक्तविधं ब्रह्म द्वैतजगत्प्रतिभासस्याधिष्ठानमतस्तदेव तन्निषेधस्यावधिरिति यदुक्तं द्वैतप्रपञ्चवत्तस्याप्यध्यस्तत्वशङ्कां वारयति–**स्वतःसिद्ध** इति । स्वत एव सिद्धं न पुनरधिष्ठानान्तरेऽध्यस्तत्वेनान्याधीनसत्ताकमिति यावत् । **निर्मल** इति मायाया व्युदासः । एवंभूते **शिवसंज्ञे** प्रत्यग्रूपेणावस्थितेऽस्मिन्नात्मनि पृथग्भूतं किमपि वस्तु परमार्थतो नास्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सम्पत्ति है, परम गति है, परम लोक और परम सुख है ॥ ३३ ॥

जैसे साँप अपनी छोड़ी हुई केचुली को फिर 'यह मेरा देह है' ऐसा नहीं समझता वैसे ब्रह्मनिष्ठ को देहादि में कभी 'यह मैं हूँ' या 'यह मेरा है' ऐसा प्रतीत नहीं होता ॥ ३४ ॥ सबके आधारभूत, स्वयं सिद्ध, निर्मल, प्रत्यगात्मरूप, परमानन्द, शिवनामक आत्मा में पृथग्भूत कोई वस्तु वस्तुतः नहीं है ॥ ३५ ॥ जो व्यक्ति वास्तविकता यों रहते हुए भी ऐसा समझता है कि मैं अन्य हूँ, परमात्मा अन्य है, जगत् अन्य है, वह बार-बार जन्म-मरण के चक्र में ही पड़ता है । इसलिये मुमुक्षु को अध्यस्त अज्ञान और उसके कार्य को प्रयासपूर्वक एक आत्ममात्रस्वरूप ही देखना चाहिये । यह आत्मा प्रमेय नहीं है, धर्माधर्मादि

---

१ घ. छ. झ. "ज्ञे तुनि° । २ चतुर्थे ब्राह्मणे सप्तमकण्डिकायाम् । ३ घ. °षेधे श्रु° ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति इह नानेव पश्यति ।
तस्मादध्यस्तमज्ञानं तत्कार्यं चाऽऽत्मरूपतः ॥ ३६ ॥
एकधैव महायासाद् द्रष्टव्यो हि मुमुक्षुभिः ।
अयमात्माऽप्रमेयश्च विरजश्च महान्ध्रुवः ॥ ३७ ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ३८ ॥
स वा एष महानात्मा जन्मनाशादिवर्जितः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य सर्वस्येशान एव च ॥ ३९ ॥

श्रुत्युक्तं विपक्षे बाधकमुदाहरति–**मृत्योरिति** । योऽस्मिन्प्रत्यगात्मभावेनावस्थिते ब्रह्मणि भेदं पश्यत्यहमन्योऽन्यज्जगदीश्वरादिकमिति सोऽयमविद्यावशीकृतः **सन्मृत्योर्मरणात्पुनर्मृत्युं** मरणं प्राप्नोति पुनः पुनर्जायमानो म्रियमाणश्च भवतीत्यर्थः । अत उक्तविधमद्वितीयात्मदर्शनमेव प्रशस्तमिति निगमयति–**तस्मादिति** । यदेवं पारमार्थिको भेदो नास्ति तस्मादज्ञानं तत्कार्यं च वियदादिभूतभौतिकं जगच्च सर्वमद्वितीये ब्रह्मण्यध्यस्तम् । अतश्चेदं सर्वमधिष्ठानात्मरूपेणैकप्रकारेणैव द्रष्टव्यम् । यस्मादेकधैवेत्ययमुत्तरशेषः ॥ ३६ ॥ एवं ह्याम्नातम्–"एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयमजं ध्रुवम्"[1] इति । तस्यायमर्थः[2] । **एकधैवे**केनैव प्रकारेण विज्ञानघनैकरसत्वलक्षणे**नायमात्मा** मुमुक्षुभि**र्महायासाद् द्रष्टव्यः** । शान्तिदान्त्यादिलक्षणसाधनकलापानुष्ठानजनितं महायासं प्राप्याऽऽत्मसाक्षात्कारः संपादनीयः । **महायासादिति** कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी । ननु दृग्रूप आत्मा चेद् द्रष्टव्यस्तर्हि दृशिकर्मत्वाद् घटवत्तस्य दृश्यत्वं स्यादित्यत आह–**अप्रमेयश्चेति** । अन्यत्खल्वन्येन प्रमीयेत । अद्वितीयस्त्वात्मा कथमन्येन प्रमेयः स्यादतः स्वविषयसाक्षात्कारे संजाते सति स्वरूपप्रकाशेनैव प्रकाशत इति भवत्यसावप्रमेयः । **विरजश्चेति** । रजो नाम धर्माधर्मादिमलं तद्रहितः । **महान्**सर्वकारणत्वेन सर्वव्यापी । **ध्रुवः** कूटस्थनित्यः ॥ ३७ ॥ 'तमेव धीर' इति मन्त्रं संगृह्णाति–**तमेवेति** । **तमु**क्तविधमात्मान**मेव धीरो** धीमानुपदेशतः शास्त्रतश्च **विज्ञाय** पुनस्तद्विषयां साक्षात्काररूपिणीं **प्रज्ञां कुर्वीत** । न खल्वपरोक्षभ्रमः परोक्षज्ञानेन निवर्तत इति भावः । एवमात्मविदनात्मविषयान्**बहूञ्शब्दान्ना**नुचिन्तयेत् । ध्यायतेर्लेट्याडागमः । कुत इत्यत आह–**वाच** इति । **हि** यस्मात्तद्बहुशब्दानुचिन्तनं **वाचो विग्लापनं** वागिन्द्रियस्य विशेषेण ग्लानिकरं तस्मादित्यर्थः ॥ ३८ ॥ उक्तवक्ष्यमाण[3] कृत्स्नोपनिषत्प्रतिपादनपरा "स वा एष महानज आत्मा" इत्यादिका येयं कण्डिका समाम्नाता तां संगृह्णाति–**स वा एष** इति । तत्र तावद्ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपाद्यते । **स** पूर्वोक्तो जगत्कारणभूत **एष** हृन्मध्येऽवस्थितो योऽयं **महान**परिच्छिन्न **आत्मा** जन्मनाशादिसकलसांसारिकभावविकाररहितः स एव सर्वस्य ब्रह्मेन्द्रादिजनस्य **वशी** सर्वो ह्यस्य वशे वर्तते । आम्नायते हि–"भीषाऽस्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः" इत्यादि । न केवलं वशी, तस्य च ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य **सर्वस्येशान** ईशिता च भवति ॥ ३९ ॥

मलों से अस्पृष्ट है, व्यापक और नित्य है ॥ ३६–३७ ॥ उस आत्मा को ही शास्त्र से जानकर उसका साक्षात्कार करना चाहिये । ब्राह्मण को चाहिये कि अनात्मविषयक बहुत्वद्योतक शब्दों का विचार न करे, वह केवल वाणी आदि की ग्लानि का हेतु है, पुरुषार्थ का नहीं ॥ ३८ ॥ वही यह महान् आत्मा जन्म-मृत्युरहित

---

१ 'अप्रमयं ध्रुवम्' इत्येवोपनिषदि दृश्यते । २ झ. तदयमर्थः । ३ झ. °णलक्षणक° ।

सर्वस्याधिपतिः शुद्धो न भूयान्साधुकर्मणा ।
कर्मणाऽसाधुना नैव कनीयान्सुरपुंगवाः ॥ ४० ॥
एष सर्वेश्वरः साक्षाद्भूताधिपतिरेव च । भूतपालश्च लोकानामसंभेदाय हे सुराः ॥ ४१ ॥
एष सेतुर्विधरणस्तमेव ब्राह्मणोत्तमाः । वेदानुवचनेनापि यज्ञेन सकलेन च ॥ ४२ ॥
दानेन तपसा देवास्तथैवानशनेन च ।
वेत्तुमिच्छति यो विद्वान्स मुनिर्नेतरो जनः ॥ ४३ ॥

तत्रेशानत्वं निरङ्कुशमित्याह–**सर्वस्याधिपतिरि**ति । **अधिपतिर**धिष्ठाय पालयिता; स्वतन्त्र इत्यर्थः । यो ह्यधिष्ठाय पालयति स ईष्टे यश्चेशानः स वशी भवत्येवं त्रयाणां विशेषणानामुत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वहेतुत्वं द्रष्टव्यम् । यतोऽयमात्मा **शुद्धो**ऽनाधेयातिशयस्वरूपः अतः **साधुना** शास्त्रविहितेनाग्निहोत्रादि**कर्मणा न भूयान्**भवति पूर्वावस्थातः केनचिद्धर्मेणोपचितो न भवतीत्यर्थः । तथाऽ**साधुना** शास्त्रप्रतिषिद्धेन ब्रह्महननादिना **कनीयान**ल्पतरोऽपि नं भवति पूर्वावस्थातो न हीयत इत्यर्थः । कर्मवशीकृतस्य ह्यात्मनः साध्वसाधुकर्मजन्यातिशयभाक्त्वं संभवति । एष तु निरुपाधिक आत्मा सर्वेश्वरः कर्मसहितस्य सर्वस्य जगत ईशनशीलः । अतस्तत्परतन्त्रे साध्वसाधुकर्मणी तस्मिन्नुपचयापचयलक्षणं विकारं जनयितुं न प्रभवत इत्यर्थः ॥ ४० ॥ तथा **साक्षादेष** एव प्रत्यगात्मा ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां सर्वेषां **भूतानामधिपतिः**[1] । तथा तानि भूतानि पालयतीति **भूतपालः** । **लोकानां** भूरादीनां ब्रह्मलोकान्तानाम**संभेदाय** तत्तन्मर्यादायाः संभेदोऽतिक्रमो मा भूदित्येतदर्थम् ॥ ४१ ॥ **एष** एवाऽऽत्मा **विधरणो** वर्णाश्रमादिव्यवस्थाया विधारयिता स**न्सेतुर्**भवति । यथा लौकिकः सेतुरसंभेदहेतुस्तद्वदयं भवतीत्यर्थः । अयं भावः–तत्प्रणीतश्रुतिस्मृत्युक्तमार्गं योऽनुतिष्ठति तज्जन्यसुकृतेन संसारार्णवं संतारयतीति सेतुः । एवं वेद्यस्वरूपं प्रतिपाद्य तद्विद्योत्पत्तौ वेदानुवचनादेर्यत्साधनत्वमाम्नातम्–"तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि, तत्संगृह्णाति–**तमेवे**ति । मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य कृत्स्नस्य वेदस्य यन्नित्यस्वाध्यांयलक्षणमनुवचनं तेन । तथा तत्प्रतिपाद्येन नित्यनैमित्तिकरूपेण **यज्ञेना**ग्निहोत्रादिना ॥ ४२ ॥ **दानेन** श्रुतिस्मृतिपुराणविहितेन तुलापुरुषादिना । तथाऽनशनरूपेण **तपसा** न तु कृच्छ्रचान्द्रायणादिना । अत्रा**नशन**शब्देन कामानशनं विवक्षितं न तु भोजननिवृत्तिः । तथा सति जीवनलोपप्रसङ्गेन विद्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । एवमेतैर्वेदानुवचनादिभिस्तमुक्तविधमात्मानमेव **यो वेत्तुं** वेदितुं ज्ञातु**मिच्छति**, अत्र तृतीयाश्रुत्याऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा वेदानुवचनादीनां विविदिषासाधनत्वमुपन्यस्तम्, स चोत्पन्नविविदिषः पुनर्वक्ष्यमाणैः शान्तिदान्त्यादिभिः श्रवणादिभिश्चोत्पन्नया विद्यया तमुदीरितरूपमात्मानं साक्षात्कुर्वन्नेव मननधर्मयोगान्**मुनि**र्योगी भवति । **न** त्वि**तरो**ऽनात्मज्ञो **जनः** । तस्य ह्यनात्मविषये सत्यपि मनने कर्मसंबन्धात्कर्मित्वमेव न मुनित्वम् । आत्मवित्तु कृतकर्तव्यत्वात्केवलं मुनिरेव । अनेन च "एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति" इति श्रौतमवधारणं व्याख्यातं भवति ॥ ४३ ॥

है । सारे लोकों को यह वश में रखता है, सबका मालिक है ॥ ३९ ॥ यही सबका अधीश्वर (स्वतंत्र पालक) है तथा नित्य शुद्ध है । अच्छे कर्म से न किसी अतिशय वाला होता है और न बुरे कर्म से किसी न्यूनता वाला होता है ॥ ४० ॥ यही सबका ईश्वर है । प्रत्यगात्मा रहते हुए ही यह सब प्राणियों का

---

१ झ. °मधिपः । त° ।

नेति नेतीति निष्कृष्टो य एष सर्वसाधकः ।
सोऽयमात्मा सदा [1]ग्राह्यस्वरूपो न हि गृह्यते ॥ ४४ ॥
तथाऽशीर्यस्वभावश्च[2] हे देवा नैव शीर्यते ।
असङ्गरूपो भगवान्सर्वदा न हि सज्जते ॥ ४५ ॥

'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादिना विधिमुखेन प्रतिपादितस्याऽऽत्मतत्त्वस्य सोपाधिकत्वशङ्का मा भूदित्यधुना व्यतिरेकमुखेण यदवाङ्मनसगम्यं स्वरूपं प्रतिपादितम् "स एष नेति नेत्यात्मा" इत्यादिश्रुत्या, तत्संगृह्णाति–**नेति नेतीति**। इदमर्थवाचिनेतिशब्देन संनिहितं दृश्यं परामृश्यते । वीप्सया च तस्य सर्वस्य निषेधः । तदयमर्थः–यदिदं दृश्यं द्वैतजातमस्ति तत्स[3]र्वं **नेति नेतीति** विलाप्य सर्वनिषेधावधिभूतो **यो**ऽयं **निष्कृष्टो** निरस्तसमस्तोपाधिक आत्मा स **एष सर्वसाधकः** । अविद्याकर्मादिसर्वव्यवहारनिष्पादकः[4] । नातोऽन्यः कश्चित्कर्ता भोक्ता परमार्थतो विद्यत इत्यर्थः । तस्य च सर्वनिषेधावधिभूतस्याऽऽत्मनः स्वाभाविकं रूपमाह–**सोऽयमिति** । योऽयमुदीरितरूपः प्रत्यगात्मा सर्वदा[5] हस्तपादादिभिरिन्द्रियैरग्राह्यस्वभावः । न ह्यसौ केनचिदिन्द्रियेण गृह्यते । इन्द्रियाणां रूपादिमद्वस्तुविषयत्वात् ॥ ४४ ॥ **तथा**ऽयमात्माऽध्यस्तप्रपञ्चवद्विशरणशीलस्वरूपोऽपि न भवति । न खल्वसौ **शीर्यते** । निरवयवत्वेन विशरणासंभवात् । अतो दृश्यनिषेधावधिभूतं[6] तत्तत्त्वं सर्वदा वाधविधुरस्वरूपमित्यर्थः । ननूपगमापगमधर्मवतो दृश्यस्य संपर्कवशात्तदधिष्ठानस्याऽऽत्मनोऽपि विकारः किं न स्यादित्यत आह–**असङ्गरूप** इति । पद्मपत्रवन्निर्लेपस्वरूपः । न ह्यसौ क्वचित्सज्जत, आत्मीयत्वेन क्वचिदप्यभिमानाभावात् । आसक्तिहेतोर्दृश्यस्य च मिथ्याभूतस्य परमार्थतयाऽऽसञ्जकत्वासंभवात् । न हि मरुमरीचिकाजलैर्मरुभूमिरार्द्री क्रियत इति भावः ॥ ४५ ॥

शासक है । समस्त भूतों का पालन यही करता है । भूः आदि सब लोक अपनी अपनी मर्यादाओं का लंघन न करें इसके लिये यही सेतु बनकर उनका विधारण करता हैं । (मेंड़, या बाँध को सेतु कहते हैं । वह पानी को मर्यादित रखता है । ऐसे ही सब मर्यादित रहते हैं इसका कारण परमेश्वर ही है अतः वह सेतु हैं ।) उत्तम ब्राह्मण उसी आत्मा को जानने की इच्छा पाने के लिये वेदाध्ययन, सारे यज्ञादि कर्म, दान, तप तथा कामनापरित्याग करते हैं । (जैसे स्वादिष्ट भोजन खाने की इच्छा के लिये चूर्णादि का सेवन किया जाता है वैसे वेदाध्ययनादि आत्मजिज्ञासा-प्राप्ति के लिये किये जाते हैं । तथापि जिज्ञासा उत्पन्न करने वाले अध्ययनादि सफल ज्ञान लाभ तक उपकार करते हैं । जिज्ञासोत्पादक से अतिरिक्त अध्ययनादि कर्मों की कोई आवश्यकता ज्ञानप्राप्ति के लिये नहीं, जिज्ञासा हो जाने पर सकलकर्मनिवृत्तिपूर्वक शमादि करते हुए श्रवणादि करना ही ज्ञान के लिये पर्याप्त है ।) जो इस आत्मा को जानता है वही मुनि है (पाण्डित्य और बाल्य की पूर्णता वाला है) । अन्य कोई मुनि नहीं ॥ ४१–४३ ॥ 'यह' इस तरह (विषयतया) जो कुछ भी समझा जा सकता है वह आत्मा नहीं, यह कहकर जिस आत्मा का निष्कर्ष श्रुति ने निकाला है वही सबको सत्ता-स्फूर्ति देने वाला आत्मा है । उसका स्वरूप ही ऐसा है कि वह कभी विषय नहीं किया जा सकता ॥ ४४ ॥ इसी तरह स्वभावतः ही वह नष्ट नहीं होता और निर्लेपस्वभाव होने से किसी

---

१ अग्राह्यस्वरूपइतिच्छेदः । २ ङ. च. छ. °श्च देहे वा । ३ घ. °त्सर्वमिति नेति वि° । छ. °त्सर्वमिति नेति नेति वि° । ४ ङ. °कः । ततोऽन्यत्कश्चि° । च. °कः कश्चि° । ५ घ. °दा श्रोत्रादि° । ६ झ. °तं कृत्वा स° ।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥ ४६ ॥
तस्माद् ब्रह्मज्ञानलाभाय विद्वाञ्शान्तो दान्तः सत्यवादी भवेच्च ।
कर्मत्यागी सर्ववेदान्तसिद्धं विद्याहेतुं संततं त्वभ्युपेयात् ॥ ४७ ॥
त्रिपुण्ड्रमुद्धूलनमास्तिकोत्तमाः सदाऽऽचरेच्छंकरवेदने रतः
शिवादिशब्दं च जपेद्विशेषतः प्रपूजयेद्भक्तिपुरःसरं हरम् ॥ ४८ ॥

"तदेतदृचाऽभ्युक्तम्" इति श्रुत्या प्रतिपादितार्थसंवादित्वेनोदाहृतमृङ्मन्त्रं संगृह्णाति–**एष नित्य** इति । 'स एष नेति नेत्यात्मे'तिश्रुत्याऽतद्व्यावृत्तिमुखेन यदात्मनः स्वरूपं प्रतिपादितमेष एव **ब्राह्मणस्य** ब्रह्मविदो **नित्यो महिमा** । अन्ये तु महिमानः कर्मकृतत्वादनित्याः । अयं तु स्वाभाविकत्वान्नित्य इत्यर्थः । कुत इत्यत आह–**न वर्धत** इति । पुण्यपापरूपेण द्विविधेन कर्मणा वृद्ध्यवृद्धिलक्षणां विक्रियां न प्राप्नोति । विकारहेतुसङ्गविरहस्य प्रतिपादितत्वात् । अतो निर्विकारत्वादेष एव नित्यो महिमेत्यर्थः । तथा च तस्यैव महिम्नः **पदवित्स्यात्** । पद्यते गम्यते ज्ञायत इति पदं स्वरूपं तस्य पदस्य वेदिता भवेदित्यर्थः । तद्वेदनस्य फलमाह–**तं विदित्वेति** । **तं** नित्यमहिमरूपमात्मानं साक्षात्कृत्य विद्वान्**पापकेन कर्मणा न लिप्यते** । अत्र पापशब्देन पापवत्पुण्यस्यापि संसारहेतुत्वात्तदुभयं विवक्षितम् । अतः संसारहेतुभूतेन पुण्यपापरूपेण द्विविधेन कर्मणा लेपो विदुषो विद्यया निवर्त्यत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥ तत्र विद्योत्पत्तौ वहिरङ्गसाधनानि वेदानुवचनादीनि प्राग्दर्शितानि । अथ[1] "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्तः" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितान्यन्तरङ्गसाधनानि दर्शयति–**तस्मादिति** । यस्मादद्वितीयात्मविज्ञानस्येदृग्विधं फलं **तस्मा**त्तल्लाभाय शान्त्यादिगुणयुक्तो भवेत् । तत्र शान्तो वाह्येन्द्रियव्यापारादुपरतः । **दान्तो** मानसविषयतृष्णाभ्यो निवृत्तः । **सत्यवादी**ति । एतच्च सत्यवदनं कृत्स्नयोगाङ्गोपलक्षणम्[2] । **कर्मत्यागी**ति श्रुतिगतोपरतपदस्य व्याख्यानम् । लोकान्तरसाधनानि विद्याया विरोधीनि यानि कर्माणि तत्त्यागी भूत्वेत्यर्थः । **सर्ववेदान्तसिद्ध**मिति । 'श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादिवेदान्तप्रतिपादितं श्रवणमननादिकं विद्याहेतुं निरन्तरमुपगच्छेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥ तथा जाबालोपनिषदादिषु प्रतिपादितं त्रिपुण्ड्रधारणादिकमपि शिवप्रीतिकरत्वेन[3] परविद्योत्पत्तावन्तरङ्गसाधनमित्याह–**त्रिपुण्ड्रमिति** ॥ ४८ ॥

से सम्बद्ध नहीं होता ॥ ४५ ॥ ब्रह्मवेत्ता की नित्य महिमा यही परमशिव है । यह कर्म से बढ़ता घटता नहीं । सबको चाहिये कि उसके स्वरूप का जानकार बनें । उसे जानकर पापादि सब कर्मों से अतीत हो जाया जाता है । (अविषय को जानने का अर्थ है उससे इतर को न जानते हुए बने रहना ।) ॥ ४६ ॥ इसलिये ब्रह्मज्ञान पाने के लिये बुद्धिमान् मन और इंद्रियों को नियंत्रित करे, सत्यवादी रहे, कर्मों का ससाधन त्याग करे, और विद्या के हेतुभूत उपाय करे जो सभी उपनिषदों में वताये गये हैं ॥ ४७ ॥ शंकर को जानने में लगा व्यक्ति सदा त्रिपुण्ड्र धारण करे और भस्मोद्धूलन करे । शिवादि शब्दों का जप करे और महादेव की पूजा करे ॥ ४८ ॥ सकल साधनों सहित जब ज्ञान होता है तब यह सारा जगत् महादेव रूप ही है यह वैसे ही निश्चित प्रतीत होता है जैसे हाथ में रखा बेल का फल । (ज्ञान

१ घ. अतस्तस्मा° । २ घ. °योगोप° । ३ घ. °वप्राप्तिपर° ।

साधनैः सकलैः सहितः सुरा वेदनेन समस्तमिदं जगत् ।
[1]देवरूपतयैव तु निश्चितं वेद हस्ततलस्थितबिल्ववत् ॥ ४९ ॥
नैनं पाप्मा तरति ब्रह्मनिष्ठं सर्वं पापं तरति प्राकृतं च ।
नैनं पाप्मा तपति ब्रह्मनिष्ठं सर्वं पापं तपति प्राकृतं च ॥ ५० ॥
इत्थं ब्रह्म स्वात्मभूतं स्वकीयम् श्रद्धापूर्वं देहमेतं विदित्वा ।
अर्थं सर्वं क्षेत्रजातं समस्तं दद्यादस्मै देशिकेन्द्राय मर्त्यः ॥ ५१ ॥

साधनैः सकलैरित्यादि । वेदानुवचनादिभिः शान्तिदान्त्यादिभिः श्रवणमननादिभिश्चेत्यर्थः । **हस्ततले**ति । हस्तत[2]लस्थितबिल्वफलवत्सर्वस्य दृश्यजातस्य परशिवस्वरूपत्वमापरोक्ष्येण यो **वेद** जानाति ॥ ४९ ॥ तस्य किं भवतीत्येतत्प्रतिपादयति–**नैनमि**ति । एवं सम्यग्ज्ञानिनं **पाप्मा** पुण्यपापलक्षणो न **तरति** नातिक्रामति स एव ब्रह्मविद्द्रवपरम्परोपभोग्यफलं तत्**सर्वं** पुण्यपापमतिक्रामति । तथा यच्चान्य**त्प्राकृतं** मायामयं कार्यजातमस्ति तत्सर्वमतिक्रामति । एवं हि श्रूयते–"एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः" इति । तत्र च कृताकृतयोरुभयोरपि पुण्यपापयोस्तरणीयत्वमतापकत्वं च प्रतिपादितम् । अतोऽत्रापि पापग्रहणमुभयोरुपलक्षणार्थं द्रष्टव्यम् । 'नैनं पाप्मा तरती'ति श्रुतिं व्याख्याय 'नैनं पाप्मा तपती'त्यतापकत्वप्रतिपादिकां श्रुतिमपि संगृह्णाति–**नैनमि**ति । कृताकृतलक्षणः पुण्यपापरूपः **पाप्मैनं** ब्रह्मविदं **न तपति** । ब्रह्मविदेवाऽऽत्मज्ञानाग्निना सर्वं निर्दहति । कृताकृतयोः पुण्यपापयोरतापकत्वं तैत्तिरीयकेऽप्याम्नातम्–"एत ँ ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्" इति । तथा गीतास्वात्मज्ञानस्य कृत्स्नपापनिर्दाहकत्वं भगवताऽप्युक्तम्–"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" ॥ इति ॥ ५० ॥ "सोऽहं भगवते विदेहान्ददामि मां चापि सह दास्यायेति" इति श्रुत्या स्वात्मसहितं सर्वस्वं ब्रह्मोपदेशकारिणे गुरवे देयमिति प्रतिपादितं तदप्याह–**इत्थमि**ति ॥ ५१ ॥

अंगी होने से स्वसिद्ध्यर्थ शमादि सकल अंगों की अपेक्षा रखता है अतः उनका साहित्य कहा है । पाण्डित्य के प्रति मौन व अमौन को सामग्री आचार्यों ने बताया ही है ।) ॥ ४९ ॥ ब्रह्मनिष्ठ का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध नहीं होता । वह पुण्य-पापादि सारे मायिक जगत् से परे हो जाता है । उसे कर्मों का कोई ताप नहीं होता–'मैंने ऐसा क्यों किया, ऐसा क्यों नहीं किया' इस तरह कोई ताप नहीं होता । अज्ञानवान् लोगों को ही कर्म का ताप होता है ॥ ५० ॥ इस प्रकार श्रद्धापूर्वक अपने आत्मरूप ब्रह्म को समझकर इसके उपदेष्टा गुरु के लिये अपना देह, धन व समस्त संपत्ति न्यौछावर कर देनी चाहिये ॥ ५१ ॥ जिस गुरु ने सत्य का उपदेश कानों में डाला है और दुःखरहित कर अमरता दी है उसे अपना माता-पिता समझना चाहिये व उसके उपकार को याद रख कभी उसके प्रति द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ ५२ ॥ अपने

१ ङ. च. °त् । वेदरू° । २ झ. °तले सुस्थि° ।

यश्चाऽऽतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं विद्यात्पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमस्य जानन् ॥ ५२ ॥
स्वदेशिकस्यैव शरीरचिन्तनं भवेदनन्तस्य[1] शिवस्य चिन्तनम् ।
स्वदेशिकस्यैव तु पूजनं तथा भवेदनन्तस्य शिवस्य पूजनम् ॥ ५३ ॥
स्वदेशिकस्यैव तु नामकीर्तनं शिवादिशब्दस्य तु कीर्तनं भवेत् ।
स्वदेशिकस्यैव तु बाधनं तथा भवेदनन्तस्य शिवस्य बाधनम्[2] ॥ ५४ ॥
तस्माद्विद्वान्सर्वमेतद्विहाय श्रद्धायुक्तः सद्गुरुं सत्यनिष्ठम् ।
विद्याकोशं वेदवेदान्तनिष्ठं गच्छेन्नित्यं सत्यधर्मादियुक्तः ॥ ५५ ॥
वक्तव्यं सकलं मया परकृपायुक्तेन संकीर्तितं
कर्तव्यं सकलं सुरा न हि मुनेर्ब्रह्मात्मनिष्ठस्य तु ।
स्मर्तव्यं सकलं तथा न हि सदा ब्रह्मैव सच्चित्सुखं
संपूर्णं सततोदितं समरसं शश्वत्स्वयं भासते ॥ ५६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु बृहदारण्यव्याख्याकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

तथाविधस्य गुरोर्मातापितृरूपत्वेन सर्वदा द्रोहो न कार्य इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादकं यास्कोदाहृतमपि मन्त्रं स्वयं दर्शयति–य इति । **अवितथेन** परमार्थोपदेशेन **यो गुरुः कर्णावातृणत्त्या**विध्यति । किं कुर्वन्नदुःखं दुःखमकुर्वन् । लौकिकं हि कर्णभेदनं दुःखहेतुर्भवति । न केवलं दुःखाकरणमात्रम् । अपि **तर्ह्यमृतमन**श्वरमात्मस्वरूपं **संप्रयच्छन्** । स्वस्वरूपभूतोऽप्यात्मा प्रागज्ञानावृतत्वेन नष्टप्राय आसीत्पुनर्गुरोरुपदेशेन कण्ठगतचामीकरवत्पुनर्लभ्यमानो भवतीत्यभिप्रायः । **तम**मृतत्वस्य प्रदातारं गुरुमेव मातापितृबुद्ध्या जानीयात् । स्मर्यते हि–"स हि विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म शरीरमेव मातापितरौ जनयतः" इति । अतः कारणादस्य गुरोः संबन्धि **कृतम**मृतत्वसाधनब्रह्मात्मज्ञानोपदेशरूपं कर्म **जान**न्कृतज्ञतया **तस्मै** कदाचिदपि द्रोहो न कार्यः ॥ ५२ ॥ इमं मन्त्रार्थं प्रपञ्चयति–**स्वदेशिकस्ये**त्यादिना ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ **समरसम**खण्डैकरसम् ॥ ५६ ॥

इति सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु बृहदारण्यव्याख्याकथने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

गुरू के शरीर का चिंतन ही अनंत शिव का चिंतन है, उन्हीं की पूजा शिवपूजा हो जाती है । गुरुनाम-संकीर्तन ही शिवनाम कीर्तन है तथा गुरु को कष्ट देना शिवको ही कष्ट देना है । इसलिये बुद्धिमान् बाकी सब छोड़कर श्रद्धापूर्वक ब्रह्मनिष्ठ, विद्यावान्, वेद-वेदान्तों में निष्णात सद्गुरु के पास जाये । गुरु के निकट जाने पर साधक स्वयं सत्यादिधर्मों का पालन करे (तथा सेवादि से उन्हें प्रसन्न कर ब्रह्मप्रश्न पूछे व उनके बताये मार्ग से तप करते हुए ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करे) ॥ ५३–५५ ॥ परम कृपायुक्त हो मैंने सारी बताने योग्य बातें सुना दीं । ब्रह्म को आत्मा जान इस ज्ञान में निष्ठा वाले के लिये कुछ कर्तव्य नहीं रह जाता किसी स्मरणीय वस्तु का उसे चिंतन करना पड़े, ऐसा कुछ नहीं है । संपूर्ण, नित्यसिद्ध, निर्भिन्न, शाश्वत, सच्चिदानंदरूप ब्रह्म वह स्वयं भासता रहता है ॥ ५६ ॥

---

१ घ. °दचिन्त्यस्य २ घ. साधनम् ।

एकादशोऽध्यायः

[1]*ब्रह्मोवाच— अस्ति तत्त्वं परं साक्षाद्दुर्दर्शं गूढमुत्तमम् ।*
अनुप्रविष्टं सर्वत्र गुहायां निहितं परम् ॥ १ ॥

एवं बृहदारण्यकोपनिषदो ब्रह्मात्मैक्यपरत्वं व्याख्याय गतिसामान्यं दर्शयितुं कठवल्ल्युपनिषदोऽप्यैदंपर्यं प्रतिपादयितुमयमध्याय आरभ्यते—**अस्ति तत्त्वमिति** । तत्र च 'तं दुर्दर्शमि'त्यतः प्राक्तनस्य मन्त्रसंदर्भस्याऽऽख्यायिकारूपत्वेन विद्यास्तुत्यर्थत्वात्परित्यज्य विद्यास्वरूपोपयोगिनः 'तं दुर्दर्शमि'त्यादिका एव मन्त्राः स्वरूपतोऽर्थतश्च संगृह्यन्ते । यत्र समानः पाठस्तत्र न पृथक् श्रुतिरुदाहर्तव्या । यत्र तु पाठे विशेषस्तत्र मूलभूतां श्रुतिमप्युदाहरामः । तदयमर्थः— **दुर्दर्शं** दुःखेन दर्शनीयमतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञातुमशक्यम् । **गूढं** गहनं स्थानमनुप्रविष्टम् प्राकृतविषयज्ञानैः संछन्नमित्यर्थः । **गुहायां** बुद्धौ **निहितं** स्थितम् । विकारजातेभ्यः **परमी**दृग्विधमात्मतत्त्वं विद्यते ॥ १ ॥

कठवल्ली और श्वेताश्वतरोपनिषत् की व्याख्या नामक ग्यारहवाँ अध्याय

(सत्त्व निर्विकल्प—विकल्प रहित—होता है । अतः परमेश्वर का वर्णन सभी उपनिषदें एक रूप से ही करती हैं । महर्षि बादरायण ने इससे सिद्ध किया है कि स्मृतिमात्रसिद्ध अन्यान्य वस्तुएँ परमेश्वरस्थानापन्न नहीं हो सकतीं (ब्र.सू. १.१.१०) । किंतु यह नियम केवल जगत्कारणत्व में ही लगे ऐसा नहीं है । अद्वैत प्रतिपादन भी उपनिषदों में समान है जो एक बड़ा कारण है कि इसमें किसी तरह की शंकायें नहीं की जा सकतीं । इसी अतिदेश को—कारण सम्बन्धी गतिसामान्य को अद्वैतस्वरूप से भी सम्बद्ध करने के लिये—दिखाते हुए यमोपदेश व श्वेताश्वतरोपनिषत् के विषयों का भी संग्रह किया जा रहा है । पहले छप्पन श्लोकों से कठोपनिषद् का अर्थ समझाते हुए) ब्रह्मा जी बोले—अपरोक्ष किन्तु दुर्ज्ञेय, गूढ (अतर्क्य), सर्वोत्कृष्ट, सर्वत्र छिपा हुआ, बुद्धि में स्थित, सबसे परे, सबसे सूक्ष्म शिव तत्व है । (नचिकेता ने पूछा था कि मनुष्य के मर जाने पर संदेह होता है कि वह मर कर भी है या नहीं । कुछ लोग तो नहीं है ऐसा ही मानते हैं, कुछ मानते हैं कि है ही और कुछेक की मान्यता है कि मरने पर वह रहता तो है किंतु कुछ कर या जान नहीं सकता, जब सृष्टि समाप्त होकर पुनः होगी तो पुनः करने व जानने लग जायेगा । अतः जो जीता-मरता है वह है या नहीं, और है तो कैसा है इत्यादि प्रश्न नाचिकेता के अभिप्रेत थे । उसी आत्मा का स्वरूप बताया यमराज ने कि वह आत्मा है और उक्त साक्षात्, दुर्ज्ञेय आदि स्वरूप है । एवं च उत्तर के आधार पर निर्णीत है कि संसरण करता प्रतीत जो हो रहा है वही परमशिव है यह यमाचार्य का उपदेश है । ऐसे ही धर्माधर्म से अतीत तत्त्व को (२.१४) ही जन्म-मरण रहित कहकर (२.१८) स्पष्ट किया कि जो जन्मने-मरने वाला लगता है वही वैसा नहीं है । यदि जो जन्मने-मरने वाला कभी लगता ही नहीं ऐसे किसी की बात होती तो यह कहना असंगत हो जाता कि वह जन्मता-मरता नहीं । इसी

---

१ अन्तर्यामिण एव प्रशासकत्त्वौचित्यात्तस्यैवादृष्टद्रष्टृत्वं नात्मन इति पूर्वसन्दर्भे शंकास्थानं दृष्ट्वा 'येयं प्रेत' इत्यादिना जीवस्यैव प्रश्ने तस्यैव 'अन्यत्र धर्मादि'त्यादिना प्रतिवचनात्प्रत्यगेव तथा न नाम पूर्वोक्तद्रष्टुरन्यआत्मेति वक्तुं कठोपनिषदं व्याख्याति । तत्र द्वितीयवल्लीतः (मं. १२) परस्य ग्रंथस्यार्थमाह ।

तद्विदित्वा महाधीरो[1] हर्षशोकौ जहाति च ।
धर्मादिभ्यः परं तत्तु भूताद्भव्याच्च सत्तमाः ॥ २ ॥
यदामनन्ति वेदाश्च तपांसि परमं पदम् ।
ब्रह्मचर्यं यदिच्छन्तश्चरन्ति शिव एव सः ॥ ३ ॥
एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम् ।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ ४ ॥

तद्विदित्वा साक्षात्कृत्योत्कर्षापकर्षकृतौ **हर्षशोकौ** विद्वाञ्जहाति । ज्ञेयस्याऽऽत्मतत्त्वस्य निरतिशयत्वेन हर्षशोककारणयोरुत्कर्षापकर्षयोस्तत्रासंभवादित्यर्थः । 'अन्यत्र धर्मादि'तिमन्त्रस्यार्थं संगृह्णाति–**धर्मादिभ्य** इति । **आदि**शब्देन श्रुत्युक्ताधर्मादिसंग्रहः । धर्माच्छास्त्रीयधर्मानुष्ठानात्**परं** पृथग्भूतं तथाऽधर्मादविहिताचरणरूपात्पापात्परम् । पुण्यपापसंस्पर्शरहितमित्यर्थः । **भूताद्**भूतकालावच्छिन्नाद्**भव्याद्**भविष्यकालावच्छिन्नात्परम् । नित्यं वर्तमानमिति यावत् ॥ २ ॥ ईदृग्विधं **यत्**तत्त्वं सर्वे **वेदाः** प्रतिपादयन्ति । सर्वाणि च **तपांसि पदं** पदनीयं यद्वस्तु वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानि भवन्तीत्यर्थः । तथा यत्तत्त्वं प्राप्तु**मिच्छन्तो** गुरुकुलवासादिलक्षणमन्यदपि **ब्रह्मचर्यं चरन्ति** मुमुक्षवः **स** तादृशोऽर्थः **शिव एव** ॥ ३ ॥ **एतद्धयेवाक्षर**मित्यादिकम्, "तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" इति श्रुतौ यत्प्रणवात्मकमक्षरमाम्नातं तदेवै**तत्**छब्देन[2] परामृश्यते । **एतदेव** प्रणवात्मकम**क्षरं** हिरण्यगर्भादिलक्षणमपरं **ब्रह्म** । तथै**तदेवाक्षरं**[3] निरस्तसमस्तोपाधिकं सच्चिदानन्दैकरसं **परं** ब्रह्म । प्रणवस्य तदुभयप्रतीकत्वात्तादात्म्यव्यपदेशः । अत एतदेवाक्षरमपरं ब्रह्मात्मनोपास्यं, विज्ञातव्यं परं ब्रह्म च स्वाधिकारानुरूपेण **ज्ञात्वा यो यदिच्छति** ज्ञातव्यं परं ब्रह्म प्राप्तव्यमपरं ब्रह्म वा **तस्य तद्**भवति ॥ ४ ॥

तरह स्वप्नादि के द्रष्टा को जानने का ही मोक्षरूप फल बताया है (४.४) और भेददर्शन की निंदा की है (४.१०) जिससे पुनः अद्वैत प्रतिष्ठापित होता है । एवं च कठोपनिषत् जीव का शिव से अत्यन्त अभेद बताती है । यह आनुमानिकाधिकरण में (१.४.१) छठे सूत्र के भाष्य में विस्तार से विचारित है । 'है या नहीं ?' यों पूछा गया होने से पुराणकार ने उत्तर प्रारम्भ ही किया है 'अस्ति–है' से ।) ॥ १ ॥ बुद्धिमान् साधक उस आत्मा को जानकर हर्ष व शोक से छूट जाता है । वह आत्मतत्त्व धर्मादि से परे है तथा भूत-भविष्य से भी परे है अर्थात् नित्य वर्तमान है ॥ २ ॥ सारे वेद उसी का प्रतिपादन करते हैं । उसी शिव को चाहने वाले तपस्या, ब्रह्मचर्यादि का सेवन करते हैं ॥ ३ ॥ यही अपर ब्रह्म भी है और परम भी । इसी अक्षर पुरुष को जानकर यथेष्ट पुरुषार्थ सिद्ध होता है । (औपनिषद प्रसंग के अनुसार टीकाकार ने यहाँ ऐसी व्याख्या की है–प्रणव ही अपर और पर ब्रह्म का प्रतीक है । प्रणव के सहारे अपरब्रह्म की उपासना कर अपरब्रह्म की और प्रणव के सहारे परब्रह्म का साक्षात्कार कर परब्रह्मरूपता की प्राप्ति होती है ।) ॥ ४ ॥ यही (परशिव या प्रणव) श्रेष्ठ और अंतिम सहारा है । इसे जानकर

१ 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्त्वा धीरो हर्षशोकौ जहाती'त्युपनिषत् । तत्र धीरइति श्रवणमध्यात्मयोगो मननं मत्त्वेति च निदिध्यासनमिति केचित् । धैर्ये महत्त्वं च विवक्षितं, तच्च वैराग्यमेव, पूर्वं तस्यैव नचिकेत- सा प्रदर्शनाद्यमेन च प्रशंसनादिति द्रष्टव्यम् । २ घ. ङ. छ. झ. ०देव त० । ३ घ. ०थैवा ।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ ५ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो [१] न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ ६ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

तावुभौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ ७ ॥

अत एव तत्परापरब्रह्मप्राप्त्युपायत्वाद् ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां मध्ये **श्रेष्ठं** प्रशस्ततमम् । अत [२] **एतदेवाऽऽलम्बनं परं** [३] ब्रह्मविषयत्वात् । अतः परापरब्रह्मात्मै**नैतत्**प्रणवात्मकमा**लम्बनं ज्ञात्वा**ऽपरब्रह्मज्ञानादर्चिरादिमार्गेण **ब्रह्मलोकं** प्राप्यात्र [४] **महीयते** । तेन तु प्रणवेन परं ब्रह्म जानन्, लोक्यत इति लोको ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः । हार्दाकाशमध्यस्थिते लोकनीये परस्मिन्ब्रह्मण्येकी भूतः सन्महीयते ॥ ५ ॥ अथ तेन प्रणवेन ज्ञातव्यं परं ब्रह्म स्वरूपतो निर्दिशति—**न जायत** इति । जननमरणयोराद्यन्तभावविकारयोरात्मनि प्रतिषेधात्तन्मध्यवर्तिनो विकारा अपि तत्र न सन्त्यर्थात् [५] प्रतिपादितं भवति । स च सर्वविक्रियारहित आत्मा **विपश्चिन्**मेधावी अपरिलुप्तप्रज्ञास्वाभाव्यात् [६] । किंच **नायम**ात्मा **कुतश्चित्**कारणान्तराद् द्वैतवदुत्पद्यते, तथाविधस्य वस्त्वन्तरस्यैवाभावात् । ननु वियदादिकं वस्तु विद्यत इति ? तत्राऽऽह—**न बभूवे**ति । तस्मादात्मनः कश्चिदर्थान्तरभूतः पदार्थो **न बभूव** नोत्पन्नः । "आत्मन आकाशः संभूतः" इत्याद्या श्रुतिस्तु मायावशाद् द्वैतप्रपञ्चस्याद्वितीये ब्रह्मण्यध्यासप्रतिपादनपरा । तस्मात्कारणान्तराभावादयमात्मा**ऽजो** जनिरहितः । अत एव **नित्यो** ध्रुवः । **शाश्वतो**ऽपक्षयवर्जितः । **पुराणः** पूर्वकालेऽपि नवः । निरवयवत्वेन तदुपचयापचययोरभावात्सर्वदैकरूप एवेत्यर्थः । एवंविध आत्मा स्वाधिष्ठिते **शरीरे** शस्त्रादिभि**र्हन्यमाने**ऽपि **न हन्यते** न हिंस्यते ॥ ६ ॥

ब्रह्मलोक में महिमामण्डित हुआ जाता है । (अपरोपासना से ब्रह्मलोकगमन और वहाँ प्रशंसित स्थिति की प्राप्ति फल है । परानुभव से ब्रह्मरूप लोक से अभेदप्रतिष्ठा फल है । उपाय की अच्छाई द्विविध प्रसिद्ध है— स्वरूपतः और उपेयदृष्ट्या । कुछ सहारे स्वरूपतः खराब होकर भी उपेयदृष्ट्या अच्छे होते हैं । कुछ स्वरूपतः सुंदर होकर भी उपेयदृष्ट्या निकृष्ट होते हैं । प्रणव उभयथा उत्तम है । यह श्रेष्ठ और अंतिम सहारा होता है) ॥ ५ ॥ वह आत्मा न पैदा होता है न मरता है । कभी लुप्त न होने वाली प्रज्ञा उसका स्वभाव है । उसका (आत्मा का) कोई कारण नहीं और वह भी किसी का कारण नहीं । (न वह किसी से उत्पन्न हुआ और न उससे कुछ उत्पन्न हुआ ।) वह जन्मरहित आत्मा नित्य है, अपरिवर्तनीय है तथा सदा एकरूप है । शरीर को मारने पर भी आत्मा नहीं मारा जाता ॥ ६ ॥ जो आत्मा को मारने या मरने वाला समझता है वह गलत ही समझता है क्योंकि न यह मारता है न मारा जा सकता है ॥ ७ ॥ यह छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है । सब जन्तुओं की हृदयगुफा में आत्मरूप से यही स्थित है । निष्काम व्यक्ति ही इन्द्रियनियंत्रण के अनन्तर इस परमात्मा को और उसकी स्वभावभूत महिमा

---

१ प्रेते विचिकित्सेति पप्रच्छात उत्तरयति नायं म्रियत इति । मरणं देहस्यैव । यावद्देहे प्राणाः सञ्चरन्ति तावज्जीवत्ययमिति व्यवहारो यदा ते न तत्र चलन्ति तदायमम्रियत इति व्यवहारः । आत्मनोऽत्र कः प्रसंग इति भावः । २ ङ. °त एवैत° । ३ घ. °रं परत्र° । ४ च. झ. प्राप्य म° । ५ झ. °त्यर्थः प्रतिपादितो भ° । ६ ङ. °तज्ञानस्वा° ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको[1] धातुप्रसादान्महिमानमस्य[2] ॥ ८ ॥
दूरं व्रजति चाऽऽसीनः शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं साक्षान्महादेवं मदन्यो[3] ज्ञातुमर्हति ॥ ९ ॥
अशरीरं शरीरेषु ह्यनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ १० ॥

अणोरणीयानित्यादि । **अणो**रल्पपरिमाणाद्द्रव्यादप्य**णीयान**तिशयेनाणुः । तथा **महतो** महत्परिमाणादपि **महीयान्**महत्तरः । अणुर्महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्सर्वमनेनैव कारणभूतेनाऽऽत्मना लब्धसत्ताकं भवतीति तदुभयव्यापकत्वादात्मनोऽणीयस्त्वादिव्यपदेशः । स **आत्माऽस्य जन्तो**र्जनिमतो ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य प्राणिजातस्य **गुहायां** हृदये **निहितः** आत्मभावेनावस्थित इत्यर्थः । तं तथाविधमात्मान**मक्रतु**रकामो दृष्टादृष्टे विषये वितृष्णः पुरुषः **पश्यति** साक्षात्करोति । **धातुप्रसादा**न्मनआदीनि करणानि शरीरधारणाद्धातव उच्यन्ते तेषां धातूनां प्रसादाद्विषयोपभोगजनितकालुष्यविरहा**दस्य** च प्रत्यगात्मनो **महिमानम**नवच्छिन्नब्रह्मरूपत्वलक्षणं यदाऽऽपरोक्ष्येण जानाति तदा **वीतशोकः** संसारबन्धविमुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥ **दूरं व्रजतीत्यादि** । **आसीनो**ऽवस्थितोऽचल एव सन्**दूरं व्रजति** । तथा **शयानः** सन्**सर्वतो याति** गच्छति । सर्वगते प्रत्यगात्मन्यासनव्रजनशयनादीनां परस्परविरुद्धानामध्यस्तत्वाद्युगपत्तत्प्रतिभासो न विरुध्यत इत्यर्थः । स च विरुद्धधर्मयोगः परिच्छिन्नस्य न संभवतीत्यपरिच्छिन्नोऽयमात्मा **महादेवः** । एतेन श्रुतिगतं 'मदामदमि'ति पदमुक्तार्थं भवति । **तं महादेवं** मत्तोऽन्यः **को** वा **साक्षा**दयमहमस्मीति **ज्ञातुमर्हतीति** नचिकेतसं प्रति मृत्युवाक्यम् ॥ ९ ॥ **अशरीरमिति** । स्वेन स्वरूपेण शरीररहितमाकाशकल्पम् । **अनवस्थे**ष्ववस्थानरहितेष्वनित्येषु देवपितृमनुष्यादीनां **शरीरे**ष्वात्मभावे**नावस्थितं**, स्वयं नित्यं **महान्तम्** । आकाशादिवदस्य महत्त्वमापेक्षिकं मा भूदिति विशिनष्टि–**विभुमिति**[4] । **विभुं** व्यापिनमपरिच्छिन्नमात्मानं सर्वप्राणिष्वहमिति प्रत्यक्त्वेनोल्लिख्यमानं **मत्वा** मननेन निश्चित्य पुनः संसारशोकं **न** प्राप्नोति ॥ १० ॥

को समझकर शोकातीत हो पाता है ॥ ८ ॥ यह आत्मा बैठा रहता हुआ ही दूर चला जाता है । सोया हुआ ही सर्वत्र पहुँच जाता है । उस स्वयं महादेव को मुझसे भिन्न कौन जान सकता है ? (विरुद्ध धर्मों वाला आत्मा है ऐसा कहने से उसकी निर्धर्मकता स्पष्ट होती है व सभी रूप उसमें समानरूप से कल्पित हैं यह व्यक्त होता है । 'मुझसे भिन्न' का अभिप्राय है कि मैं, जो कि अन्तर्मुख हूँ वही इसे समझ पाया हूँ अतः अंतर्मुख व्यक्ति ही इसे समझ सकता है । अनुभूतिप्रकाश में कहा है 'अन्तर्मुखोऽहं पश्यामि मत्तोऽन्यो बाह्यधीः पुमान् । ज्ञातुमर्हति को वा तम् विरुद्धात्मत्वभासिनम् ॥' (११.३१) ॥) ॥ ९ ॥ अस्थिर शरीरों में रहते हुए भी जो शरीरभिन्न ही है उस महान् व्यापक आत्मा को समझकर समझदार व्यक्ति फिर शोक

१ केचिद्वीतशोकः पश्यतीति योजयन्ति । विगतस्मरणरहित इति च व्याचक्षते । २ धातुर्नेन्द्रियेषुचेति मेदिनी । धातुरिन्द्रियवाचकस्तेषां प्रसादोऽचाञ्चल्यम् । अतो भाष्यम् 'मनआदीनि करणानि धातवः' इति । अन्ये तु शरीरस्वास्थ्यहेतुभूतानायुर्वेदप्रसिद्धान्धातूनिहेच्छन्ति। देहस्वास्थ्ये नात्मज्ञानसम्भव इति च योजयन्ति । ३ अहं हि सूक्ष्मबुद्धिस्तथा च सूक्ष्मबुद्धिरेवैनं जानीयान्नान्य इत्यर्थः । अस्मत्पदमुपनिषदि यमपरमिह ब्रह्माणमपि वक्तुं शक्नोति । शास्त्रदृष्ट्योपदेशे तु प्रत्यगात्मनोऽन्यः कस्तं जानीयादित्यर्थः । नान्योतोऽस्ति द्रष्टेतित्युक्तम् । इह च प्रत्यगात्मा तं पश्येदिति । ततस्तयोरभेद इति भावः । ४ विभुमिति वैविध्यं भजमानमित्यर्थः । तथाचानुभूतिप्रकाशे 'सर्वगं बहुभावाधिष्ठानं मत्वा न शोचती'ति (११.३७) ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ ११ ॥
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ १२ ॥

नायमात्मेति । **अयमात्मा प्रवचने**नानेकवेदाध्ययनेन **न लभ्यो** लब्धुमशक्यः । नापि **मेधया** ग्रन्थधारणशक्त्या च । न बहुविधेनानात्मशास्त्रश्रवणेन[1] । केन तर्ह्युपायेनासौ लभ्य इति ? उच्यते । **यमेव** स्वात्मान**मेष** साधको **वृणुते** प्रार्थयते **तेनैव** साधकेनायमात्मा[2] **लभ्य** उपलब्धव्यः । **तस्य** च साधक**स्यैष** आत्मा **स्वां तनूं** निरस्तसमस्तोपाधिकं स्वकीयं रूपं **विवृणुते** प्रकाशयति ॥ ११ ॥ **नाविरत** इति । **दुश्चरितात्**पापाचरणा**दविरतो**ऽनुपरतः । **एनमुदीरितमात्मानं न प्राप्नुयात्** । **नाप्यशान्त** इन्द्रियलौल्यादनुपरतः । तथा**ऽसमाहितश्चि**त्तैकाग्र्यरहितोऽप्येनं प्राप्तुं न शक्नोति । तथा**ऽशान्तमानसः** । अशान्तमव्यावृत्तं विषयेभ्यो मानसं यस्य सोऽपि नैनं प्राप्नोति । यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च शान्तः समाहितचित्त उपशान्तमानसश्च स एवैनमात्मानं गुरुशास्त्रकृतेन **प्रज्ञानेन** प्रकृष्टेन निर्विचिकित्सापरोक्षज्ञानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

नहीं करता । (महान् व्यापक कहने से सर्वविधव्यापकता सूच्य है । अथवा विभुका अर्थ है विविध आकारों वाला होने वाला अर्थात् सर्वाधिष्ठान) ॥ १० ॥ अनेक वेदों के अध्ययन से, बहुत याद कर लेने से या बहुत कुछ सुन लेने से यह आत्मा प्राप्त नहीं होता । यह साधक जिस निजात्मा की ही इच्छा रखता है वही साधक उसे पा सकता है । उसे आत्मा अपना स्वरूप प्रकाशित कर देता है । (एकमात्र आत्मा को ही चुन लेने से फिर समस्त रुचि से उसकी प्राप्ति के साधनों का अनुष्ठान किया जा सकता है । आत्मा स्वंय अपना स्वरूप प्रकाशित करता है, आत्मज्ञान के लिये कोई प्रयास नहीं चाहिये । अन्यत्र आचार्यों ने कहा है 'नामरूपाद्यनात्माध्यारोपणनिवृत्तिरेव कार्या, नात्मचैतन्यविज्ञानम्.........।.........।...... तस्मादविद्याध्यारोपणनिराकरणमात्रं ब्रह्मणि कर्तव्यं, न तु ब्रह्मज्ञाने यत्नः' (गीताभा. पृ. ५०७ आ.आ.) ।) ॥ ११ ॥ जिसने पापाचरण छोड़ नहीं दिया, इन्द्रियों की लोलुपता पर विजय नहीं पा ली, चित्त को एकाग्र नहीं कर लिया और विषयों से मन नहीं मोड़ लिया वह प्रज्ञान द्वारा इसे (आत्मा को) पा नहीं सकता (क्योंकि प्रज्ञान ही नहीं पा सकता) । (सदाचार अध्यात्मसाधना का प्रारम्भिक एवं अनिवार्य कदम है । यथेष्टाचरण तो कुत्तों की सी गति देगा ब्रह्मनिष्ठा कहाँ देगा ! यद्यपि समस्त चेष्टायें एकसी कल्पित हैं और छोड़ना सभी को है तथापि सब छूटें इसके लिये पहले गलत चेष्टायें छोड़नी होंगी । वस्तुतः कामनैकप्रयुक्त चेष्टाओं का त्याग प्राथमिक है । शास्त्रीय चेष्टायें कामप्रयुक्त होती हुई भी शास्त्रप्रयुक्त मानी जा सकती हैं । परमार्थतः चेष्टामात्र कामप्रयुक्त है पर इतना अभ्युपगम किया जा सकता है कि विवेकी शास्त्रीय चेष्टायें केवल कामवश नहीं करता किंतु शास्त्रीय होने से भी उन्हें करने को उद्यत होता है । यह ठीक है कि शास्त्र को मानना आदि तभी तक संभव है जब तक कामनाये हैं और नित्यादि सभी कर्म काम्य ही है किंतु कामना होने पर भी यथेष्ट आचार न कर शास्त्रीय में बँधना इसका द्योतक है कि व्यक्ति केवल कामना से प्रेरित नहीं है । यद्यपि यहाँ भी नरक से बचने आदि की कामना ही मुख्य है तथापि अभ्युपगम से स्वीकारा

---

१ ङ. ०धेन ना० । २ तेनेति वरणेनेत्यर्थ इत मुंडकव्याख्यायाम् । यद्वा यमेव मुमुक्षुमेष प्रकरणी परमात्मा वृणुतेऽनुगृह्णाति तेनैव परमेश्वरानुगृहीतेनायं लभ्य इति योजनानन्दगिरीये । अतः 'यमन्तर्मुखमीशोऽनुगृह्णाति तेन लभ्यते' (११.३९) इत्यनुभूतिप्रकाशे ।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च[1] उभे भवत ओदनः ।
क इत्थं वेद देवो वा मनुष्योऽन्यश्च यत्र सः ॥ १३ ॥
[2]ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति शरीरभृच्छंकरसंज्ञितौ तौ ॥ १४ ॥

यस्य ब्रह्मेति । **यस्या**ऽऽत्मनो **ब्रह्म क्षत्रं चोभे** अप्योदनोऽशनं भवतः । उपलक्षणमेतत् । ब्रह्मक्षत्राद्युपलक्षितं सर्वं जगदुपसंह्रियमाणं यस्य परमात्मन इदमोदनस्थानीयं भवति । सर्वहरो मृत्युश्चोपदंशस्थानीयः श्रूयते हि– 'मृत्युर्यस्योपसेचनमि'ति । **स** च परमात्मा **यत्र** वर्तते तत्स्वरूप**मित्थमे**वंप्रकारविशिष्टमिति देवमनुष्यादीनां मध्ये **को** नाम जानीयात् ॥ १३ ॥ उक्तमर्थं रथरूपकल्पनया प्राप्तप्राप्तव्यभावेन विशदयितुं जीवेश्वरयोरौपाधिकं लोकसिद्धं भेदमनुवदति "ऋतं पिबन्तौ" इति मन्त्रः तस्याभिप्रायमाविष्कर्तुं तं पठति–**ऋतं पिबन्ताविति** । **सुकृतस्य** स्वयंकृतस्य स्वात्मना निर्वर्तितस्य कर्मणः फलभूते **लोके** लोक्यमानेऽस्मिञ्शरीरे **गुहां** सत्त्वपरिणामरूपां बुद्धिं **प्रविष्टौ** । बाह्यभूताकाशापेक्षया हार्दाकाशं **परमं**, तच्च परब्रह्मोपलब्ध्यधिकरणत्वात्**परार्ध**मुत्कृष्टं स्थानं तत्र प्रविष्टौ । हार्दाकाशावस्थितबुद्धिसत्त्वान्तर्गतावित्यर्थः । तौ च जीवपरमात्मानावृतं सत्यमवश्यंभावि कर्मफलं **पिबन्तौ** भुञ्जानौ । तत्र जीव एव कर्मफलभोक्ता न तु परमात्मा "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति श्रुतेः । अतोऽत्र च्छत्रिन्यायेन पिबदपिबत्समुदाये पिबच्छब्दप्रयोगः । तौ च च्छायातपवत्परस्परविलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वभेदेन **ब्रह्मविदः** प्रतिपादयन्ति । ये च पञ्चाग्नयः पञ्चाग्निविद्यायुक्ताः । त्रिवारं नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः । एतेऽप्येवमेवाऽऽत्मानौ प्रतिपादयन्ति । अस्य च मन्त्रस्य जीवपरमात्मपरत्वं भगवता व्यासेनापि सूत्रितम्–"गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्" इति ॥ १४ ॥

जा सकता है कि इस स्थल में दो प्रेरक हैं–एक कामना और दूसरा शास्त्र । शास्त्र की प्रेरकता ज्ञापकता-स्वरूप है यह बात अलग है । सर्वथापि मुमुक्षु शास्त्रानुकूल आचरण करे यह इष्ट है । अन्यत्र भी कहा है 'क्रियावन्तः' इत्यादि (मुं ३.२.१०), 'तपो दमः कर्म' (केन.४.८) आदि और गीता में भी मुमुक्षु के लिये सदाचारों का बहुत्र विधान है ।) ॥ १२ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि से उपलक्षित सारा जगत् जिसके लिये भात की तरह है (जो सबको वैसे ही विनष्ट कर देता है जैसे साधारण लोग भात खा जाते हैं, वह परमशिव जिस अपने स्वरूप में रहता है उसे 'यों' ऐसे कौन जान सकता है ? (शिवस्वरूप प्रत्यग्रूप से तो भास सकता है 'यों' अर्थात् किसी सविशेष ज्ञान का विषय नहीं बन सकता है । कुछ आचार्यों ने 'क इत्था वेद' इस श्रुति का अर्थ यह भी किया है 'यथोक्त साधनवान् की तरह जिसके पास ये साधन नहीं है, वह कैसे जान सकता है ?') ॥ १३ ॥

---

१ ब्रह्मक्षत्रपदे ज्ञानक्रिये आहतुरिति गुरवः । तयोरप्ययमधिष्ठानमिति भावः । अत्राधिकरणे (१.२.२.९) श्रुतेर्विचारो दर्शनीयः । २ इतस्तृतीयवल्ल्यर्थमाह ।

शरीर के अंदर बुद्धिगुफा के हार्दाकाश रूप श्रेष्ठ स्थान में अपने किये का फल भोगते-भुगवाते दो लोग रहते हैं—शंकर और शरीरधारी । इनके स्वरूप अँधेरे और धूप की तरह विलक्षण हैं । ब्रह्मवेत्ता ही यह रहस्य समझकर बताया करते हैं । (पूर्व में अन्तर्यामी का विचार आ चुका है । शंकर अंतर्यामी हैं जो फल भुगवाते हुए बुद्धिगुहा में उपस्थित हैं, और जीव भोगते हुए उपस्थित है । यद्यपि श्रुति और तदनुसारी पुराण के अक्षरमात्र का अर्थ करें तो इतना ही कहा है कि 'सुकृत का ऋत पीते हुए दो जने गुफा में घुसे हुए परम उत्कृष्ट स्थान में हैं ।' किन्तु सुकृत शब्द पुण्यपरक यहाँ नहीं, स्वयं किये सब कर्मों के तात्पर्य वाला है । ऋतपद सत्य का वाचक है 'ऋतं सत्यं समीचीनं सम्यक् तथ्यं यथातथम्' (हला.), 'ऋतमुञ्छशिले सत्ये' (त्रिका.) आदि इसमें प्रमाण हैं । किंतु यहाँ अवश्यंभावी, अतः सत्य, कर्मफल में ऋतशब्द लाक्षणिक है । आगे, पीने वाले दो हैं ऐसा शब्दार्थ है, किन्तु विचारणीय है कि वे दो कौन हैं ? सामान्यतः कह सकते हैं बुद्धि और जीव ये दोनों कर्मफल भोगने वाले हैं । किन्तु यह पक्ष ग़लत है । कर्मफल भोगने वाला जीव तो मानना ही पड़ेगा, ढूँढना दूसरे को है । चेतन जीव के साथ जोड़कर जब दूसरा कहा गया है तो वह भी चेतन ही होना उचित है, जड बुद्धि नहीं । अतः दूसरा चेतन परमात्मा ही है । और ईश्वर गुहा-आहित है यह अन्यत्र प्रसिद्ध भी है । अब दिक्कत है कि परमेश्वर का न तो कोई सुकृत है और न वह ऋतपान करता है, उसे तो 'अनश्नन्नभिचाकशीति'—बिना भोगते हुए केवल देखने वाला कहा है । इस प्रकार दूसरा यदि बुद्धि हो तो और परमात्मा हो तो दोनों तरफ लिंगविरोध है—ऋतपान लिंग परमेश्वर में और गुहाप्रविष्टत्व लिंग तथा जीव के साथ गिना हुआ होना लिंग बुद्धि में असंगत है । निर्णय करने के लिये वाक्यशेष की शरण लेनी पड़ेगी । इस वाक्य का स्पष्टीकरण करने वाले वाक्य हों तो उनसे निर्णय होगा । यदि यही वाक्य किसी और बात को समझाने के लिये आया है तो उन वाक्यों के अर्थ से यहाँ का तात्पर्य स्थिर होगा । इसका अर्थ तो समझाया नहीं गया तथा केवल इतना बताना कि दो पीने वाले हैं कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं करता । फलतः यही किसी अन्य के प्रयोजन से आया है । वह प्रयोजन प्रकरण से निर्धारित है । पूर्वत्र ब्रह्म को जानने के साधन और फल बताये हैं तथा उत्तर मंत्र में भी कहा है कि सेतुभूत अक्षर परब्रह्म को हम जान सकते हैं । फिर रथरूपक से आत्मा को पाने वाले भोक्ता का वर्णन किया है और परम पद की प्राप्ति रूप फल बताया है । यह भी कहा है (३.१२) कि सब भूतों में परमात्मा 'गूढ' है व सूक्ष्मदर्शी उसे एकाग्रता से ही समझ पाते हैं । उसे पाने के रास्ते की दुर्गमता यत्नाधिक्य की प्रेरणा के लिये कही गयी है । फिर परमात्मा का स्वरूप अशब्दादि बताया गया है । इस प्रकार पूर्वोत्तर प्रसंग परमेश्वर का ही है और उन्हें समझने के उपायरूप से यह मन्त्र आया है । उपायभूत चिंतन करते हुए आत्मशोधन यों किया है—इंद्रियों से अर्थ परे हैं, अर्थों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महान्, महान् से अव्यक्त और अव्यक्त् से पुरुष (३.१०-११) एवं च बुद्धि से परे ही पुरुष को कहा है । वही यहाँ प्रकरणी ज्ञेय है । फलतः प्रकृत मंत्र में उसे ही बुद्धिगुहा में स्थित कहना उचित है । क्योंकि वह वहाँ है अतः शुचि समनस्क और विज्ञानवान् होकर (३.८) सूक्ष्म अग्र्य बुद्धि से (३.१२) उसे देखना चाहिये—यह अर्थ निकलता है । यदि वह वहाँ है नहीं तो उसे कैसे और कहाँ देखें यह स्पष्ट नहीं होता । दूसरी ओर यदि प्रकृत मंत्र में दूसरी बुद्धि लें तो प्रकरण में कोई फल नहीं मिलता । फिर, यह कहा है 'परम परार्द्ध में स्थित हैं' । परार्द्ध का मतलब

है परम का स्थान–'परस्य अर्धं स्थानम्'–जहाँ 'पर' रहता है। 'पर' आगे पुरुष को ही कहा है 'पुरुषः परः' और उसीकी परता निरुपचरित कही है 'पुरुषान्न परं किंचित्' (३.११)। इसलिये 'परार्द्धे प्रविष्टौ' इस वाक्यप्रमाण से भी यहाँ ईश्वर ही ग्राह्य है। अब देखें तो बुद्धि के पक्ष में एक लिंग ही प्रमाण है और ईश्वर के पक्ष में लिंग, वाक्य और प्रकरण तीन प्रमाण हैं। अतः दूसरा लेना तो ईश्वर ही होगा। रही बात ऋतपान की, तो उसे किसी तरह समझना पड़ेगा। मालिक खुद तो जूता नहीं बनाता अपने नौकरों से बनवाता है। पर परिचय यही कराया जाता है कि अमुक सेठ जूते बनाते हैं इत्यादि। इसी तरह परमेश्वर भोगता तो नहीं पर भोग कराता जरूर है। इसी से कह भर दिया है कि वह भोग करता है। अथवा छाते वाले के साथ जाता बिना छाते वाला भी 'छाते वाला' कह दिया जाता है वैसे यहाँ समझा जा सकता है। इस तरह यह मंत्र जीव और ईश्वर को ही बता रहा है यह निर्णय है। अतः पुराण में स्पष्ट कर दिया 'शरीरभृच्छंकरसंज्ञितौ'। व्यासजी ने गुहाधिकरण में (१.२.३.११) यही निर्णय दिया है। अब एक ही शंका और उठ सकती है कि अभेदप्रतिपादक श्रुति जीव-ईश्वर को दो कैसे कहने लगी? इसका समाधान आचार्यों ने सरलतापूर्वक किया है। वाक्य किस तात्पर्य से आया है यह निर्णय होने पर ही उसका ठीक-ठीक मतलब समझ में आता है। पूर्वोक्त समालोचना से यह मालूम पड़ा कि परमशिवज्ञान के लिये वाक्य है और वे हैं अशब्दादिरूप। इस प्रकार वाक्य क्या बताने आया है?–यह कि आत्मा अशब्दादि अर्थात् अकर्तृभोक्तृस्वभाव है। अर्थात् भेदप्रतिपादन इस वाक्य का तात्पर्य नहीं। तब भेद कहा क्यों? स्पष्ट है कि भेद का अनुवाद है अभोक्तृत्वादि बताने के लिये। अभी हम दो समझते हैं–एक भोक्ता और दूसरा भोक्तृसाक्षी। परीक्षा करें तो वे छाया आतप जैसे विलक्षण हैं। भोक्ता छाया-सा है अप्रकाश है, साक्षी आतप-सा है–स्वप्रकाश है। अतः उस स्वप्रकाश को ही अपना स्वरूप जानें, जो सेतुस्थानीय है, तभी भय से पार जा सकते हैं यह यहाँ विवक्षित है। एवं च भेदविवक्षा से नहीं पदार्थशोधन की विवक्षा से दो कहा है। जैसे कहीं एक ही छड़ मोड़ कर खड़ी की गयी हो तो दूर से लगता है कि दो छड़ें एक दूसरे को सहारा दिये खड़ी हैं। पर पास जाकर देखने पर स्पष्ट होता है कि ऐसा नहीं है। इसे समझाने के लिये कहते हैं 'ये जो दो छड़ें लग रही हैं ये एक है।' यहाँ 'दो छड़ें' कहा तो है, पर अनुवादमात्र है। इसी तरह प्रकृतादि प्रसंगों में समझ लेना चाहिये। नियम्यनियामकभेद की शंका का अंतर्यामी-ब्राह्मण की व्याख्या में भी निराकरण किया जा चुका है।) ॥ १४ ॥ शरीरधारी जीव

शरीरभृत्कर्मफलं भुङ्क्ते योजयिता शिवः ।
प्रतीतितो विरुद्धौ तौ भेदस्त्वौपाधिकस्तयोः ॥ १५ ॥
आत्मानं रथिनं विद्याच्छरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्यान्मनः प्रग्रहमेव च ॥ १६ ॥
इन्द्रियाणि हयान्विद्याद्विषयानपि गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं विद्याद्भोक्तारमास्तिकाः ॥ १७ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्मर्त्योऽयुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ १८ ॥

न चानयोर्भेदो वास्तव इत्युक्तार्थपरत्वं मन्त्रस्य दर्शयति–**शरीरभृदिति** । **तयोर्जीवेश्वरयोर्भेदस्त्वौपाधिकः** । तदुपाध्योर्मायाविद्ययोर्भेद एवापरिच्छिन्ने ब्रह्मण्युदशरावस्थभेदश्चन्द्रबिम्ब इव प्रतीयते । अतः प्रातीतिक एवानयोर्भेदो न वास्तव इत्यर्थः ॥ १५ ॥ तत्राविद्योपाधिकृतो यो जीवस्तस्याविद्यया संसारगमनं, विद्यया मोक्षगमनं चोभयं रथरूपकल्पनया प्रतिपादयति–**आत्मानमिति** । कर्मफलोपभोक्तारं संसारिण**मात्मानं रथिनं** रथस्वामिनं[१] जानीयात् । तदधिष्ठितं **शरीरं रथं** जानीयात्[२] । तद्धि रथोऽश्वैरिन्द्रियैराकृष्यते । व्यवसायलक्षणान्तःकरणपरिणामरूपां **बुद्धिं सारथिं** विद्यात् । बुद्ध्या हीन्द्रियादिकं प्रेर्यते । संकल्पादिलक्षणं **मनस्तत्प्रग्रहं** रशनां जानीयात् ॥ १६ ॥ चक्षुरादी**न्द्रियाण्यश्वाः** । रूपादिविषयास्तत्संचरणप्रदेशाः[३] । एवं शरीरादीनां रथादिरूपत्वमात्मनस्तत्स्वामित्वं च कल्पितम् । तत्र शरीरादिविशिष्टस्यैवाऽऽत्मनो भोक्तृत्वं न चिन्मात्ररूपस्येति दर्शयति–[४]**आत्मेन्द्रियेति** । **आत्म**शब्दः शरीरवाची । देहेन्द्रियमनोभिः संयुक्तमेवाऽऽत्मानं **भोक्तारं** जानीयात् । तद्रहितश्चिन्मात्र स्वरूपस्त्वभोक्ता "ध्यायतीव लेलायतीव" "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति श्रुतेः ॥ १७ ॥ उक्तां रथक्लृप्तिमुपजीव्याविवेकिन इन्द्रियपारवश्यं विवेकिनः स्वाधीनेन्द्रियत्वं च प्रतिपादयति–**यस्त्विति** । यस्तु मर्त्यः संसार्यात्माऽ**विज्ञानवा**न्कार्याकार्यविवेकज्ञानरहितो भवति । तथाऽ**युक्तेना**प्रतिगृहीतेनासमाहितेन **मनसा** युक्तो भवति । **तस्या**ज्ञानिनश्चक्षुःश्रोत्रा**दीन्द्रियाणि** दुष्टाश्ववद**वश्यानि** वशीकर्तुमशक्यानि, दुर्निवारणीयानीति यावत् ॥ १८ ॥

तो कर्मफल का भोग करता है और शिव उसे संभव बनाता है । ये दोनों–जीव व शिव–प्रतीति के अनुसार तो विरुद्धस्वभाव लगते हैं पर हैं नहीं । इनका भेद औपाधिकमात्र है । (औपाधिक भेद उपाधिभेद में पर्यवसित होता है उपधेयभेद में नहीं ऐसा आकाशादि में सर्वत्र दृष्टचर है अतः जीव से शिव भिन्न नहीं है । एक की ही उपाधियाँ भिन्न हैं । वे माया और अविद्या, अज्ञान और अंतःकरण आदि चाहे जिस ढंग से समझी जायें, अभेद में कोई फरक नहीं पड़ता ।) ॥ १५ ॥

(रथ के रूपक से समझाते हैं कि अविद्या से संसार और विद्या से मोक्ष मिलता है–) कर्मफलों के उपभोक्ता आत्मा को (जिसे ऋत पीने वाला कहा था उसे) रथी समझना चाहिये और शरीर को रथ । बुद्धि सारथि है तथा मन लगाम । इंद्रियाँ घोड़े हैं एवं विषय वह स्थान है जहाँ वे घोड़े चला करते हैं । शरीर, इंद्रिय, मन आदि समेत ही आत्मा भोग किया करता है (अकेला, निरुपाधिक, नहीं) । जो अविवेकी अनियंत्रित मन वाला होता है उसकी इंद्रियाँ भी बिगड़े घोड़े की तरह वश में नहीं होती । जो विवेकी और नियंत्रित मन वाला होता है उसकी इंद्रियाँ भी अच्छे घोड़ों की तरह वश में होती हैं । कामदोष से हमेशा अशुद्धि वाला, अनियंत्रित मन वाला अविवेकी उस परम पद को (मोक्ष को) कभी नहीं पाता, संसार में ही भटकता रहता है । जो नियंत्रित मन वाला विवेकी कामोपहत नहीं रहता वही उस परमपद को प्राप्त करता है जिससे कभी च्युत नहीं होना पड़ता अतः पुनः जन्मादि प्रबंध में नहीं पड़ना पड़ता । विवेक को सारथि और निगृहीत मन को लगाम बनाने वाला विषय-अरिरंसु साधक ही संसारगति से पार पहुँचता है । व्यापक ब्रह्म का सच्चिदानंद अखण्ड स्वरूप ही 'पार' रूप प्रकृष्ट प्राप्तव्य है । व्यापक शिव का वह स्वरूप ही वस्तुतः सभी देहधारियों का स्वरूप है ॥ १६–२२१/२ ॥ परम प्राप्य अद्वैत रूप वे शिव ही लीला से

---

१ अहंकारमित्यर्थः । 'जीवोपाधिमहंकारं सारथिमि'त्यनुभूतिप्रकाशः । २ बुद्ध्या मनस्तेनेन्द्रियाणीत्यर्थः । 'मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वा' इति भाष्यम् । ३ अतएवास्य भोगायतनमित्याख्या । आदिपदं सूक्ष्मकारणयोः संग्रहार्थम् । तदुक्तमध्यासभाष्ये'न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति आत्मनोऽसंगस्य प्रमातृत्वमुपपद्यत' इति । ४ च. ०त्ररू० ।

यस्तु विज्ञानवान्मर्त्यो युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ १९ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्मर्त्यो ह्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ २० ॥
यस्तु विज्ञानवान्मर्त्यः समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ २१ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः[1] परमं पदम् ॥ २२ ॥
पदं यत्परमं विष्णोस्तदेवाखिलदेहिनाम् । पदं परममद्वैतं स शिवः साम्बविग्रहः ॥ २३ ॥
रुद्रविष्णुप्रजेशानामन्येषामपि देहिनाम् । ऋते साम्बं महादेवं किं भवेत्परमं पदम् ॥ २४ ॥

यस्तु पुनरुक्तवैपरीत्येन विवेकज्ञानवान्**युक्तेन** समाहितेन **मनसा** च युक्तो भवति **तस्य** विवेकिन **इन्द्रियाणि** स्ववशानि दान्ताश्ववत्प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं च शक्यानीत्यर्थः ॥ १९ ॥ एतौ चोभौ क्रमेण संसारमोक्षयोरधिकारिणावित्याह– **यस्त्विति** ।**यस्त्वविज्ञानवान्**प्रागुक्तः, अगृहीतमनस्कश्च, अत एव**ाशुचि**रशुद्धः कामवशीकृतत्वेनाकार्येऽपि प्रवर्तनात्**सो**ऽज्ञस्**तत्**प्रागुक्तं **पदं** पदनीयमक्षराख्यं प्रणवप्रतीकं परं ब्रह्म **न** प्राप्नोति । न केवलं तदप्राप्तिमात्रं प्रत्युतानर्थं जन्ममरणादिलक्षणं **संसारं** प्राप्नोति ॥ २० ॥ **यस्तु** तद्विपरीतो विवेकविज्ञानवान्समाहितमनस्कोऽत एव **सदा** सर्वदा **शुचिः** शुद्धश्च भवति । **स तु तत्**प्रागुक्तं पदनीयं ब्रह्म प्राप्नोति । तत्पदनीयं विशिनष्टि–**यस्मा**दिति । **यस्मा**दाप्तात्पदादच्युतः स **भूयः** पुन**र्न जायते** संसारमण्डलं न प्रविशति, तादृशमपुनरावृत्तिलक्षणं ब्रह्मस्वरूपं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥ पुनस्तत्पदं विशिनष्टि– **विज्ञाने**ति । निश्चयरूपात्मानात्मविवेकबुद्धि**र्विज्ञानम्** । संकल्पविकल्पात्मकं **मनः** । तथाच विज्ञानरूपसारथिना नीयमानः प्रगृहीतमनस्कश्च सन्**स** विद्वा**नध्वनः** संसारगतेः **पारम**न्तं प्राप्नोति । स्वस्वरूपयाथात्म्यज्ञानेन संसारबन्धाद्विमुच्यते । **तच्च** पारं **विष्णो**र्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः **परमं** प्रकृष्टं **पदं** पदनीयं प्राप्तव्यं सच्चिदानन्दैकरसं स्वरूपमिति यावत् ॥ २२ ॥ 'तद्विष्णोः परमं पदमि'ति श्रुतिवाक्यं स्वयं व्याकरोति–**पदं यदि**ति । "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति" इत्येवं त्रिपुटीहीनं यदद्वितीयं तत्त्वं **तदेवाखिलदेहिनां** देवमनुष्यादीनां सर्वेषां **परमं पदं** निरतिशयानन्दरूपतया सर्वैरभिलषितत्वादीदृग्विधं परमं पदमेव लीलयाऽर्धनारीश्वरविग्रहः **शिवः** संपन्नः ॥ २३ ॥ एतदेव सच्चिदानन्दैकरसं परशिवस्वरूपं रुद्रविष्ण्वादीनां गुणमूर्तीना**मन्येषा**मिन्द्रादीनां च परमं पदं भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

अर्धनारीश्वर विग्रह धारण करते हैं । रुद्र, विष्णु, प्रजापति व अन्य सब देहधारियों का परम प्राप्तव्य स्वरूप साम्ब महादेव को छोड़कर और कौन हो सकता है ? ॥ २३–२४ ॥

(परममहेश्वर की सूक्ष्मता और प्रत्यगात्मता बताने के लिये कहते हैं–) इन्द्रियों से अर्थ–विषय–परे हैं । (विषय ही करणरूप से–इंद्रिय रूप से–शरीरों में रहते हैं । इंद्रियाँ विषयों से सर्वथा अतिरिक्त कोई वस्तु

---

१ विष्णोः परब्रह्मणः प्रकृष्टं पदं सतत्त्वमित्येतदिति भाष्ये स्पष्टम् । सत्त्वं स्वरूपमित्यर्थः । षष्ठी त्वौपचारिकी । गोपालयत्यादयस्तु स इति त्वमर्थः विष्णोरिति तत्पदवाच्यं, परमं पदमिति लक्ष्यार्थ इत्येवं योजयन्ति । तथात्वे विष्णोः सविशेषस्य परमं पदमधिष्ठानमित्यर्थ आयाति ।

[1]इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ २५ ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ २६॥

इन्द्रियादीनामुत्तरोत्तरं सूक्ष्मत्वव्यापकत्वप्रत्यक्त्वतारतम्यक्रमेण पदनीयस्य परशिवस्वरूपस्य निरतिशयं सूक्ष्मत्वादिकं प्रतिपादयति–**इन्द्रियेभ्य** इत्यादिना । भूतकार्याणि तावदिन्द्रियाणि स्थूलानि च यैरर्थैः शब्दादिविषयैः स्वात्मप्रकाशनायाऽऽरब्धानि **तेऽर्था इन्द्रियेभ्य** स्वकार्येभ्यः **पराः** सूक्ष्मा महान्तश्च । तेभ्योऽप्य**र्थेभ्यश्च मनः**शब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं **परम्** । तस्माद् **मनसो**ऽपि **परा** सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च **बुद्धिः** । अध्यवसायाध्या(द्या)रम्भकं भूतसूक्ष्मं बुद्धिशब्दवाच्यम् । तस्या अपि **बुद्धेर्महानात्मा परः** तत्समष्टिरूपा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्**महानात्मे**त्युच्यते[2] । सा सर्वासां बुद्धीनां कारणत्वात्सूक्ष्मतरा व्यापिनी प्रत्यग्भूता च । तस्मादपि **महतः परं** सूक्ष्मतरं प्रत्यग्भूतं सर्वमहत्तरं **चाव्यक्तम**व्याकृतं नामरूपात्मकं (कस्य) सर्वस्य जगतो बीजभूतं मायाप्रकृत्याद्यपरपर्यायं तत्त्वम्[3] । तस्माद**प्यव्यक्तात्परः** सूक्ष्मतरः सर्वकारणभूतः प्रत्यागात्मा । अत एव **पुरुषः** सर्वस्य कार्यप्रपञ्चस्य स्व[4] स्वरूपेण पूरयिता । यद्वा सर्वासु पूर्षु शेत इति पुरुषः, सर्वान्तरत्वात् । ततोऽन्यस्य सूक्ष्मस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह–**पुरुषादिति** । **पुरुषात्**सर्वान्तराच्चिद्घनस्वरूपात्प्रत्यगात्मनः **परं किंचिद**पि वस्तु **नास्त्येव** । सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां तत्रैव परिसमापनात् । **सैव** परा **काष्ठा** पर्यवसानभूमिः । सैव गन्तॄणां संसारिणां **परा** प्रकृष्टा **गतिर्ग**न्तव्यं प्राप्तव्यं वस्तु । अन्यास्तु गतयः पुनरावृत्तिमत्त्वादपराः । उक्तविधा तु गतिः पुनरावृत्तिराहित्येन परा । अत एव भगवतोक्तम्–"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" इति । एषा च प्रत्यगात्मत्वेन प्राप्तप्राप्तिरूपत्वाज्ज्ञानमात्रप्राप्या । अतो गत्यन्तरवक्रियासाध्यत्वादनित्यत्वमस्य न शङ्कनीयमित्यर्थः ॥ २५–२६ ॥

नहीं । बृहद्भाष्य में कहा है 'विषयस्यैव स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम' (२.४.११) । प्रकृत कठवाक्य के व्याख्यान में भी यह व्यक्त किया है । कारण अपने कार्य से परे होता ही है ।) अर्थों से मन परे है । (मनशब्द से मनआरम्भक भूतसूक्ष्म कहे गये हैं । अथवा ईश्वरसंकल्प यहाँ मन से कहा गया है ऐसी व्याख्या समझनी चाहिये । वही भूतकारण होने से भूतों से परे है ।) मन से परे है बुद्धि । (यहाँ भी बुद्धि के आरम्भक भूतसूक्ष्म या 'बहु स्याम्' आदि ईश्वर निश्चय बुद्धि शब्द का अर्थ है ।) बुद्धि से महान् आत्मा परे है ।(हिरण्यगर्भ महान् आत्मा है । अथवा अन्तर्यामी ही महान् आत्मा है ।) महानात्मा से अव्यक्त परे है । (मायादि नामों से प्रसिद्ध ही अव्यक्त है । माया से भी मायी ही समझना चाहिये यह रहस्य है ।) अव्यक्त से परे है पुरुष–आत्मा । पुरुष से परे कुछ नहीं है। उसी में सब पर्यवसित होता है (परे होने की वही सीमा है) । और वही सर्वश्रेष्ट प्राप्तव्य वस्तु है ॥ २५–२६ ॥ पुरुष सत्यादिस्वरूप शिव ही है जो पूर्ण होने से पुरुष कहा गया है । (जो पूरा करता है उसे पूर्ण कहते हैं–पूरी आप्यायने (चु.उ.से) से बाहुलकाश्रयण से कर्त्ता में क्त है । अथवा पूर्ण संघाते भी एक चौरादिक धातु है । उससे पचाद्यच्

---

१ सम्यग्दर्शनाय सर्वेभ्यः पुरुषः पर इह प्रतिपाद्यते नान्येषां परत्वं परस्परमिह विवक्षितमित्याध्यानाधिकरणे (३.३.७.१४) ह्यतिष्ठिपन्नाचार्याः । २ यद्वा 'ऽऽत्मानं रथिनं विद्धि'युक्तआत्मैव भोक्ता स्वामी महानात्मेहोच्यते । ३ आनुमानिकाधिकरणे महता प्रयासेन शरीरमव्यक्तशब्दोदितमिति साधितम् शरीरस्यापि मायिकत्वादिह मायेति व्याख्यानमुचितमेव । ४ ध. च. स्वरू० ।

पुरुषो नाम संपूर्णः शिवः सत्यादिलक्षणः ।
साम्बमूर्तिधरो नान्यो रुद्रो विष्णुरजोऽपि वा ॥ २७ ॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ २८ ॥
यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
महत्यात्मनि विज्ञानं तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि[1] ॥ २९॥

श्रुतिगतं पुरुषपदं स्वयं व्याकरोति–**पुरुषो नामेति** । त्रिविधपरिच्छेदरहितः सत्यज्ञानादिलक्षणः परशिव एव साक्षात्पुरुषशब्दाभिधेयः । स एव लीलया स्वस्य[2] शिवशक्तिरूपतामाविष्कर्तुमर्धनारीश्वरविग्रहो भवति । गुणमूर्तयो रुद्रादयोऽपि न ततः पृथग्भूता इत्यर्थः ॥ २७ ॥ **एष सर्वेष्विति** । एष उदीरितरूपः पुरुषः **सर्वेषु** ब्रह्मादिस्तम्बान्तेषु भूतेष्वावरणाविद्यया **गूढः** संछन्नः । आत्मत्वेनावस्थितोऽपि मोहवशाद्देहेन्द्रियादिविविक्ततया **न प्रकाशते** । एवमपि **सूक्ष्मदर्शिभि**'रिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्युक्तप्रकारेण निरतिशयसूक्ष्मात्मतत्त्वं द्रष्टुं शक्तैर्विद्वद्भिर्गुरुशास्त्रसंस्कृतया प्राप्तैकाग्रतयाऽत एव **सूक्ष्मया बुद्ध्या** स पुरुषो **दृश्यते** द्रष्टुं शक्यते ॥ २८ ॥ तद्दर्शनोपायमाह–**यच्छेदिति** । **प्राज्ञो** विवेकवान्वाक्शब्दोपलक्षितं कृत्स्नं बाह्यविषयमिन्द्रियजातं **मनसि यच्छे**न्नियच्छेदुपसंहरेत् । अत्र **मनसी**ति सप्तम्यन्तं पठता 'यच्छेद्वाङ्मनसी'ति श्रुतिपाठगतं

(३.१.१३४) होकर पूर्ण शब्द बनता है । सब संघातों को बनाने वाला पुरुष है । वस्तुतस्तु पृ पालनपूरणयोः (जु. प. से.) धातु से औणादिक (४.७५) कुषन् प्रत्यय हो 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७.१.१०२) से ऋकार के स्थान पर उकार होता है जो रपर होना निश्चित है; इस प्रकार पुरुषशब्द बनता है जिसका अर्थ है 'पूर्णमनेन' । अतः निरुक्त में कहा है 'पूरयते र्वा' (२.१.४) । यद्यपि उणादि 'पुरःकुषन्' (सि. कौ. ४७१८) सूत्र की व्याख्या में 'पुर अग्रगमने' (तु. प. से.) से ही 'पुरत्यग्रं गच्छतीति' इस आशय से पुरुषशब्द बनाया गया है तथापि उक्त निरुक्त की दुर्गाचार्यकृत व्याख्या में पृ धातु से कुषन् स्वीकारा है । यास्क मुनि ने ही 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' (श्वे. ३.९) इस श्रुति को उक्त निर्वचन का आधार बताया है ।) वे ही अर्धनारीश्वर विग्रह धारण करते हैं । रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा कोई उनसे पृथक् नहीं हैं ॥ २७ ॥ यह परम पुरुष ही सब प्राणियों में छिपा हुआ है अतः विद्यमान रहते हुए भी देहेन्द्रियादि से अलग प्रतीत नहीं होता । सूक्ष्मदर्शी लोग सूक्ष्म व एकाग्र बुद्धि से ही इसे देख पाते हैं । (साधनों से सम्पन्न होना सूक्ष्मदर्शिता है । सम्पन्न का भामतीकार ने तात्पर्य स्पष्ट किया है कि पौष्कल्य अभिप्रेत है । बुद्धि की सूक्ष्मता है श्रवण-मनन सही कर लेना और एकाग्रता है निदिध्यासन कर चुके होना ।) ॥ २८ ॥ विवेकी को चाहिये कि वागादि सब बाह्येन्द्रियों को मनमें उपसंहत करे और मन को बुद्धि में उपसंहत करे । उसका पुनः

१ गुरवस्त्वाहुः–इन्द्रियविशिष्टादहमो मनोविशिष्ट एवाहमित्याद्यपर्याये, ततो बुद्धिविशिष्टोहम्, ततोऽन्तर्याम्यहं ततश्च निरुपाधिरहमित्येवं क्रमशो निदिध्यासनतोनुभवितव्यमिति । अत्र तैत्तिरीयोक्तकोशपर्यालोचनापि स्यादुपकाराय । २ ङ. च. °स्य श°।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ ३० ॥
[1]*पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नाऽऽन्तरात्मन् ।*
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ ३१ ॥

दैर्घ्यं छान्दसमिति व्याख्यातं भवति । उपसंहतबाह्यकरणं तच्च मनो **ज्ञाने** प्रकाशस्वरूपे बुद्ध्याख्य **आत्मन्युपसंहरेत्** । निश्चयज्ञानरूपं तं च बुद्ध्यात्मानं **महत्यात्मनि** तत्समष्टिभूते सूक्ष्मतरे हिरण्यगर्भोपाधौ नियच्छेत् । **तच्च** महदात्माभिधं हैरण्यगर्भं बुद्धिस(त)त्त्वं **शान्ते** प्रत्यस्तमिताशेषविशेषरूपे निर्विकारे सर्वान्तरे साक्षिचिन्मात्ररूपे मुख्य **आत्मनि** नियच्छेत् । एवमिन्द्रियादिकं कारणपर्यन्तं विलाप्य परिपूर्णस्वप्रकाशाद्विदात्मानुसंधानपरो भवेदित्यर्थः ॥ २९ ॥

पृथिव्यादीनां भूतानामुत्तरोत्तरमेकैकगुणन्यूनत्वात्सूक्ष्मतारतम्यं दृष्टं किमु वक्तव्यं शब्दादिसर्वगुणरहितस्य निरतिशयं सूक्ष्मत्वमित्यभिप्रेत्य तन्निषेधेन तत्स्वरूपमुपलक्षयति–**अशब्दमिति** । **अशब्दमित्याद्युक्तार्थम्** । **अव्ययमिति** । यद्धि शब्दादिमद्भवति तत्खलु व्ययधर्मवत् । इदं तु परशिवस्वरूपं शब्दादिरहितत्वान्न व्येति न हीयत इत्यव्ययमनश्वरम् । **अरसमित्याप्यगुणस्य** रसस्य व्युदासः । अव्ययत्वादेव नित्यं यदीदृग्विधं तत्त्वम् । **अनादीति** । आदिः कारणं, तद्रहितम् । अन्तः कार्यं, तद्रहितम् । सकारणत्वं कार्यात्मना परिणामश्चानित्यत्वकारणमिति तदुभयमनेन व्यावर्त्यते । **महतो** महत्तत्त्वाद् बुद्ध्याख्यात्**परं** विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपमिति यावत् । **ध्रुवं** कूटस्थं नित्यं निर्विकारम् । **तमीदृग्विधं** ब्रह्मात्मानं **निचाय्य** निश्चित्य **मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्संसारान्मुच्यते** ॥ ३० ॥

उपसंहार समष्टि बुद्धिरूप हिरण्यगर्भ में तथा उसका भी उपसंहार निर्विशेष आत्मा में करना चाहिये । (मन के जाग्रत् रहते इन्द्रियों का निर्व्यापार होना ही मनमें उनका उपसंहार है । अतः सर्वप्रथम इंद्रियों से बाह्यार्थग्रहण व बाह्यचेष्टा से निवृत्त होना आवश्यक है । मन पुनः संकल्पाद्यात्मक है, एक बात पर टिकता नहीं । बुद्धि जगती रहे–एक निश्चय बना रहे–व मन निश्चेष्ट हो जाये–संकल्पादि न बनें, यह मन का बुद्धि में उपसंहार है । व्यापक हिरण्यगर्भ से पृथक् मेरी बुद्धि कुछ नहीं यों निश्चय करना बुद्धि का आगे उपसंहार है तथा अपनी निर्विशेषता का निश्चय–व्यापक बुद्धि आदि कुछ मैं या मेरा नहीं यह निश्चय–करना अंतिम विलय है । यह निदिध्यासन का एक ढंग बताया गया है । बुद्धि का विलय भोक्ता में भी समझा जा सकता है । आनुमानिकाधिकरण में (१.४.१) प्रकृत श्रुति का अर्थ करते हुए भाष्यकारों ने यह विकल्प बताया है 'तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तर्यग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापादनेन नियच्छेत् ।' तैत्तिरीय में भी कर्ता से भोक्ता को भीतरी बताया ही है । पंचदशी में प्रसिद्ध श्लोक है (३.२) जहाँ यह परम्परा स्पष्ट की गयी है । 'मैं केवल जानने वाला हूँ, कुछ करने वाला नहीं' ऐसा चिन्तन विधित्सित है ।) ॥ २९ ॥
आत्मा शब्द, स्पर्श, रूप रस व गंध से रहित है । उसमें कभी कमी नहीं आती । वह न कारण है न कार्य । बुद्धि से (व्यष्टि-समष्टि दोनों से) परे है । कूटस्थ नित्य है । उसी का निश्चय कर मौत के मुँह से बचा जा सकता है । (यमोपदेश होने से कोई शंका नहीं की जा सकती क्योंकि मौत से बचने का उपाय वे ही सही-सही जान सकते हैं ।) ॥ ३० ॥

---

१ इतश्चतुर्थवल्लीं संगृह्णाति । पराञ्चि निर्मायास्मान् व्यतृणदिति साध्याहारं योज्यम् । नहीन्द्रियाणि बहिर्मुखतया सीदन्ति, वयमेव तथात्वे ध्वंसामहेतमामिति ।

पराञ्चः कामाननुयन्ति बाला मृत्योः पाशं तेऽपियन्ति स्वमोहात् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवं तत्त्वं यान्ति कामैरसक्ताः ॥ ३२ ॥
येन रूपान्रसान्गन्धाञ्शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥ ३३ ॥[1]

ननूक्तविध आत्मा कस्मात्सर्वैर्न दृश्यत इति तत्र कारणमाह-पराञ्चीति । **महेशो** जगत्स्रष्टा परमेश्वरः **खानि** खमाकाशं तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि । **पराञ्चि** परागञ्चनस्वभावानि बाह्यशब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तमानानि बहिर्मुखानि सृष्ट्वा तानि **व्यतृणद्धिंसितवान्** । "उतृदिर् हिंसानादरयोः" इति धातुः । यस्मादेवं **तस्मात्तै**रिन्द्रियैः पुरुषः **पराङ्पश्यति** बाह्याञ्शब्दस्पर्शादिविषयानेवोपलभते **नाऽऽत्मस्वरूपं** जानाति । एवमपि **कश्चित्पुनर्धीरो** धीमान**मृतत्वं** मोक्ष**मिच्छन्नावृत्तचक्षु**र्बाह्यविषयदर्शनसाधनं चक्षुःश्रोत्रादिकमिन्द्रियमावृत्तं स्वस्वविषयेभ्यो व्यावर्तितं येन तथाविधो भूत्वा **प्रत्यगात्मानमु**दीरितलक्षणमसंसार्यात्मतत्त्व**मैक्षत्**पश्यति । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लङ् ॥ ३१ ॥

पराञ्च इति । **बाला** अज्ञजना मनुष्याः **कामान्**काम्यमानाञ्शब्दादिबाह्यविषया**ननुयन्त्य**नुसरन्ति । **ते** कामिनो **मृत्यो**रविद्याकामकर्मसमुदायस्य प्रसारितं **पाश**जाल**मपियन्त्य**पिगच्छन्ति । तत्र कारणमाह-**स्वे**ति । स्वस्याऽऽत्मनो मोहो यदावरणमज्ञानं तद्वशादित्यर्थः । **अथे**त्युक्तवैपरीत्ये । **धीरा** विवेकिनो जनाः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षण**ममृतत्वं विदित्वा** साक्षात्कृत्य तैः **कामैरसक्ता** असंबद्धाः सन्तो **ध्रुवं** कूटस्थं नित्यं परमार्थभूतं ब्रह्मात्मानं **यान्ति** प्राप्नुवन्ति ॥ ३२ ॥ तदधिगमोपायमाह-येनेति । **येन** विज्ञानेन बाह्यान्रूपादिविषया**न्मैथुना**न्मिथुनसंबन्धान्सुखविशेषांश्च **विजानाति** विस्पष्टं जानाति । **एतेनैव**[2] देहादिसंघाताविलक्षणेन चिन्मात्रप्रकाशेनाऽऽत्मना तान्**विजानाति** । यो रूपादिसकलप्रत्ययसाक्षी स एवाऽऽत्मा न तु देहेन्द्रियादिसंघातस्तस्य रूपादिमत्त्वेन घटादिवदनात्मत्वादिति भावः । **अत्रा**स्मिल्लोँके विज्ञेयं **किं परिशिष्यते** । सर्वमेव[3] तु चिन्मात्ररूपेणाऽऽत्मना विज्ञेयमेव भवति न किंचित्परिशिष्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

महामहेश्वर ने इंद्रियाँ ऐसी बनायी हैं कि ये बाह्य विषयों से ही व्यवहार कर पाती हैं । यों उन्हें बहिर्मुख बनाकर मानो उन्होंने उनकी (इंद्रियों की) हिंसा की है । (यदि वे ऐसी न होतीं तो अमरतालाभ में सहज ही उपकार करतीं, बहिर्मुख बनाकर उनकी यह सामर्थ्य नहीं रहने दी यह अर्थ है ।) इसी से हर व्यक्ति बाहरी ज्ञान ही पाता है, निजात्मा को कभी नहीं देख पाता । कोई ही ऐसा दुर्लभ धीर होता है जो अमरतालाभ चाहते हुए इन्द्रियों को अपने विषयों से व्यावृत्त कर प्रत्यगात्मा का दर्शन करता है ॥ ३१ ॥ अज्ञानी लोग कामना के विषयभूत बाह्य पदार्थों के पीछे दौड़ते रहते हैं । वे अपने मोहवश मृत्यु के फन्दे में फँस जाते हैं । इनसे विपरीत विवेकी जन कामनाओं का सर्वथा परित्याग कर प्रत्यगात्मरूप अमरता का साक्षात्कार कर कूटस्थ नित्य परमशिव को पा जाते हैं ॥ ३२ ॥ जिस विज्ञान से बाह्य

---

१ अत्र विवेके तात्पर्यम् । येन विषयाञ्जानीमस्तत्किम् ? आत्माऽनात्मा वा । न द्वितीयोऽसम्भवाद् । आद्ये स कीदृश इति विविच्यताम् । जाग्रदादिरूपइति तावत्प्राप्तं, तदपि न, जाग्रदादेरपि तेनानुगतरूपतया दृश्यत्वादनुगतस्य व्यावृत्तेभ्यो विलक्षणत्वौचित्यात्तस्मिंश्च तेषां कल्पितत्त्वोपपत्तेरिति । अनुभूतिप्रकाशे (११.६८) चैतत् सूचयामासुः । २. घ. °व देवदे° । ४ ङ. च. °मेतत्तु चि° ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यं पुरं येनानुपश्यति । महान्तं परमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ३४ ॥

जाग्रदादित्रयं यस्तु विजानाति चिदात्मना । ततो भेदेन नैवास्ति पुरत्रयमिदं सदा ॥ ३५ ॥

चैतन्यमात्रो भगवाञ्छिव एव स्वयंप्रभः ।
पुरत्रयात्मना भाति न भाति[1] च महाप्रभुः ॥ ३६ ॥

इहामुत्र स्थितं तत्त्वं सदेकं न ततोऽपरम् ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति योऽन्यं देवं प्रपश्यति ॥ ३७ ॥

तस्य साक्ष्यात्मनः स्वरूपं विशेषेण प्रतिपादयति–**जाग्रदिति** । जाग्रदादिस्थानत्रयं **येन** चिन्मात्ररूपेणाऽऽत्मनाऽनुगतेन **पश्यति** जानाति । **महान्तमित्याद्युक्तार्थम्** । एतेन 'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ[2] येनानुपश्यती'ति श्रुतिरवस्थात्रयोपलक्षणार्था व्याख्याता ॥ ३४ ॥ अथ तस्याः श्रुतेस्तात्पर्यमाह–**जाग्रदादीति** । **चिदात्मना** भास्यं जाग्रदादिस्थानत्रयमितरदृश्यवच्चिद्रूपे तस्मिन्नध्यस्तत्वात्ततो **भेदेन नैव** विद्यते ॥ ३५ ॥ पुरत्रयाधिष्ठानं यच्चैतन्यमात्रं स एव स्वयंप्रकाशमानः परशिवः परिच्छेदप्रतीतेरौपाधिकत्वादतो **महाप्रभुः** स्वतन्त्रः परशिव एव स्वमायाविलासेन कदाचित्**पुरत्रयात्मना भाति** । तत्त्वदृष्ट्या तु तदात्मना नैव **भाति** । किंतु निरस्तसमस्तोपाधिकः[3] स्वयमेव प्रकाशते ॥ ३६ ॥ यदाम्नायते–"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" इति, तदभिप्रायमाह–**इहामुत्रेति** । इहास्मिन्कार्यकारणसंघाते यदवस्थितं सच्चिदानन्दैकरसं तत्त्वं यच्चा**मुत्र** जगत्कारणे सर्वज्ञे[4] सूर्यात्मके ब्रह्मण्यवस्थितं तदुभयं सदेकं न तयोर्भेदो विद्यते । किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिभेदप्रतिभासस्य मायाविद्योपाधिकृतत्वादित्यर्थः । अत एवैतरेयकतैत्तिरीयकयोः समाम्नातम्–"तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्" इति । "स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः" इति च । विपक्षे बाधकमाह–**मृत्योरिति** । यस्तु स्वात्मनः सकाशाद्देवं द्योतमानं परशिव**मन्यं पश्यति स मृत्यो**र्मरणात्पुनर्मृत्युं प्राप्नोति जन्ममरणप्रवाहपतितो भवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

रूप-रस-गंध-शब्द-स्पर्शात्मक विषयों को तथा किसी भी अन्य (व्यक्ति या वस्तु) के सम्बन्ध से होने वाले सुख को स्पष्ट रूप से जाना जाता है, वह विज्ञान यही देहादिभिन्न चिन्मात्र है । उससे सभी जाना जाता है, कुछ रह नहीं जाता (अतः वही सर्वज्ञ है) ॥ ३३ ॥ जाग्रत् स्वप्न व सुषुप्ति नामक स्थानों को (अवस्थाओं को) जिस चिन्मात्र निज रूप से अनुगत हुआ हम देखते हैं, (मैं जगा, मैं सोयादि सर्वत्र मैं अनुगत रहता ही हूँ), उस महान् परमात्मा को समझकर धीर कभी शोक नहीं पाता ॥ ३४ ॥ चिद्रूप आत्मा से प्रकाश्य जिन जाग्रद् आदि तीनों अवस्थाओं को जो वही आत्मा जानता है उस आत्मा से भिन्न वे अवस्थायें हैं ही नहीं । (व्यावृत्त सदा अनुवृत्त में कल्पित होता है यह वेदान्तों का न्याय प्रसिद्ध है ।) ॥ ३५ ॥ भगवान् शिव स्वप्रकाश चैतन्यमात्र हैं । वस्तुतः किसी 'तरह' से प्रतीत न होते हुए ही वे तीन अवस्थाओं के (और उन वाले के) रूप से प्रतीत हो जाते हैं ॥ ३६ ॥ अस्मदादि शरीरों में व जगत्कारण सर्वज्ञ

---

१ तदुक्तम् 'अजायमानो बहुधा विजायत' इति (यजु. ३१.१९) २ झ. चोभयं । ३ झ. °धिकत्वात्स्वय° । ४ च. सर्वात्म° ।

[1]अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ३८ ॥
वायुर्यथैको भुवनं[2] प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ३९ ॥

ननु परस्माद् ब्रह्मणः सर्वस्य जगतो भेदोऽनुभूयत एवेत्याशङ्क्य दृष्टान्तैस्तत्तादात्म्यं प्रतिपादयति–**अग्निर्यथे**त्यादिना । **यथा** खल्वयम**ग्निः** स्वयम**ेक** एव, भवत्यस्मिन्भूतजातानीति[3] **भुवन**मयं लोकस्तं **प्रविष्टः** सन्**रूपं रूपं** काष्ठादिकं सर्वं दाह्यभेदं प्राप्य तत्त**त्प्रतिरूपो बभूव** दाह्यसमानाकृतिर्भवतीत्यर्थः । **तथैक** एव सच्चिदानन्दरूपः परशिवः **सर्वभूतान्तरात्मा** सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा भूत्वा तत्तदेव मनुष्यादिशरीरं प्रविश्य तत्त**त्प्रतिरूपो बभूव** । तथा प्रपञ्चाद्बहिरपि स्वेन निरुपाधिकेनाविकृतरूपेणावतिष्ठते । **वायुर्यथैक** इत्यत्राप्येवं योज्यम् ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

में एक ही सत्तत्त्व स्थित है । उससे भिन्न कहीं कुछ है ही नहीं । जो निज से शिव को अन्य समझता है वह बारम्बार मरता रहता है ॥ ३७ ॥

(प्रतीयमानभेद को कैसे शिवाभिन्न समझें ? इसे स्पष्ट करने के लिये दृष्टांत देते हैं–) जैसे अग्नि खुद एक है किन्तु सांसारिक वस्तुओं में घुसी हुई वह उसी आकृति की हो जाती है जो दाह्य की आकृति हो (लम्बी लकड़ी जलती हो तो आग लम्बी दीखती है इत्यादि) । इसी तरह सब प्राणियों का अन्तरात्मा तो एक ही है किन्तु शरीरों में घुसा हुआ वह उन शरीरों के रूप वाला ही लगता है । वैसा लगते हुए, उन शरीरों में घुसा हुआ भी वह स्वयं तो उन रूपों से रहित ही है और उन सबसे बाहर भी है जहाँ स्पष्ट ही उन सब रूपों से रहित है । (अग्नि का अपना रूप उष्ण व प्रकाश ही है । बाकी जो कुछ उसका रूप लगता है वह है उपाधि का, प्रतीत आग में होता है । ऐसे ही सच्चिदानंद ही आत्मा का रूप है । अन्य जैसा भी आत्मा लगता है–मैं लगता हूँ–वह औपाधिक है । शंका होती है कि अग्नि अलग है और उसकी उपाधि अलग किन्तु आत्मा तो अद्वितीय है, तब यह कैसे हो सकता है ? इसका समधान करने के लिये कहते हैं–)जिस प्रकार वायु एक ही है किन्तु शरीर में घुसकर प्राण, अपान आदि नाना रूपों के समान रूप वाली हो जाती है उसी प्रकार आत्मा के विषय में समझ लेना चाहिये । (प्राणादि सब वायुरूप ही हैं, आग से लकड़ी की तरह वायु से प्राणादि भिन्न नहीं । फिर भी वायु को नाना रूपों वाला प्रतीत करा देते हैं । ऐसे ही आत्मा से भिन्न न होने वाली भी उपाधियाँ आत्मा को नाना रूपों वाला प्रतीत करा देती हैं ।) ॥ ३८–३९ ॥ सूर्य जैसे सब लोकों की चक्षुओं पर उपकार करते हुए भी चक्षुओं के व बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे सब प्राणियों का अन्तरात्मा एक रहते हुए

१ पञ्चमवल्लीविषयमाह–अग्निरित्यादिना । २ भुवनमिह देहः । तदुक्तं भाष्ये 'प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्ट' इति । अनुभूतिप्रकाशेपि 'वायुरेकोऽपि देहेषु प्रविश्य प्राणरूपतः । वहुधा भात्येवमात्मा प्रत्युपाधि पृथग्भवेद्' ॥ ११.८८ ॥ इति । ३ भवन्त्यस्मिन्निति पठनीयम् ।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ४० ॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४१ ॥

एवमेकस्यैवाऽऽत्मनस्तत्र तत्र प्रतिरूपत्वावस्थानेन तत्कृतसंसारदुःखानुभवोऽपि स्यादित्याशङ्क्य सदृष्टान्तं निर्लेपतामाह–**सूर्यो** यथेति । **यथा सूर्यः सर्वलोकस्य चक्षुरालोकेन** चक्षुरिन्द्रियस्योपकारं कुर्वंश्चक्षुर्भूतोऽप्यशुच्यादिदर्शनजनितैश्चा**क्षुषै**राध्यात्मिकै**र्बाह्यैः** पाप**दोषैश्च न लिप्यते** न स्पृश्यते **तथैक** एव शिवः **सर्वभूतान्तरात्मा** सन्नपि **बाह्य**स्तस्मात्सर्वस्माद्भूतजाताद्विविक्तः संस्तदीय**दुःखेन न लिप्यते** । अविद्यया ह्यात्मनः संसारप्रतीतिर्न[1] च सा परमार्थोपाधौ विद्यत इत्यसता संसारदुःखेन कथं परमार्थभूतस्याऽऽत्मनो लेपसंभव इत्यर्थः ॥ ४० ॥ **एको वशीति** । **एकः** सर्वमुख्यः । न चानेन सदृशोऽधिको वा कश्चिदस्ति । **वशी** स्वतन्त्रः, यतः सर्वं जगदस्य वशे वर्तते । तदपि कुत इत्यत आह–**सर्वेति** । सर्वान्तरात्मत्वमपि कुत इति तदाह–**एकमिति** । **एकमे**करसं विशुद्धविज्ञानलक्षणमात्मीयं **रूपं बहुधा** बहुप्रकारं विचित्रोपाधिभेदवशेन **यः करोति तमात्मस्थमा**त्मनि शरीरे हार्दाकाशमध्ये स्थितमभिव्यक्तं गुरुशास्त्रोपदेशेन **येऽनुपश्यन्ति** साक्षादनुभवन्ति **धीरा** विवेकिन**स्तेषां** विदुषां ब्रह्मीभूतानामेव **सुखं शाश्वतं** नित्यनिरतिशयाभिव्यक्तिर्भवति[2] । **इतरेषा**मज्ञानिनां तु यच्छब्दस्पर्शादिविषयभोगसुखं तच्छाश्वतं न भवति । शुभकर्मोपस्थापितबुद्धिवृत्त्यनुविधायित्वेन तस्य क्षणिकत्वादित्यर्थः ॥ ४१ ॥

ही लोगों के दुःखादि से लिप्त नहीं होता क्योंकि वस्तुतः उनसे वह बाह्य ही है ॥ ४० ॥ सबसे मुख्य, स्वतन्त्र तथा सब प्राणियों के अन्तरात्मा शिव ही वे हैं जो अपने एकरस विशुद्ध विज्ञानात्मक रूप को विचित्र उपाधियों के भेद से बहुत प्रकार का बना देते हैं । गुरु व शास्त्र के उपदेशानुसार जो उन्हे ही अपने में भी समझ लेता है वही धीर है और वही नित्य सुख पा जाता है । अन्य लोग शिव को इतरत्र ही समझते रहते हैं । वे नित्य सुख से वंचित ही रहते हैं ॥ ४१ ॥ जिनकी सत्ता के अनुवेध–अनुप्रवेश–के बल पर आकाशादि वस्तुएँ व्यावहारिक नित्य बनती हैं और जिनके चैतन्य के अनुवेध के बल पर देवता, मनुष्य आदि चेतनायुक्त होते हैं, जिनमें ही अज्ञानवश अध्यस्त रूप से सारा प्रपंच बँटा हुआ प्रतीत हो रहा है उन महादेव को अपने शरीर की बुद्धिगुहा में अभिव्यक्त जानने वाले बुद्धिमान् साधक नित्य ही सर्वतः उपरत हो पाते हैं । अन्य लोग, शिव को निजरूप न मानने वाले या निज का अन्तर्यामी न मानने वाले, कभी नित्य उपरति नहीं पाते । (सबका अंतर्यामी ही मेरा भी अंतर्यामी है ऐसा सदा ध्यान रखने वाला निरीह हो ही जाता है । उसे किसी से कोई आशा, कोई शिकायत नहीं रह जाती । जो स्वयं को ही शिव समझ चुकता है वह तो यह जानता है कि जहाँ कहीं भी जो कोई भी भोग हो रहा है मैं ही कर रहा हूँ, फलतः कोई इच्छा उसकी रह जाये यह संभव

---

१ ङ. ०प्रवृत्तिर्न । २ घ. ङ. नित्यं नि० ।

येनैव नित्याश्च सचेतनाश्च यस्मिन्विभक्ताः प्रविभान्ति मोहात् ।
तमात्मस्थं[1] येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषां ॥ ४२ ॥
तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयात्किमु भाति विभाति वा ॥ ४३ ॥
आदित्यचन्द्रानलतारकाद्या न भान्ति यस्मिन्न[2] निशं महान्तः ।
प्रकाशमानं तमनुप्रभान्ति प्रभानमस्यैव हि नेतरेषाम् ॥ ४४ ॥

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति श्रुतेरर्थमाह-**येनैवे**ति । व्यावहारिकनित्याकाशादयो **येन** यत्सत्तानुवेधवलेन **नित्याः** । तथा यच्चैतन्यानुवेधवलेन देवमनुष्यादयः **सचेतनाः** । ते च **यस्मिन्**स्वप्रकाशे ब्रह्मण्यध्यस्ततया **विभक्ताः** सन्तो **मोहाद**ज्ञानवशा**द्विभान्ति** विचित्रनामरूपात्मना विविधं[3] भासन्ते । **तमात्मस्थ**मित्यादि पूर्ववत् । **शान्तिः** सर्वविषयेभ्य उपरतिः ॥ ४२ ॥ **तदेतदि**त्यादि । यदात्मस्वरूपभूतं **सुखमनिर्देश्यं** निर्देष्टुमशक्यमवाङ्मनसगोचरं **परमं** निरतिशयं **तदेतदि**त्यापरोक्ष्येण ब्रह्मनिष्ठा **मन्यन्तेऽ**नुभवन्ति तदात्मसुखमिदानींतनोऽपि **कथं नु** केन खलु प्रकारेण **वि**स्पष्टं **जानीयात्** । तत्किं **भाति** दीप्यते, भासमानं हि तदस्य विस्पष्टं **भाति**; किंवा न भातीति वहिरेव कोट्यन्तरम् ॥ ४३ ॥ भाति च विभाति चेत्यस्योत्तरं विवक्षन्न तत्र सूर्यो भातीति श्रुतेरर्थमाह-**आदित्ये**ति । **तमनुप्रभान्ती**ति । चैतन्यज्योतिषि तस्मिन्नध्यस्तत्वात्तत्स्फुरणमनुसृत्यैव प्रभान्तीति सूर्यादयः प्रदीप्यन्ते । अतः स्वाभाविकं भानमात्मज्योतिष एव नान्येषां भौतिकानां तेजसाम् । अतः स्वप्रकाशचिदेकरसं तत्स्वरूपभूतं निरतिशयसुखं स्वयमेव भाति च विभाति चेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

कहाँ ?) ॥ ४२ ॥ जो आत्मस्वरूप, वाणी व मन का अविषय, निरतिशय सुख है उसका ब्रह्मनिष्ठ महात्मा प्रत्यक्ष ही अनुभव करते हैं । अस्मदादि जन उसे विस्पष्ट कैसे समझे ? क्या वह प्रकाशित होता है, या नहीं ? क्या उसका स्पष्ट भान होता है या नहीं ? (इन्हीं शंकाओं की निवृत्ति करते हैं—) आदित्य, चन्द्र, आग, तारे आदि महान् होने पर भी उस आनन्द पर कोई प्रकाश नहीं डाल सकते किन्तु उसके प्रकाशमान रहने पर ही उसके पीछे ये सब (सूर्यादि) प्रकाश किया करते हैं । अतः इस सुख का ही वास्तविक भान है—प्रकाश है—अन्यों का नहीं । (कैसे समझें ? का उत्तर है कि विषयतया समझने की कोशिश छोड़ो, आत्मतया ही समझो क्यों कि विषयतया तो बड़े बड़े आदित्यादि भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकते । वह प्रकाशित होता है कि नहीं ? का उत्तर है—वही प्रकाशित होता है । अन्य जो प्रकाशित होते लगते हैं वे उसी के प्रकाश से हो रहे हैं । उसका स्पष्ट भान होता है कि नहीं ? का उत्तर है

---

१ साधकभेदेनात्रात्मस्थमित्यस्य द्वावर्थौ-मयि शिवोऽन्तर्यामितया स्थितोसावेव सर्वत्र तथा स्थित इत्येकः । ममात्मतया शिवएव स्थितः शिवोहमिति च द्वितीयः । 'अकामहतस्ये' ति श्रुतेः शान्तिशब्दितोपरतिलाभो महत्फलम् । २ ङ. च. °न्नशनिर्महा° । ३ झ. °विधा भा° ।

[1] *ऊर्ध्वमूलस्त्ववाक्शाख एषोऽश्वत्थः*[2] *सनातनः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ ४५ ॥*

दृश्यमानस्य कार्यप्रपञ्चस्य मूलकारणमन्तरेणानुपपत्तेस्तदस्तित्वं प्रतिपादयति—**ऊर्ध्वमूल** इति । ऊर्ध्वं संसारमण्डलस्योपर्यवस्थितं, 'तद्विष्णोः परमं पदमि'ति प्रागुपन्यस्तं, निरस्तसमस्तोपाधिकं ब्रह्म मूलं कारणं यस्य स तथोक्तः । अव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्षः । स च स्वर्गनरकतिर्यक्स्रोतोभिः शाखाभिरर्वाचीनशाखः । स च **सनातनो**ऽनादिः । अस्थिरत्वाच्छ्वो न तिष्ठतीत्य**श्वत्थः** । अस्य च संसारवृक्षस्य यन्मूलं कारणं **तदेव शुक्रं** शुद्धं सांसारिकदोषासंस्पृष्टं तदेव **ब्रह्मामृत**मविनाशिस्वभावं कथ्यते । तत्कार्यभूतसंसारवृक्षो वाचारम्भणमात्रत्वाद्गन्धर्वनगरादिवन्मिथ्याभूत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

कि स्पष्ट, सर्वथा निःसंदिग्ध भान एक उसी का होता है अन्य किसी का नहीं । वास्तविक, सनातन, अलुप्त, साक्षात् अपरोक्ष भान इसी का है । तार्किकों ने प्रसिद्ध कर रखा है कि लक्षण व प्रमाण इन दोनों से ही वस्तु सिद्ध होती है । किन्तु यह प्रायोवाद है । प्रमाण की सिद्धि कैसे, किस प्रमाण से ? प्रमाणान्तरविषयता का पर्यवसान अनवस्था में होना स्वाभाविक है और खुद से ही मानने पर आत्माश्रय से बचना मुश्किल है । अतः प्रमाण का अविषय हुआ प्रमाण ही सिद्ध हो जाता है यह न चाहते हुए भी मानना पड़ेगा । ऐसे ही प्रमेय न बनने वाला आत्मा नित्यसिद्ध है । अक्षर ब्राह्मण की व्याख्या में विद्यारण्यस्वामी ने यह स्पष्टीकरण वार्तिकसार में दिया है) ॥ ४३–४४ ॥

(यद्यपि स्वप्रकाश को साधने की ज़रूरत नहीं तथापि अनुग्रह कर उसे यों भी साधते हैं कि कार्यभूत प्रपंच कारण परमेश्वर के बिना उपपन्न न होते हुए उन्हें सिद्ध करता है—) कल तक भी जिसका टिकना अनिश्चित है ऐसा यह संसारवृक्ष यह ज़रूर ज्ञात कराता है कि इससे इसका मूल परे है । (वृक्ष दृश्य, प्रकाशाभिमुख गति वाला आदि होता है और उसका मूल उससे विरुद्ध ज़मीन में तिरोहित, प्रकाशविमुख गति वाला आदि होता है यह प्रत्यक्षसिद्ध है । अतः संसारवृक्ष का मूल भी इससे विपरीत स्वभाव का होना निश्चप्रच है । जगत् असत् जड दुःखरूप है । फलतः इसका मूल सत् चिद् आनंदरूप होना ही है, शिव होना ही है ।) संसार वृक्ष की स्वर्ग, नरक आदि शाखायें मूल से विपरीत ही दिशा में बढ़ती हैं (सभी वृक्षों में ऐसा दीखता ही है) । केवल गुर्वनुग्रहलब्ध शिवात्मैक्यानुभव से नाश्य यह संसारवृक्ष अन्य किसी तरह विनष्ट न हो सकने से सनातन है, नित्य है । इसका जो मूल है वही शुद्ध ब्रह्म है, वही अविनाशीस्वरूप वाला कहा जाता है । (शुद्ध अर्थात् वस्तुतः कार्यनिरूपित न होने वाला ।) ॥ ४५ ॥ उस महेश्वर में ही सब लोक आश्रित हैं अतः आश्रित कोई भी वस्तु उस अपने आश्रय को छोड़कर स्थित नहीं हो सकती । यही वह वस्तु है जिसे समझने से मोक्ष निश्चित

---

१ षष्ठवल्ली स्फुटयते । २ अश्वत्थवृक्षमभिप्रेत्य रूपकम् । अश्वत्थत्वं टीकायामेव व्यक्तम् । वृक्षत्वं च च्छेद्यत्वादिति भाष्ये स्पष्टम् । महता च विस्तरेण भगवान् भाष्यकृदत्र (कठ. २.३.१) संसारस्वरूपमाह । शिवगीतायमप्युक्तं 'सायं सायं वासवृक्षं समेताः प्रातः प्रातस्तेन तेन प्रयान्ति । त्यक्त्वान्योन्यं तं च वृक्षं विहंगा यद्वत्तद्वज्ज्ञातयोऽज्ञातयश्च' ॥ इति ।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत्सुरश्रेष्ठाः सम्यगेव मयोदितम् ॥ ४६ ॥
इदं सर्वं जगत्साक्षाच्छिवः कम्पयते ध्रुवम् ।
महद्भयमिदं वज्रं विदित्वा मुच्यते नरः ॥ ४७ ॥
तपत्यस्य[1] भयादग्निर्भयात्तपति भास्करः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ४८ ॥
वर्तमाने शरीरेऽस्मिन्न शक्तो बोद्धुमीश्वरम् ।
नरः सर्वेषु लोकेषु शरीरित्वाय कल्पते ॥ ४९ ॥

तस्मिन्नित्यादि । **तस्मिन्**परमार्थसत्ये ब्रह्मणि मायाविलासवशेन **सर्वे लोकाः श्रिता** आश्रिताः परमार्थवत्प्रतीयन्त इत्यर्थः । अतः समस्तजगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं **तद्** ब्रह्म कश्चिदपि विकारो **नात्येति** नातिवर्तते । **एतदेव** खलु **तद्व**स्तु यद्विज्ञानादमृतत्वप्राप्तिर्वर्ण्यते ॥ ४६ ॥ 'यदिदं किंच' इति श्रुतेस्तात्पर्यमाह–**इदं सर्व**मिति । **इदं** पराग्भूतं **सर्वं** जगत्कारणभूतः परशिवः **कम्पयते** । तत्प्रशासनभयात्स्वस्वव्यापारेषु प्रवर्तमानं जगत्प्रेरयतीत्यर्थः । **भय**मुद्यतमुद्धृतं **वज्र**मिव महाभयहेतुः । ध्रुवं कूटस्थं नित्यं तमात्मानं विदित्वा संसारबन्धान्मुच्यत इत्यर्थः ॥ ४७ ॥ उक्तं भयहेतुत्वं विवृणोति–**तपत्यस्ये**ति । अग्न्यादिलोकपाला अपि तद्भयात्स्वस्वव्यापारे प्रवर्तन्ते किमु वक्तव्यमन्येषां भयहेतुरिति भावः ॥ ४८ ॥ "इह चेदशकत्" इति श्रुतिं व्याचष्टे–**वर्तमान** इति । विद्याधिकारयोग्येऽस्मिञ्शरीरे विद्यमान एव प्रत्यगात्मनोऽनवच्छिन्नपरशिवस्वरूपं यो **बोद्धुं न शक्तः** स सर्वेषु लोकेषु पुण्यपापवशेन शरीरधारणाय **कल्पत** इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

है ॥ ४६ ॥ साक्षात् शिव ही इस जगत् को व्यवस्थित चलाते हैं । वज्र की तरह अत्यधिक डराने वाले इस शर्व को जानकर ही नर मुक्त होता है । (प्रपंचकार्यत्व से कारण ब्रह्म है यह पहले सिद्ध किया । आश्रित संसार का आश्रय ब्रह्म है यह तदनन्तर सिद्ध किया । व्यवस्थित संसार का व्यवस्थापक ब्रह्म है यह यहाँ कह रहे हैं । ईश्वरसिद्धि में ही ये युक्तियाँ दी जा रही हैं । निर्मितता, विधृतता, नियन्तृपूर्वकता आदि के साधक अनुमान याज्ञवल्क्यमहर्षि ने भी सूचित किये हैं जिनसे महादेव का निश्चय स्थित हो (बृ. पृ. २६८ पं. ३२ आदि) ।) ॥ ४७ ॥ त्रिशूलधारी के भय से ही आग तपती है, भास्कर चमकता रहता है, इंद्र, वायु, मृत्यु सभी अपने काम यथानियम करते रहते हैं ॥ ४८ ॥ यदि वर्तमान इस शरीर में ईश्वर को मनुष्य समझ न पाया तो उसे आगे शरीर धारण अवश्य करना पड़ेगा ॥ ४९ ॥ जेसै साफ

---

[1] तपतीत्युपलक्षणम् । अग्न्यादयः समर्था अपि हव्यादिना मनुष्यदत्तेनैव स्वकीयां जीविकां निर्वहन्ति को हि नाम शक्तः कष्टां पराश्रिततां स्वीकुर्याद्यदि तथा कर्तुं कस्यचन शक्ततरस्य नाज्ञास्यात् । तथा च देवानामेवं वर्तनमपि परमेश्वरसाधकमित्यर्थः । तदिदमीश्वरास्तित्वे कारणमक्षरब्राह्मणभाष्ये (पृ. २७०) व्यक्तम् ।

यथाऽऽदर्शे स्वकं रूपं यथावन्निर्मले नरः ।
तथा पश्यति देहेऽस्मिन्नात्मानं ब्रह्म केवलम् ॥ ५० ॥
जन्मनाशवतां खानां पृथग्भावं परात्मनः । तेषां जन्मविनाशौ च विदित्वाऽनात्मरूपतः ॥ ५१ ॥
पश्चादनात्मरूपेण विदितं केवलात्मना । विदित्वा स्वानुभूत्यैव स धीरस्तु न शोचति ॥ ५२ ॥
[1]इन्द्रियेभ्यो मनः श्रेष्ठं मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादपि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ५३ ॥
अव्यक्तात्तु परः साक्षाद्व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं विदित्वा नरः साक्षादमृतत्वं हि गच्छति ॥ ५४ ॥

"यथाऽऽदर्शे" इति श्रुतिं संगृह्णाति–**यथेति** । **यथा निर्मल आदर्शे** स्वकीयं **रूपं** सम्यक्**पश्यति तथाऽस्मिन्**मानुषशरीरे श्रवणमननादिसाधनकलापानुष्ठानेनाऽऽत्मानं ब्रह्मरूपत्वेन साक्षात्कर्तुं शक्नोति । अन्यत्र तु साधनानुष्ठानासंभवात्तज्ज्ञानं न सुलभमिति भावः ॥ ५० ॥ "इन्द्रियाणां पृथग्भावम्" इति यदाम्नातं तदभिप्रायमाह–**जन्मनाशेति** । **विदित्वाऽनात्मरूपत** इत्यादि । आत्मसकाशाद्विविक्तमिन्द्रियादिकं प्रथम**मनात्मरूपेण विदित्वा** तथाऽवस्थितं तत्**पश्चात्केवलात्म**भावेन **विदित्वा** । अधिष्ठानभूते स्वात्मनि तत्सर्वं विलाप्येत्यर्थः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ एवं मनआदिकमपि स्वस्वकारणभावापत्त्या विलाप्य सर्वाधिष्ठानभूतमुदीरितरूपं पुरुषस्वरूपमेव मुमुक्षुणा ज्ञातव्यमिति प्रतिपादयति–**इन्द्रियेभ्य** इत्यादिना । चक्षुरा**दीन्द्रियेभ्यः** सकाशा**न्मनः श्रेष्ठम्** । तदन्तरेण तेषां कार्यकारणत्वाभावात् । तस्माच्च **मनस**स्तत्कारणभूतं सत्त्वं[2] श्रेष्ठम् । तस्मादपि **महानात्मा** हैरण्यगर्भी बुद्धिः प्रशस्ता । ततोऽपि प्रशस्त**मव्यक्तं** तत्कारणत्वेनातिसूक्ष्मत्वात् । तस्मादपि सर्वान्तरः पुरुषः पूर्णोऽनवच्छिन्न आत्मा । अव्यक्तादिस्थावरान्तस्य सर्वस्य कारणत्वात्**साक्षाद्व्यापकः** स **चालिङ्गो** लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तन्न विद्यते यस्य स तथोक्तः । सकलसांसारिकपुण्यपापलेपस्य[3] लिङ्गशरीराश्रितत्वात्तन्निषेधेनाऽऽत्मनः संसारास्पर्शो वर्णितो भवति ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

दर्पण में अपना रूप यथावत् दीख जाता है वैसे मानवदेह में रहते निर्विशेष ब्रह्मरूप आत्मा का यथातथ दर्शन हो सकता है ॥ ५० ॥ इन्द्रियाँ जन्म-नाश वाली हैं अतः परमात्मा से पार्थक्य प्राप्त कर ही उपलब्ध होती हैं (परमात्मरूप से उपलब्ध नहीं होती) । पृथक्तया उपलब्ध होने से वे अनात्मा हैं । उत्पत्ति-नाश वाली होने से भी वे अनात्मा हैं । (सुषुप्ति, प्रलयादि में इंद्रियों का नाश आदि स्पष्ट है । जो तो 'लिंगभंगो हि मोक्षः' कहा जाता है वह 'लिंगबाधो हि मोक्षः' के तात्पर्य से है ।) इस प्रकार पहले इंद्रियादि उपाधियों को अनात्मा समझ कर विवेक करना चाहिये । फिर यह विचार करना चाहिये कि अनात्मा जो कुछ भी है वह आखिर आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है (जैसे सर्पादि आखिर रज्जु से अतिरिक्त कुछ नहीं है)।

---

१ विवेकस्य प्रस्तुतत्वाद्घटादेरात्मन्यनध्यासादिन्द्रियादेरेव तथात्वात्तदादिरेवेह विवेकः श्रुत्यादर्शि । किन्त्वेवमिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति पूर्वस्माद्विरोधः प्रतीयेत, तन्माभूदित्यत आचार्या 'अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणमि'ति व्याचख्युः । २ सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहेति भाष्यम् । अनुभूतिप्रकाशे तु 'इन्द्रियाणामनात्मत्वमागमापायदर्शनाद् । बुद्ध्वा तत्साक्षिणि स्वस्मिन् ब्रह्मत्वं बुद्ध्यते सुखात् ॥ मन्दश्चेद् अक्ष-धी-कर्तृ-समष्ट-य्व्यक्तरूपतः । क्रमाद्विविच्य मूढस्वं वीक्ष्यते सूक्ष्मया धिये'ति ॥ ११.१०१-२ ॥ सत्त्वमहङ्कार इत्यभिप्रयन्त्याचार्याः । तदनुरोधाद्भाष्येपि बुद्धिरहंकार एव वा स्यात् । ३ झ. °लेशस्य ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः साक्षादात्मा शक्यते वेदितुं सः ॥ ५५ ॥

नन्वसौ निरुपाधिक आत्मा कथं वेदितुं शक्य इत्याशङ्क्याऽऽह–**न संदृश** इति । **संदृशे** संदर्शनविषये प्रत्यगात्मनो **रूपं** स्वरूपं **न तिष्ठति** । अतो **न चक्षुषा** । उपलक्षणमेतत् चक्षुरादिसर्वेन्द्रियेण कश्चिदप्येनमात्मानं न पश्यति, कथं तर्हि स द्रष्टव्य इति ? उच्यते । हृदा हृत्स्थया **मनीषा** मनसः संकल्पादिरूपस्येष्ट इति मनीट् तथाविधया बुद्ध्या, **मनसा** मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन **चाभिक्लृप्तो**ऽभिप्रकाशितोऽयमात्मा साक्षाद्यथावद्वेदितुं **शक्यते** ॥ ५५ ॥

यह स्वानुभव हो जाने पर साधक परम बुद्धि से युक्त हो जाता है और सब शोकों से परे हो जाता है ॥ ५१–५२ ॥ इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है मन से उसका कारणभूत सत्त्व श्रेष्ठ है । उससे भी श्रेष्ठ है हिरण्यगर्भ की समष्टि बुद्धि । उससे श्रेष्ठ उसका कारण अव्यक्त है । अव्यक्त से परे है साक्षात्, व्यापक, बुद्धि आदि का अविषय शिव । उसे जानकर मनुष्य स्वयं अमरता पा लेता है ॥ ५३–५४ ॥ प्रत्यगात्मा का स्वरूप दृश्य होकर कभी नहीं रहता । इसे आँखों से कोई नहीं देखता । हृदयस्थ मन का नियंत्रण करने वाली बुद्धि से किये गये सम्यङ् निश्चय से अभितः प्रकाशित आत्मा यथावत् समझा जा सकता है । (स्मरणीय है कि आँखादि इंद्रियाँ जो कुछ देखती हैं वह दृश्य अतएव मिथ्या होता है । परमात्मा को भी ऐसे यदि देखेंगे तो वह भी मिथ्या होने लगेगा । परमात्मा के विग्रह यद्यपि वैसे ही दीखते हैं तथापि वे विग्रह मायिक ही होते हैं, मिथ्या ही होते हैं । विषयतया हम मिथ्या ही देख सकते हैं । अविषयतया, साक्षात्, ही हुआ दर्शन शिवदर्शन है । चाहे जिस पीर-पैगम्बर ने विषयतया किये दर्शन को परमात्मा माना हो, निश्चित है कि उसने जिसे देखा वह मिथ्या ही था । यह बात दूसरी है कि दीखने वाला देह, प्रकाश आदि जिसका था वह सत्य है, पर जो दीखा वह असत्य ही है । सत्य परमेश्वर का साक्षाद् अपरोक्ष ही वास्तविक दर्शन है । उसका उपाय हो सकता है लीलाविग्रह का दर्शनादि, पर उतने को ही परम मानना गलत है । इससे 'परमात्मा को किसने देखा है ?' इत्यादि प्रश्नों का निराकरण हो गया । देखा है का मतलब क्या ? आँखादि से देखना यदि विवक्षित है तब तो यही उत्तर है 'किसी ने नहीं' । यदि तात्पर्य है अनुभव से, तब सभी ब्रह्मवेत्ताओं का स्वानुभव प्रमाण है । किंच साधक को इससे क्या कि किसी ने देखा है या नहीं । दूसरे के देखने से मुझे लाभ भी क्या ? मैं कैसे देखूँ ?–यही वास्तविक उचित प्रश्न है । पूर्व में भी आया था 'कथं नु तद्विजानीयात् ?' (श्लो. ४३), उपनिषत् में तो स्पष्ट है 'कथं नु तद्विजानीयाम् ?' मैं कैसे उसे समझूँ ? इसी जिज्ञासा की शांति के लिये कहा है 'हृदा मनीषा' इत्यादि । हृदा से श्रवण, मनीषा से निदिध्यासन व मनसा से मनन समझ सकते हैं । हृदा मनीषा का भाष्यानुसारी समानाधिकरणान्वय हो तो मनीषा से श्रुतिप्रकाश व मनसा से न्यायप्रकाश समझना चाहिये । अथवा हृदा का अभिप्राय 'नेति नेति' आदि से सबके प्रतिषेध से है । उससे मनीषा आत्मा का ज्ञान होता है, फलतः मन से सब ब्रह्म ही भासता है । अथवा हृदा अर्थात् प्रेम से और मनीषा अर्थात् विवेकबुद्धि से तथा मनसा अर्थात् अखण्ड ज्ञान से । ये तथा अन्य व्याख्यायें आचार्यों ने श्वेताश्वतर व्याख्या में (३.१३,४.१७, ४.२०) विस्तार से की हैं, साधन-जिज्ञासुओं को वहीं से समझना चाहिये ।) ॥ ५५ ॥ भाव व अभाव

एवं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपं भावाभावाशेषलोकस्य हेतुम् ।

श्रुत्या युक्त्या ब्रह्म जानन्ति मर्त्या विद्यायोगादेव मुक्ता भवन्ति ॥ ५६ ॥

"य एतद्विदुः" इति श्रुतिवाक्यस्यार्थं ब्रुवन्नवशिष्टश्रुतिसंदर्भस्यार्थं तात्पर्यतः संगृह्णाति–**एवमिति** ॥ ५६ ॥ इति **कठवल्लीव्याख्यानम्** ॥

समस्त लोक के हेतु साक्षात् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म को श्रुति व युक्ति से जो उक्त ढंग से समझते हैं वे उस विज्ञान के बल पर मुक्त हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

(अब श्वेताश्वतर उपनिषत् का सारसंग्रह करते हुए ब्रह्मा जी आगे कहते हैं–) पूर्वोक्त परा विद्या का जो वेदप्रसिद्ध ज्ञेय है उसकी कोई अचिन्त्य शक्ति अवश्य है (क्योंकि वेद्य ब्रह्म ने तेज आदि की सृष्टि की तथा शक्ति वाला ही कुछ कर सकता है) । सत्य, आनंद, असंग तथा ज्ञानमात्र रूप वह अद्वितीय ब्रह्म उस शक्ति से ही भोक्ता, भोग्य और ईश्वर इन तीन विभिन्न रूपों वाला हो जाता है । (शक्ति की सत्यता की शंका हटाने के लिये ही यहाँ कह दिया 'अद्वयं सत्'–अद्वितीय रहते हुए ही । चाँद एक रहते हुए ही जैसे दो 'हो जाता' है वैसे ब्रह्म तीन 'हो गया' है । क्योंकि यह दो या तीन होना अवास्तविक है इसलिये दो या तीन होने की सामर्थ्य भी अवास्तविक होना स्वाभाविक है । इसी विविधभाव को करने के लिये 'शक्तियोग' का उपन्यास कर (४.१) उपनिषत् ने उसे माया कह दिया है (४.१०) । 'नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय' (६.१७) से माया की स्वतंत्र सत्ता का पुनः निषेध किया है । 'मे प्रकृतिः' (७.४) कहकर भगवान् ने भी उसके स्वातन्त्र्य का प्रतिषेध कर दिया है । सांख्याभिमत प्रकृति से माया में दो ही मुख्य भेद हैं–प्रकृति को वे सत्य और स्वतंत्र मानते हैं जबकि माया मिथ्या और परतन्त्र है । श्वेताश्वतर के वर्णनों से कुछेक लोग भ्रान्त होकर इसमें सांख्यसंमत प्रकृति को स्वीकारा गया समझ लेते हैं किंतु वह संदर्भ का ऊहापोह न करने का ही फल है । 'अशब्दम्' (१.१.५) आदि से उपक्रम कर बहुत विस्तार से पाराशर्य महर्षि ने प्रकृति श्रुतिसंमत नहीं यह सिद्ध किया है । प्रायः जो स्थल श्वेताश्वतर में प्रकृति समर्थक माने जाते हैं सबका वहाँ परीक्षण हो चुका है । अतः श्रवण की कमी से ही प्रकृतिश्रौतत्व का भ्रम है । यहाँ भी इस उपनिषत् के अर्थसंग्रह का प्रारम्भ शक्ति से किया जा रहा है जिससे वैसे भ्रमों की संभावना होनी स्वाभाविक है अतः उपनिषत् का परिशीलन कर उस भ्रम की संभावना को दूर कर लेना चाहिये । पहले ही उसे 'देवात्मशक्ति' कहा है (१.३) देवशक्ति न कहकर देवात्मशक्ति कहने का अर्थ है कि वह शक्ति देव से पृथग्भूत, स्वतंत्र नहीं है । 'पृथक् मत्त्वा भ्राम्यते' (१.६) से संसरण की भ्रममूलकता, भेददृष्टिकार्यता स्पष्ट की है । 'विदित्वा योनिमुक्ताः' (१.७) ज्ञान से मोक्ष कहकर अज्ञानातिरिक्त बंध का निषेध हो रहा है । 'क्षरं प्रधानम्' (१.१०) तो स्पष्ट ही नित्य माने गये प्रधान को क्षर–विनाशी–कह रहा है जो सांख्य को कभी इष्ट नहीं । द्वितीय अध्याय में प्रधानतः साधनोपदेश है । तृतीय का आरम्भ है 'ईशत ईशनीभिः' से । ईशनियों के भेद की प्राप्ति होते ही द्वितीय मंत्र में 'न द्वितीयाय तस्थुः' कह दिया । आगे भी 'एकं परिवेष्टितारम्' (३.७) से अन्य किसी व्यापक वास्तविकता का निषेध कर दिया । फिर 'पुरुष एवेदँ सर्वम्' (३.१५) से तत्त्वान्तर की प्राप्ति रोक दी गयी है । चौथे के आरम्भ में

[१] विद्यावेद्यं ब्रह्म यद्वेदसिद्धं तस्याचिन्त्या काचिदस्त्येव शक्तिः ।
शक्त्या भिन्नं तद्भवत्यद्वयं सत्सत्यानन्दासङ्गबोधैकरूपम् ॥ ५७ ॥

एवं सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मात्मैक्यपरत्वं कठशाखोपनिषदो दर्शितम् । अथ **श्वेताश्वतर**शाखोपनिषदोऽपि तत्परत्वं दर्शयति-**विद्यावेद्यमि**त्याद्यध्यायशेषेण । तत्र हि यज्जगत्कारणं तद् ब्रह्मेत्यवगमयितुम् "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा" इत्यादिना कालादीनां[२] जगत्कारणत्वं पूर्वपक्षीकृत्य "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इति मायाशक्तिसहितस्य द्योतमानस्य स्वप्रकाशचिदात्मकस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं वर्णितम् । तादृक्शक्तियोगं तस्य प्रतिपादयति- **विद्यावेद्यमि**ति । या विद्या प्रागनुक्रान्ता तया वेद्यं सकलवेदान्तेषु प्रसिद्धं यद् ब्रह्म तस्याचिन्त्येदृग्विधेति चिन्तयितुमशक्या सर्वदुर्घटकारिणी **काचिच्छक्तिरस्त्येव** । तद्रहितस्याशक्तस्य "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिश्रूयमाणकारणत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । अत्र भोक्ता भोग्यं भोगप्रदश्चेति त्रैविध्यं प्रतिपित्सितम् । तच्चाद्वितीये ब्रह्मणि कथं घटत इत्याशङ्क्य सा शक्तिस्तद्घटयतीत्याह- **शक्त्येति** । यत्सत्यादिलक्षणमद्वितीयं ब्रह्म **तच्छक्त्या** सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकया मायया घटाद्युपाधिभिराकाशव**द्भिन्नं** भेदयुक्तं **भवति** ॥ ५७ ॥

कह दिया 'शक्तियोगाद् दधाति' । किन्तु उसी मंत्र में दो तरह से मायावाद स्पष्ट कर दिया है-'वि चैति चान्ते' अर्थात् 'अन्ते वि एति गमयति स्वस्मिन्' । और 'आदौ स विश्वम्' । पहले सब कुछ वही-शिवरूप ही-था और अन्त में शिव सब को अपने में पुनः विलीन कर लेता है । यह कार्य मायाशक्ति से ही संभव है अन्यथा नहीं । 'अजा' (४.५) को ही 'अनीशा' (४.७) कहा है । अनीशा अर्थात् अस्वतंत्र । अतः यह प्रधान-प्रकृति नहीं हो सकती । पुनः 'मायया संनिरुद्धः' (४.९) से माया को बंधहेतु मुखतः कहा है । किंच वहीं माया ही प्रकृति है (४.१०) अन्य नहीं यह स्पष्ट किया है जिससे उसी अध्याय के 'अजामेकाम्' (४.५) से मायेतर प्रकृति सिद्ध करना मूर्खता है । पंचमाध्याय प्रारम्भ में ही ब्रह्माश्रित अविद्या को जगत्प्रयोजक घोषित करता है किसी स्वतंत्र प्रकृति को नहीं 'ब्रह्मपरे विद्याविद्ये, क्षरन्त्वविद्या' । छठे में अविद्या को 'महिमा' कहा है (६.१) उससे होता भी भ्रम है 'येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्' (६.१) । आगे उसे ही पराशक्ति कहा है (६.८) और शक्ति सदा शक्तिमान् के परतंत्र हुआ करती है । पुनः परमशिव को प्रकृति का मालिक कहा है 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः' (६.१६) । इस प्रकार श्वेताश्वतर में कहीं भी स्वतंत्र सत्य प्रकृति को स्वीकृति नहीं है । अतः वार्तिकाचार्यों ने कहा है 'न हि वेदान्तसिद्धान्ते ह्यज्ञातात्मातिरेकतः । सांख्यानामिव सिद्धान्ते लभ्यते कारणान्तरम्' । (बृ. ४.४.१७९) ।) ॥ ५७ ॥ ब्रह्म का एक रूप जीवात्मक है तथा भोग्य विश्व उसी का अन्य रूप है । इनसे अन्य ही भोगप्रद ईश्वर रूप भी ब्रह्म का है जबकि परमात्मा का शुद्धरूप

---

१ अस्मद्गुरवो गीताश्वेताश्वतरयोः वहुसाम्यं पश्यन्ति (श्वे. पृ.७) ततश्च श्रुतिसंवादमुक्त्वा स्मृतिसंवादमपि दर्शयितुं तत्साम्यवतीमुपनिषदमादाय ब्रह्मा वक्तीति वोध्यम् । २ च. °नां तत्का° ।

[1]एकं रूपं ब्रह्मणो जीवरूपं भोग्यं विश्वं ब्रह्मणस्त्वन्यरूपम् ।
अन्यद्रूपं ब्रह्मणः सर्वशास्त्रं प्रज्ञामात्रं शुद्धरूपं परस्य ॥ ५८ ॥
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिञ्जीवो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
ब्रह्मात्मानं प्रेरितारं च युक्त्या मत्वा चैकं याति मर्त्योऽमृतत्वम् ॥ ५९ ॥
ज्ञाज्ञौ जीवाजीवसंज्ञौ प्रतीत्या श्रुत्या युक्त्या स्वानुभूत्या ह्यभिन्नौ ।
माया भोक्तुर्भोगहेतुः परात्मा रूपैरेभिर्विश्वरूपो ह्यकर्ता ॥ ६० ॥

तत्र मलिनसत्त्वप्रधानमायावच्छिन्नं **यद् ब्रह्मणो रूपं** तज्जीवसंज्ञां लभते । तमःप्रधानमायावच्छिन्नं तु **भोग्यं** जगद्भवति । विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकं त्वन्यद्रूपमीश्वराख्यं तद्भोगप्रदं भवति । **अन्यद्रूपमिति** । परस्य मायातीतस्य तस्य ब्रह्मणः कृत्स्नवेदान्तप्रतिपाद्यं केवलं चिदेकरसं यच्छुद्धरूपं तत्तु सोपाधिकरूपत्रितयादन्यद्विलक्षणमित्यर्थः । वक्ष्यति हि 'भोक्ता भोग्यमि'ति (श्लो. ६३) ॥ ५८ ॥ श्रुतौ 'सर्वाजीव' इति मन्त्रेण (१.६) जीवस्याविद्यया संसारचक्रे भ्रमणं विद्यया ब्रह्मतादात्म्यं च यदाम्नातं तदाह–**सर्वाजीव** इति । आसमन्ताज्जीवनमाजीवः सर्वेषामाजीवो यस्मिंस्तत्सर्वाजीवं तस्मिन्**सर्वसंस्थे** सर्वेषां संस्था मरणं स्थितिर्वा[2] यस्मिंस्तत्सर्वसंस्थं तस्मिन्सर्वसंस्थे । **बृहन्ते** "जृविशिभ्यां झच्" इति विधीयमानो झज्बाहुलकाद्बृंहतेरपि द्रष्टव्यः । बृहति विस्तृते तस्मिन्**ब्रह्मचक्रे** ब्रह्मणा निर्मिते संसारचक्रे स्वाविद्यया संसर**ञ्जीवो** भोगप्रदेनेश्वरेण भ्राम्यते[3] । स च जीवः स्वार्जितसुकृतवशात्परमेश्वरानुग्रहेण चानुष्ठितश्रवणमननादिसाधनकलापः संस्तेन गुरूपदिष्टशास्त्रश्रवणेन प्रत्यगात्मानमीश्वरं चैकत्वेन ज्ञातं **युक्त्या मत्वा** साक्षात्कृत्या**मृतत्वं** मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥ अस्य जीवेश्वरतादात्म्यस्य विस्पष्टं प्रतिपादकमन्यं मन्त्रमुपस्कृत्य (१.९) व्याचष्टे– **ज्ञाज्ञा**विति । ज्ञोऽपरिच्छिन्नचैतन्यैकस्वभावस्तत्पदार्थः परशिवः । अज्ञः कर्ता भोक्ताऽऽवृतज्ञानस्त्वंपदार्थः । तावेतौ **जीवाजीवसंज्ञौ प्रतीत्या** भिन्नौ । परमार्थतस्तु "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि**श्रुत्या** तदनुसारिण्या **युक्त्या** विद्वदनुभवेन च ताव**भिन्नौ** । उपाधिकृत एव तयोर्भेदो न वास्तव इत्यर्थः । तयोर्भेदापादकमुपाधिं दर्शयति–**माये**ति । भोक्तुः संसार्यात्मनो भोगहेतु**र्माया** मलिनसत्त्वप्रधाना । मायावशीकृतो हि प्रत्यगात्मा कर्ता भोक्ता भवति । परमात्मा तु स्वाधीनमायत्वादेभिर्दृश्यमानैः परिकल्पितैः सर्वैरपि **रूपैर्विश्वरूपो** नानाविधरूपः सन्न**प्यकर्ता** कर्तृत्वादिसकलसंसारधर्मरहितः । अतस्तदुपाधिपरित्यागेन तयोरैक्यं स्वध्यवसानमिति भावः ॥ ६० ॥

प्रज्ञामात्र है जो सब उपनिषदों में प्रसिद्ध है ॥ ५८ ॥ सब जीव जिसमें अपनी आजीविका चलाते हैं, जिसमें स्थित रहते हैं, ब्रह्म-प्रवर्तित उस संसारचक्र में जीव (स्वयं को शिव से पृथक मानने के कारण) भ्रमण करता रहता है । ब्रह्मरूप निजात्मा और प्रेरिता; शासक, ईश्वर को युक्ति पूर्वक अभिन्न मानकर वही जीव अमरता पा जाता है । ('भ्रमण करता है' की जगह 'ईश्वर द्वारा भ्रमण कराया जाता है' ऐसा टीकादिसंमत अर्थ है ।) ॥ ५९ ॥ अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वभाव परशिव तथा अज्ञानी जीव–ये दोनों प्रतीत विभिन्न होते हैं किन्तु श्रुति, युक्ति और विद्वानों के स्वानुभव से ये अभिन्न सिद्ध होते हैं । भोक्ता जीव के भोग में प्रयोजिका है माया । सब रूपों को धारण करते हुए भी परमात्मा अकर्ता ही है, इनका धारण करता हो ऐसी बात नहीं ॥ ६० ॥ माया क्षर है, विनाशी अर्थात् बाध्य है जबकि जीव का वास्तविक रूप अक्षर है, अबाध्य है । एक ही स्वप्रकाश देव क्षर और जीवात्मा इन दो प्रकारों से बँटा प्रतीत होता है । उस परमशिव

---

१ घ. एवंरू० । २ झ. स्थितिश्चाप्यस्मिं० । ३ यद्वा 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्त्वा भ्राम्यते' भ्राम्यतीत्यर्थः आत्मनेपदमार्षम् ।

क्षरं माया चाक्षरं जीवरूपं क्षरात्मना भिद्यते देव एकः ।
तस्य ध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ ६१ ॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्य ध्यानान्मूलमायाविभेदे विश्वैश्वर्यं याति कैवल्यरूपम् ॥ ६२ ॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवाऽऽत्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ ६३ ॥

"क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः" इति मन्त्रस्यार्थमाह–**क्षरं मायेति** । क्षरं क्षरणशीलं नश्वरं विद्यानिवर्त्यत्वान्**माया**तत्त्वम् । **अक्षर**मनश्वरं जीवभावापन्नं ब्रह्मणो रूपम् । तदुभयात्मनैक एव स्वयंप्रभः परशिवो **भिद्यते** भिन्नो भासते । मायातत्कार्यभेदस्य तस्मिन्नध्यस्तत्वेन तदव्यतिरेकादित्यर्थः । आत्मज्ञानात्सद्यो मुक्तेरदर्शनात्तस्य[१] तत्साधनत्वं प्रत्यक्षविरुद्धमिति भ्रमव्युदसनाय 'तस्याभिध्यानादि'ति श्रुतिमुदाहरति–**तस्येति** । **तस्य** निरस्तसमस्तभेदस्य चिदानन्दैकरसस्य च ब्रह्मणो **ध्यानात्**'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति ताटस्थ्यज्ञानाच्छ्रवणजनितात्[२] प्रत्यग्ब्रह्मैक्यविषयात्परोक्षज्ञानाद्वा भेदप्रपञ्चस्य निवृत्तिर्भवति । तदेवाहं ब्रह्मास्मीत्यात्मतया **योजनाद**देकीकरणाद्यौक्तिकान्मननज्ञानाद्वा प्रतीचस्त्वब्रह्मरूपा माया निवर्तते । पुन**स्तत्त्वभावात्त**द्रूपत्वभावनान्निदिध्यासनपर्यायात्तद्विषयमपरोक्षज्ञानं जायते[३] । तेन च मायातद्विलासं[४] निवार्यते । तस्यां निवारितायामपि तज्जनिता वासना प्रारब्धकर्मफलक्षयपर्यन्तमनुवर्ततेऽतो विदुषोऽपि तत्पर्यन्तो देहयात्राद्यर्थो व्यवहारो न विरुद्धः । **भूयः पुनश्चान्ते** प्रारब्धकर्मफलोपभोगावसाने विदेहकैवल्यावसरे स्ववासनया सह कृत्स्नमायानिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥ उक्तध्यानादेः फलप्रतिपादिकां श्रुतिं संगृह्णाति–**ज्ञात्वेति** । देवं द्योतमानं स्वयंप्रकाशं परमात्मानमुदीरितरीत्या सर्वात्मत्वेन **ज्ञात्वा सर्वपाशापहानिः** । मूल[५]मायाकर्मादयः पाशास्तेषां सर्वेषामविद्यास्मितादीनां क्लेशानां च परिक्षयं प्राप्नोतीत्यर्थः । 'तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेद' इति श्रुतिं व्याचष्टे–**तस्येति** । अद्वितीयब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण मूलाज्ञाननिवृत्तौ सत्यां कैवल्यरूपं केवलात्मावस्थानलक्षणं सर्वैश्वर्यमनपेक्षकमीश्वरत्वं प्राप्नोति ॥ ६२ ॥ आप्तकामत्वान्मायाशक्तिवशा (द्) भोक्तृभोग्यादिभावेन भिन्नं रूपं परित्यज्य यदेतदुक्तं वास्तवमभिन्नं कैवल्यरूप**मेतदेव नित्यं** सर्वदाऽऽत्मसंस्थं प्रत्यगात्मभावेन स्थितं ज्ञेयं साक्षात्कर्तव्यम् । नन्वितोऽन्यदपि किंचिज्ज्ञातव्यं स्यादित्यत आह–**नातः परमिति** । **अतो**ऽस्मान्निरतिशयानन्दलक्षणाद्ब्रह्मात्मनोऽन्य**द्वेदितव्यं** किमपि तत्त्वं नास्ति, "अतोऽन्यदार्तम्" इति श्रुतेः । यत्तावद्भोक्तृभोग्यादिभेदेन त्रिविधं जगत्प्रतिभाति तदपि निरूप्यमाणे मायातीते ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात्ततो न व्यतिरिच्यत इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादकं मन्त्रमुदाहृत्य व्याचष्टे–**भोक्तेति** । **ब्रह्ममेतदिति** । अम्भावश्छान्दसः[६] ॥ ६३ ॥

का ध्यान, योजन और तत्त्वभाव करने से (पहले तो जीवनकाल में ही अज्ञाननिवृत्ति हो जाती है) फिर प्रारब्ध-समाप्ति पर सारी माया निवृत्त हो जाती है । (श्रुति में अभिध्यान कहा है जिसका अर्थ श्वेताश्वतर व्याख्या में यों बताया है 'शिवोहं के द्वारा अपनी आत्मा में और शिवः सर्वम् के द्वारा सभी भोग्य पदार्थों में शिवदर्शन ही अभिध्यान पद का अर्थ है ।' एवम् 'जब अभिध्यान करते करते ध्याता और ध्येय का भेद मिट जाये एवं अनात्ममाया की प्रतीति

---

१ झ. °त्तस्मात्तत्सा° । २ घ. °तात्प्राग्ब्रह्मै° । ३ झ. जन्यते । ४ च. °लासो नि° । ५ मलमायेत्यादिः पाठः स्यात् । अनुभूतिप्राकाशे 'मलो माया तत्त्वतिरोधानं च ते मता' इति (१२.३१) पाशानां परिगणनम् । ६ ब्रह्म मे तदिति वा छेदः । सूत्रभाष्ये (३.२.१३) वाक्यमिदमुदाहारि तत्र प्रकटार्थे व्याख्या 'भोक्ता जीवो भोग्यं रूपादिविषयजातं प्रेरितारमीश्वरं च मत्वा विचार्य तत्सर्वं त्रिविधं मे मम प्रोक्तं ब्रह्मैवेति जानीयादित्यर्थः' इति ।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।

स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यः[1] तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ ६४ ॥

तथाविधस्य ब्रह्मणो ज्ञानोपायं बोधयितुं यदाम्नातं 'वह्नेर्यथे'ति तत्संगृह्णाति–**वह्नेरिति** । **योनिगतस्य योनिः** कारणमरणिस्तद्गतस्याग्नेर्**मूर्तिः** स्वरूपं **न दृश्यते** चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण वा नोपलभ्यते अथापि **नैव लिङ्गनाशः** । मथ्यमाने सति यदग्निसद्भावगमकं लिङ्गमौष्ण्यं तस्य च नाशो नैव विद्यते । **सोऽग्निः**-पुनर्मथनोपायेने**न्धनयोनि**रिन्धनादरणिरूपात्काष्ठाज्जायमानः सन्निन्द्रियग्राह्यो भवति । यथाऽयं दृष्टान्तस्तथा ब्रह्मापि कार्यकारणसंघाते प्रविष्टं सद्विवेकेनानुपलभ्यमानमप्युपायविशेषेण ग्रहीतुं शक्यते, तमुपायं दर्शयति–**तद्वेति** । **वा**शब्दश्चार्थे। तच्च ब्रह्मोभयविधं परं चापरं च, **देहे** शरीरे हृदयाम्बुजमध्ये[2] ध्येयत्वेन ज्ञेयत्वेन चावस्थितं **प्रणवेनों**कारेण गृह्यत इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

सर्वथा निवृत्त हो जाये उस समय की सायुज्य प्राप्ति ही योजना है ।' तथा तत्त्वभाव का अर्थ है 'वेदान्त वाक्यों के श्रवण से द्वैतभ्रम एवं अविद्या से तिरोहित निरतिशय आनंद का अवतरण ऐसा हो जाये कि व्यवधान करने वाला द्वैतभ्रम और मूलाविद्या दोनों ही ज्ञानाग्नि से जलकर तत् और त्वम् पदार्थ की एकता स्वरूप यथार्थतः शिव ही मैं हूँ–ऐसा भाव तत्त्वभाव है ।' (पृ. ७१-७२) ऐसा ही अनुभूतिप्रकाश से स्पष्ट होता है (१२.२८–२९) । अथवा सीधा अर्थ श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन है । एकाग्रता से कर्तव्य होने से श्रवण ही ध्यान है । अर्थ की युक्ति-युक्तता सम्पादित करना रूप होने से मनन ही योजन है और निश्चित अखण्ड तत्त्व की भावना ध्यानात्मक निदिध्यासन है । विश्वमायानिवृत्ति फलरूप निदिध्यासन है । अथवा जीवनकाल में विज्ञानात्मक फलरूपनिदिध्यासन होकर विश्वमायानिवृत्ति विदेहकैवल्य है ।) ॥ ६१ ॥ परमात्मा को जानकर सब पाश छूट जाते हैं । क्लेश समाप्त हो जाने से पुनः जन्म-मृत्यु नहीं होते । शिव का साक्षात्कार होने से संसार का मूल अज्ञान निवृत्त हो जाने पर समस्त ऐश्वर्यरूप कैवल्य मिलता है । (पुत्र, सम्पत्ति आदि बाह्य और अहंता, ममता आदि आन्तर पाश हैं । राग, द्वेष, पुण्य, पापादि क्लेश हैं । अथवा मलादि शैवागमप्रसिद्ध पाश तथा अविद्यादि योगसूत्रप्रसिद्ध क्लेश हैं ।) ॥ ६२ ॥ प्रत्यगात्मरूप से स्थित यह शिव ही ज्ञेय है इनसे अन्य कुछ नहीं । भोक्ता जीव, भोग्य जगत् और प्रेरिता ईश्वर का विचार कर निर्धारण करो तो जान जाओगे कि मेरे द्वारा बताया ब्रह्म ही इन तीन तरहों से प्रतीत हो रहा है (शिवेतर कुछ नहीं है) ॥ ६३ ॥ अपने कारण अरणि आदि में निलीन अग्नि का अर्चि आदि रूप तो नहीं दीखता किन्तु अपने गुणों सहित उसका नाश है (अभाव है) ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह उसी ईंधन रूप अरणि में (मंथनादि के अनन्तर) उपलब्ध भी हो जाती है । (यदि सर्वथा वहाँ न होती तो बालू में तेल जैसे वहाँ कभी उपलब्ध न होती ।) इसी तरह पर और अपर दोनों प्रकार के ब्रह्म इस शरीर में स्थित हैं तथा प्रणव के द्वारा प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६४ ॥ अपने शरीर को नीचे की अरणि बनाकर और ओंकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यानरूप निरन्तर घुमाने के अभ्यास से

१ इन्धनयोनि गृह्यश्चेति समासः । २ झ. हृदम्बु° ।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥ ६५ ॥

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैवं तपसा योऽनुवेत्ति ॥ ६६ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे[१] सर्पिरिवार्पितम् । आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ ६७ ॥

कथं प्रणवस्य तद्ग्रहणोपायत्वमिति तदाह–**स्वदेह**मिति । **स्वदेहो**पलक्षितं हृदयमध**रारणिं कृत्वों**कारं **चोत्तरारणिं** कृत्वा **ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्ध्या**नं प्रणवाभिधेयत्वेन तदालम्बनत्वेन वा परस्यापरस्य वा ब्रह्मणश्चिन्तनं, तदेव निर्मथनं, तस्याभ्यासो यावत्साक्षात्कारमनुवृत्तिस्तस्मादुपायाद्देवं द्योतमानं स्वप्रकाशं निरुपाधिकमात्म[२]स्वरूपं **पश्येत्**साक्षात्करोति । **निगूढवत्** । यथा काष्ठे निगूढं विलीनमग्निमधरोत्तरारणिभ्यां निर्मथनेनाऽऽवर्त[३]नेनो[४]पलभते तद्वदित्यर्थः ॥ ६५ ॥ विहितमात्मदर्शनमनेकैर्दृष्टान्तैरुपपादयन्सत्यादिसाधनमुपदिशति–**तिलेष्वि**ति । यथा **तिलेषु तैलं** व्याप्य वर्तते । यथा वा दध्नि **सर्पि**राज्यं **स्रोतस्सु** सिकताविशिष्टासु नदीष्वा**पो**ऽभ्यन्तरे व्याप्य वर्तन्ते, **अरणीषु** काष्ठेष्व**ग्निः** यथैते[५] तैलादयस्तिलादिषु विवेकतोऽनुपलभ्यमाना अपि पीडनालोडनखननमथनैर्विवेकिनोपलभ्यन्त एवमेव त्वय**मात्मा** निरुपाधिकः सच्चिदानन्दैकरस **आत्मनि** हृदये **गृह्यते** श्रवणमननादिसंस्कृतेन मनसा साक्षात्क्रियते । **योऽसा**वेवंविधमात्मानं **सत्येन** वचनेन **तपसा** कृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणेन वर्णाश्रमविहितेन स्वधर्मेण साधको**ऽनुवेत्त्य**नुपश्यति, तेन सत्यादिसाधनवता पुरुषेण गृह्यत इति संबन्धः । अत एवाथर्वणोपनिषद्यप्याम्नातम् "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा" इति ॥ ६६ ॥ तिलादिषु तैलादिवद्व्याप्य वर्तमानो यः सर्वव्यापक आत्मा नासावुपचरितः किंतु साक्षाद्ब्रह्मैवेति प्रतिपादयति–**सर्वव्यापिन**मिति । **क्षीरे** कारणात्मनाऽवस्थितं घृतं यथा तद्व्याप्नोत्येवं कारणात्मना कार्यं जगत्कृत्स्नं व्याप्नोतीति **सर्वव्यापी** । तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वसंदर्शने साक्षात्साधनमाह– **आत्मे**ति । आत्मनश्चिदानन्दैकरसस्य श्रवणमननादिसाधनजन्या[६] साक्षात्काररूपा या **विद्या** यच्च **तपो** वर्णाश्रमविहितं यज्ञदानादिकर्म तदुभयं **मूलमु**पलब्धिकारणं यस्य स तथोक्तः । एवंभूतं य आत्मानं विद्वान्पश्यति तदेव परं ब्रह्म । तद्विशिनष्टि–**उपनिषद**िति । उपनिपूर्वात्सदेरयं शब्दस्तस्य च विशरणगत्यवसादनलक्षणास्त्रयोऽर्थाः । अद्वितीयं ब्रह्म सर्वप्राणिष्वात्मभावमुपेत्य निरुपाधिकरूपेण प्रकाशमानं सन्नितरां तदीयं संसारं विशृणाति हिनस्तीत्युपनिषत् । यद्वा जीवभावेनावस्थितं साक्षिचैतन्यं नितरां स्वात्मानमुपगमयत्यैक्यं प्रापयति तदविद्यामवसादयति शिथिली करोतीति वोपनिषत्परं ब्रह्म । **यद्ब्रोपनिषत्पद**मिति श्रुतौ पठनादत्रापि तथैव पठनीयम् । तथाचोपनिषच्छब्देन ब्रह्मविद्योच्यते तया पदनीयं प्राप्तव्यमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

अत्यन्त छिपे हुए परमात्मदेव को देखना चाहिये । (इसे पहले भी (७.३८, ८.१८) प्रतिपादित किया है ।) ॥ ६५ ॥ तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल, और अरणियों में आग की तरह बुद्धि में यह आत्मा है । जो सत्य और तप से इसे देखने की कोशिश करता है वही इसका साक्षात्कार कर पाता है । (सम्प्रदायगम्य उपाय में प्रथम, योगाभ्यास में द्वितीय, भक्ति व वैराग्य में तृतीय तथा कारणनाशकता में चतुर्थ दृष्टान्त है ऐसा आचार्यों ने (पृ. ८७-८९) विस्तार से समझाया है । सत्य व तप की साधनता

१ दार्ष्टान्ते क्षीरमहंकारः । स ह्यात्मानात्मरूपस्तत आत्मा विवेचनीय इति भावः । तन्मात्रं च नालं, तस्य सर्वव्यापकत्वं च ज्ञेयमिति ।
२ घ. °त्मरू° । ३ ङ. °र्तमाने° । ४ च. °नोपाल° । ५ ङ. थैव तै° । ६ घ. °धनैकज° ।

यज्ञदानादिभिः पुण्यैर्योगसिद्धिर्भविष्यति । योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिर्न कर्मणा ॥ ६८ ॥

अत्याश्रमिभ्यः[1] शान्तेभ्यो वक्तव्यं ब्रह्मवेदनम् ।

नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राय कदाचन ॥ ६९ ॥

एवमद्वितीयस्य ब्रह्मणः स्वशक्तिवशाद्भोक्तृभोग्यभोगप्रदरूपेणावस्थानं तद्विविक्तस्यापरिच्छिन्न[2]चिदानन्दैकरसस्य निरुपाधिकरूपस्य ज्ञानान्मोक्षश्चेति कृत्स्नशास्त्रार्थस्य संग्रहेण प्रतिपादकं सूत्रभूतं श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रथमाध्यायं[3] व्याख्याय "युञ्जानः प्रथमं मनः" इत्याद्यध्यायपञ्चकस्य तद्विवरणरूपतया गतार्थत्वात्संगृह्य व्याचष्टे–**यज्ञदानेति** । "युञ्जानः प्रथमं मनः" इत्यादिमन्त्रेष्वग्न्याहरणाद्युपलक्षितस्याग्निहोत्रादिनित्यनैमित्तिकादिकर्मजातस्य योगहेतुत्वश्रवणात्परमेश्वरार्पण-बुद्ध्याऽनुष्ठितेन नित्यनैमित्तिककर्मणा 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरमि'त्यादिश्रुत्युक्तरूपस्य (२.८) योगस्य सिद्धिर्भवति । युक्तमनस्कस्य श्रवणमननाद्यनुष्ठानादनायासेन ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानं जायते । तेन च मुक्तिरित्यध्यायपञ्चकस्य तात्पर्यार्थः ॥ ६८ ॥ ब्रह्मविद्यासंप्रदायगोपनार्थम् 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रमि'त्यादिना श्रुतौ यदधिकारिलक्षणमाम्नातं तदाह–**अत्याश्रमिभ्य** इति ॥ ६९ ॥

मुंडक (३.१.५). प्रश्न (१.१५), गीता (१६.२), सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह (श्लो. १०६, ११७) इत्यादि बहुत्र विहित है ।) ॥ ६६ ॥ दूध में घी की तरह एक-मेक हुआ किन्तु सर्वव्यापक आत्मा को जो आत्मज्ञान और तप का मूल है, परम है, उपनिषत् है, ब्रह्म है, उसे जानो । (अथवा आत्मज्ञान और तप है मूल जिसकी प्राप्ति का–ऐसा समझ सकते हैं । प्रथम अर्थ में 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' आदि श्रुति प्रमाण है । द्वितीय अर्थ तो स्पष्ट है । एक-मेक का अभिप्राय है कि यद्यपि घी है दूध से पृथक् तत्त्व तथापि बिना प्रयास के पार्थक्येन उपलब्ध होता नहीं, ऐसे ही आत्मा है अनात्मा से पृथक् किन्तु इतरेतराध्यासवश मिली जुली ही प्रतीति होती है, विवेकवश ही पृथक् समझ आ सकता है । निःसीम आनंदरूपता ही परमता है । 'उपनिषण्णं श्रेयोऽस्याम्' इस भाष्यदर्शित (तै.भा.पृ.३७१) व्युत्पत्ति से जिसमें कल्याण स्थित हो वह उपनिषत् है । 'अपृथक्त्वेऽपि ब्रह्मणः पृथगिवावभासन्ते' न्याय से कल्याण रूप होने पर भी शिव में कल्याण स्थित है ऐसा कहा जाता है । अथवा 'उपनिषत्पदम्' ऐसा समस्त पाठ मानना चाहिये । तब अर्थ है कि ब्रह्म वेदान्तवेद्य है ।) ॥ ६७ ॥ यज्ञ, दान आदि पुण्यों से योग करने की सामर्थ्य आती है । योगाभ्यास से एकाग्रीकृतमन वाला व्यक्ति श्रवणादि से ज्ञान प्राप्त करता है जिससे मोक्ष होता है । अकेला कर्म कभी मोक्ष नहीं दे सकता (उक्त परम्परा से ही दे सकता है) ॥ ६८ ॥ शान्त व अत्याश्रमी साधकों को ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश देना चाहिये । जो प्रशांत न हो या पुत्र न हो उसे कभी इसका उपदेश नहीं देना चाहिये । (शमादि का प्राचुर्य प्रशान्ति है । अत्याश्रमी वे परमहंस हैं जिन्होंने आश्रम संन्यास (द्र. बृ.भा.पृ. २५६ पं. ६) पर्यन्त सभी आश्रमों को छोड़ दिया है तथा शमादियुक्त हो केवल ब्रह्मसंस्थता के प्रयासरूप श्रवणादि में ही तत्पर हैं । ऐतरेयभाष्य की टीका में (पृ. ६३६) कहा

१ अतो वार्तिकामृतआदौ 'त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्रय्यन्तेष्वधिकारिता ॥' इत्युक्तम् । अधिकारितेति त एव फलं लप्स्यन्त इत्यर्थः । अन्ये कामं श्रूयासुः, तेषान्ततः प्रयोजकज्ञानमेव वर्त्स्यति न चरमसाक्षात्कारः । अतो 'ज्ञानमात्रे सर्वाश्रमिणामधिकार' इति भाष्यं संगच्छतेतराम् । २ च. °न्नसच्चिदा° । ३ घ. °यं "यु° ।

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मनोद्धूलनं तथा । त्रिपुण्ड्रधारणं चापि वदन्त्यत्याश्रमं बुधाः ॥ ७० ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा[1] देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ७१ ॥

श्रुतिवचनेन मयैव समस्तं परमकृपाबलतः पठितं च ।

यदि विदितं स नरः स्वकमोहं तरति शिवं विशति प्रियरूपम् ॥ ७२ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु कठवल्लीश्वेताश्वतरव्याख्यायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच—वक्ष्ये सारतरं साक्षात्सर्वशास्त्रार्थसंग्रहम् ।

श्रद्धया सहिता यूयं शृणुतातीव शोभनम् ॥ १ ॥

कः पुनरस्य चात्याश्रमो यद्योगा[2]दधिकारीति तत्राऽऽह—**अग्निरिति** । जाबालश्रुतिगतै'रग्निरिति भस्मे'त्यादिमन्त्रैर्भस्मनोद्धूलनं त्रिपुण्ड्रधारणं च । त[3]च्छब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन च शिवमन्त्रजपतत्पूजादिकं संगृह्यते । एतदुद्धूलनादिकमत्याश्रमं कथयन्त्यभिज्ञाः[4] ॥ ७० ॥ शिवभक्तिवद्गुरुभक्तिरपि विद्योत्पत्तावन्तरङ्गसाधनमिति श्रुतिमुदाहरति—**यस्येति** ॥ ७१ ॥ प्रतिपादितमुपनिषदर्थं निगमयति—**श्रुतीति** । **प्रियरूपमिति** । निरतिशयानन्दरूपमित्यर्थः ॥ ७२ ॥

इति सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्स्वेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

एवमैतरेयकादिसर्वशाखागता उपनिषदो व्याख्याय प्रतिपत्तिसौकर्याय तासु सर्वासु परिनिष्ठितमर्थं संग्रहेणाऽऽख्यातुं प्रतिजानीते—**वक्ष्य** इति । **सर्वशास्त्रार्थेति** । सर्वासामुपनिषदां येऽर्था विस्तरेण प्रतिपादितास्तेषां संग्रहमित्यर्थः ॥ १ ॥

है 'ब्रह्मचर्यादीन् हंसान्तानाश्रमधर्मवत आश्रमानतिक्रम्य वर्तते परमहंस इति सोऽत्याश्रमिशब्देनोच्यते' । उपनिषत् में (श्वे. ६.२२) 'नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः' ऐसा पाठ है अतः यहाँ भी पुत्र शिष्य का उपलक्षण है । पुत्र यदि शिष्यभाव से न भी उपस्थित हो किंतु प्रशान्त हो तो उसे इसका उपदेश कर देना चाहिये यह 'अपुत्राय' को पृथक् कहने का तात्पर्य है । प्रशांति तो उभयत्र अधिकारिविशेषण है ।) ॥ ६९ ॥ 'अग्निरिति भस्म' इत्यादि जाबालगत मंत्रसप्तक (भस्म जा. १. 'भस्म संगृह्य' के आगे) से भस्म-उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र-धारण करना भी अत्याश्रम है ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ ७० ॥ जिसे महादेव और निज गुरु में परम भक्ति हो उस महात्मा को ही यहाँ कही बातें सही-सही समझ आती हैं ॥ ७१ ॥ मैंने परम कृपालु हो श्रुतिवचनों का संग्रह कर यह गीता सुनायी है । इसे यदि विरक्त व्यक्ति समझ ले तो अज्ञान को निवृत्त कर आनन्दघन शिवरूप से अवस्थित होता है ॥ ७२ ॥

शिव की अहम्प्रत्यय-आश्रयता नामक बारहवा अध्याय

ब्रह्मा जी बोले—सब उपनिषदों में जो अर्थ विस्तार से प्रतिपादित हैं उन्हें एकत्र कर मैं अब अत्यधिक

---

१ अन्तरा हि भक्तिं तीव्रविविदिषैव न भवतीति भावः । २ घ. °गाधि° । ३ तथेत्यत्र यस्तच्छब्दः । ४ ननु सर्वकर्मत्यागोत्याश्रम इति चेत् ? सत्यं, परं सर्वत्यागो ज्ञानं विनाऽसम्भवीति ततः पूर्वं कानिचित्कुर्यदिव मुमुक्षुः कानि पुनस्तानीति चेच्छ्रवणादीनि तदुपयोगीनि च भस्मधारणादीनीत्यवेहि ।

अस्ति तावदहंशब्दप्रत्ययालम्बनं सुराः ।

सर्वेषां नः परं ज्ञानं स एवाऽऽत्मा न संशयः ॥ २ ॥

सोऽयं स्वाविद्यया[1] साक्षाच्छिवः सन्नपि वस्तुतः । स्वशिवत्वमविज्ञाय[2] संसारीवावभासते ॥ ३॥

वेदोदितेन मार्गेण पारम्पर्यक्रमेण तु । मुमुक्षुत्वं दृढं प्राप्य पुनः शान्त्यादिसाधनैः ॥ ४ ॥

सहितः शिवभक्त्या च गुरोः पादौ प्रणम्य च ।

वेदान्तानां महावाक्यश्रवणेन तथैव च ॥ ५ ॥

मननेन तथा देवा ध्यानेन परमात्मनः ।

प्रत्यग्ब्रह्मैकताज्ञानं लब्ध्वा याति शिवं परम् ॥ ६ ॥

प्रत्यगात्मानमद्वंद्वमहंशब्दोपलक्षितम् । शिवरूपेण संपश्यन्नेव याति स्वपूर्णताम् ॥ ७ ॥

स च सर्वोपनिषत्समाम्नातोऽर्थः प्रत्यग्ब्रह्मतादात्म्यरूप इत्याह-अस्तीति । **स एवाऽऽत्मेति** । कार्यकारणसंघातविशिष्टस्य चैतन्यस्याहंशब्दवाच्यतयाऽऽत्मत्वे प्रतिभासमानेऽपि देहेन्द्रियादेश्चिद्भास्यत्वाद्, घटादिवदनात्मत्वेन सर्वान्तरः साक्षी चिन्मात्ररूप एवाहंशब्दलक्ष्य आत्मा न देहादिरित्यर्थः । **स्वाविद्ययेति** । स्वस्यासंसारिब्रह्मरूपत्वावरणाज्ञानेनेत्यर्थः । **शिवः सन्नपीति** । सर्वगतः शिव एव हि सर्वप्राणिषु तत्तदुपाधिवशाज्जीवभावेन परिच्छिन्नो भासते "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुतेः ॥ २ ॥ ३ ॥ एवं संसारित्वस्य स्वस्वरूपाज्ञानमात्रकृतत्वात्तत्प्राप्तौ ज्ञानादन्यं नापेक्षते, तच्च ज्ञानमनेन क्रमेण सिध्यतीत्याह-वेदोदितेनेति । **पारम्पर्यक्रमेणेति** । गुरुपरम्परायाः[3] क्रमेणेत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

उपयोगी विषय का संग्रह कर रहा हूँ । आप इस अतिशुभ प्रतिपादन को सश्रद्ध सुनें ॥ १ ॥ हे देवताओं ! 'मैं' यह शब्द और अनुभव जिसे विषय करता है वह परम ज्ञान ही हम सबका आत्मा है । (स्वरूपतः अविषय भी आत्मा अहंकर्तृत्वादिविशिष्ट रूप से विषय बन जाता है इत्यादि अध्यासटीकाओं में विस्तार देखना चाहिये ।) यह परमज्ञानरूप (चिन्मात्ररूप) स्वयं शिव ही अपनी अविद्या से अपने स्वरूपभूत शिवत्व को न जानने के कारण संसारी की तरह प्रतीत होता है ॥ २-३ ॥ गुरुपरम्परा से लब्ध और वेदविहित ढंग से दृढ मुमुक्षा पाकर तथा शम आदि साधनों से और शिवभक्ति से युक्त हो गुरु के चरणों में प्रणाम कर साधक यदि उपनिषदों के महावाक्यों का श्रवण, मनन और परमात्मा का ध्यान करता है तो प्रत्यगात्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान पाकर परम शिव को प्राप्त हो जाता है ॥ ४-६ ॥ 'मैं' शब्द से उपलक्षित अद्वितीय प्रत्यगात्मा को शिव जानने से ही अपने परिपूर्ण स्वरूप से अवस्थिति संभव है । ('कादाचित्कतया

---

१ स्वत्वं चाश्रयविषयत्वाभ्याम् । २ संसारीवावभासोऽविज्ञानं चैककालिकमिति व्यादाय मुखं शेत इतिवत्प्रयोगः । अविज्ञानस्याकर्तव्यत्वान्नेह पूर्वमज्ञानं कृत्वेत्यर्थः । ३ घ. °परया तत्क्रमे° । ङ. °रायातक्र° ।

शिवरूपतया भातेऽहंशब्दार्थे मुनीश्वराः । अविद्या विलयं याति विद्यया परयैव तु ॥ ८ ॥

विद्यया परयाऽविद्यानिवृत्तौ ब्रह्म केवलम् ।

शिष्यते खलु [1]नाभावो भावो नान्यस्तथाऽपि च ॥ ९ ॥

प्रत्यगात्मानमिति । शान्तिदान्त्यादिभिः श्रवणमननादिभिश्चोत्पन्नज्ञानेन साक्षिचिन्मात्ररूपं सुखदुःखादिसकलद्वंद्वनिर्मुक्तं त्वमहंशब्दाभ्यां लक्षितमपरिच्छिन्नपरशिवरूपेण **सम्यक्पश्यन्**साक्षात्कुर्वंस्तत्समकालमेव **स्वात्मनः** परिपूर्णतां प्राप्नोति । श्रुतिरपि ज्ञानसमकालमेव[2] सार्वात्म्यप्राप्तिं विदुषो दर्शयति–"तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति ॥ ७ ॥ ८ ॥ **शिष्यते खलु नाभाव** इति । भावा[3]भावात्मकस्य सकलस्याविद्यापरिकल्पितत्वात्तस्याश्च प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन सदसद्विलक्षणत्वाद्विद्यया तन्निवृत्तौ **केवलं** ब्रह्मैवावशिष्यते । न तु भावात्मकमभावात्मकं वा किंचित्परिशिष्यते ॥ ९ ॥ ननु तस्यामवस्थायामविद्यानिवृत्तिरप्यस्ति न वा । न चेदविद्यैव विद्यत इति कथं केवलपरिशेषः[4] । अस्ति चेत्सा निवृत्तिरपि परिशिष्यत इत्यत आह– **व्यवहारेति** । **व्यवहारदृष्ट्यैवाविद्या तन्निवृत्तिश्च कथ्यते** । परमार्थदृष्ट्या तु ते उभे अपि न स्त इत्यर्थः । अत एवोक्तमाचार्यैः–"अस्यां विद्येत्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते" ॥ इति ॥ किं तर्हि तत्त्वदृष्ट्या भासत इति तदाह–**तत्त्वेति** । एतच्च पञ्चमेऽध्यायेऽपि प्रतिपादितम्–'व्यावहारिकमज्ञानमपि[5] ब्रह्मैव वस्तुत' इत्यादिना । तस्मात्तत्त्वदृशः स्वदृष्ट्या भावाभावादिभेदाश्रितं कृत्स्नं जगत्कारणभूतब्रह्मात्मनैवावभासत इति प्रतिपादयति–**जगद्रूपतयेत्यादिना** ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

भेद-धीहेतुरुपलक्षणम्' आदि कारिकानुसार उपलक्षण उसे कहते हैं जो वस्तुतः परिवर्तन न करते हुए ही परिवर्तन–व्यावृत्ति–की प्रतीति करा दे और जिसमें परिवर्तन प्रतीत करायें स्वयं उससे सदा सम्बद्ध प्रतीत न हो, कुछ समय के लिये ही उससे सम्बद्ध लगे । उदाहरण के लिये 'कौवे वाला घर देवदत्त का है' ऐसा कहने पर कौवा घर का उपलक्षण है कारण कि कौवा घर से सदा सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता, बोलते-सुनते समय ही उससे संबद्ध प्रतीत होता है, तथा अन्य घरों से उस घर को अलग कर दिखा देता है यद्यपि घर में कोई परिवर्तन नहीं करता । ऐसे ही 'मैं' शब्द और 'मैं' ज्ञान आत्मा के उपलक्षण हैं । अनात्मा से पृथक् कर आत्मा का ज्ञान कराना इनका काम है पर न ये उसमें कोई परिवर्तन करते हैं और न सदा उससे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं ।) ॥ ७ ॥ 'मैं' शब्द का वास्तविक–लक्ष्य–अर्थ आत्मा जब शिवरूप से भासता है तब उस भानकी प्रयोजकीभूत पराविद्या से अविद्या विलीन हो चुकती है ॥ ८ ॥ या परा विद्या से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर केवल ब्रह्म बचता है । अभाव या भाव रूप अन्य कुछ नहीं बचता ॥ ९॥ अविद्या और उसकी निवृत्ति व्यवहारदृष्टि से ही कही जाती है । तत्त्व की दृष्टि से न अविद्या है (अतः) न उसकी निवृत्ति ॥ १० ॥ केवल ब्रह्म ही ब्रह्मरूप से भासता है । जगद् रूप से भी यह ब्रह्म ही भास रहा है । विद्या, अविद्या, भाव, अभाव, गुरु शिष्य आदि भेदों से भासने वाला महादेव ही है । (अतः

---

१ ब्रह्मसिद्धिकाराद्यभिमतं भावाद्वैतं प्रत्याचष्टे–नाभावइति । २ क्षणमपि यदि विद्याऽविद्ययाऽऽस्ते सहैव कथमपि नहि नाशः संभवेद्विद्ययाऽस्याः इति मतिसमकालं निश्चितो ध्वान्तनाशो भवति च सकलाप्ति र्ह्यात्ममायानिवृत्तेः ॥ ३ घ. °वात्म° । ४ झ. °वलं प्° । ५ ध. °ज्ञातम° ।

व्यवहारदृशाऽविद्या तन्निवृत्तिश्च कथ्यते ।
तत्त्वदृष्ट्या तु नाविद्या तन्निवृत्तिश्च हे सुराः ॥ १० ॥
ब्रह्मरूपतया ब्रह्म केवलं प्रतिभासते । जगद्रूपतयाऽप्येतद् ब्रह्मैव प्रतिभासते ॥ ११ ॥
विद्याविद्यादिभेदेन भावाभावादिभेदतः । गुरुशिष्यादिभेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते ॥ १२ ॥
ब्रह्म सर्वमिति ज्ञानं ब्रह्मप्राप्तेस्तु साधनम् । जगन्मायेति विज्ञानमज्ञानं फलतो भवेत् ॥ १३ ॥
तथाऽपि परमाद्वैतज्ञानस्येदं तु वेदनम् । उपकारकमत्यन्तं[1] तद्दृष्ट्वा वक्ति च श्रुतिः ॥ १४ ॥
यथा भातस्वरूपेण सत्यत्वेन जगच्छ्रुतिः । अङ्गीकृत्य हितं नृणां कदाचिद्वक्ति सादरम् ॥ १५॥
सत्यत्वेन जगद्भानं संसारस्य प्रवर्तकम् । असत्यत्वेन भानं तु संसारस्य निवर्तकम् ॥ १६ ॥

अज्ञानं फलत इति । ब्रह्मात्मना यत्सर्वजगद्विषयं ज्ञानं तद् ब्रह्मप्राप्तिसाधनम् । यत्तु ततोऽन्यत्वेन जगद्विषयं ज्ञानं फलतस्तदज्ञानमेव अन्यथावस्थितस्यान्यथाग्रहणादित्यर्थः ॥ १३ ॥ किमर्थं तर्हि "आत्मन आकाशः संभूतः" इत्यादिकया सृष्टिश्रुत्या भेदेन जगत्प्रतिपादनमित्यत आह–**तथाऽपीति** । जगदध्यारोपापवादयोः सतोर्निष्प्रपञ्चमद्वैतं ब्रह्म प्रत्येतुं शक्यते । अतस्तत्प्रत्युपकारकत्वेन द्वैतजगद्वर्णनमित्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु जगन्मिथ्याभूतं चेत्कथं तर्हि "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" इत्यादिका श्रुतिः साध्यसाधनभावं प्रतिपादयतीति ? तत्राऽऽह–**यथेति**। **सत्यत्वेन जगदङ्गीकृत्य** सा श्रुतिः साध्यसाधनभावमात्रप्रतिपादनपरा, न तु तस्य पारमार्थिकं सत्यत्वं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ **सत्यत्वेन जगद्भानमित्यादि** । यत्पारमार्थिकसत्यतया जगद्भानं तन्मिथ्याज्ञानत्वात्संसारस्य हेतुः । असत्यतया तज्ज्ञानं तु परमार्थत्वात्संसारनिवर्तकम् ॥ १६ ॥

अविद्या, संसार, जीवभाव आदि कोई तत्त्वान्तर है ही नहीं जो निवृत्त हों । यही परमाचार्यों का 'उत्तम सत्य' है ।) ॥ ११–१२ ॥ सब ब्रह्म है यह ज्ञान ब्रह्म-प्राप्ति का साधन है । (सब ब्रह्म है का अर्थ ही यह निकलता है कि सब नाम की कोई चीज़ नहीं, एक ब्रह्म ही है ।) जगत् माया है इत्यादि अनुभव प्रतीत तो ज्ञान होते हैं किन्तु फलतः है अज्ञान ही ॥ १३ ॥ फिर भी परम अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति में अत्यन्त उपकार यह ज्ञान करता है कि जगत् माया है । इस उपकारकता को जानकर ही श्रुति ने ऐसा बताया है ॥ १४ ॥ कभी कभी श्रुति जैसा प्रतीत होता है वैसा ही जगत् को सत्य मानकर अवान्तर तात्पर्य रूप से लोगों के हित के उपाय बता देती है । (कर्मादि विधान श्रुति इसीलिये करती है कि उससे शनैःशनैः बुद्धिशुद्धि आदि द्वारा पर-प्राप्ति हो । द्वैतसत्त्यत्व प्रतिपादन में श्रुति का कहीं तात्पर्य है ही नहीं ।

---

१ सर्पो नेत्युक्तिं नाना रज्जूरज्जुरिति वहुवारमपि वचनं प्रत्यक्षमुपलब्धमहिं वाधितुं नोत्सहेत, स्याद्रज्जुरपि कुत्रचित्पुरतस्तु भुजंगइत्येव वुद्ध्युदयात् । सर्पोनेत्यनूद्य निषेध आवश्यकः । तत्र भवति पृच्छा-रज्जुश्चेत्कथं सर्पो दृश्यत इति । तदा कयाचित्प्रक्रियया वोध्यते । एवं नेह नानेत्युक्ते शंका कुत एतदुपलभ्यत इति । तत्र श्रुतिरुपलब्धस्य तुच्छत्वं जानन्त्येव दर्शनमुपपादयति–आत्मनआकाश इत्यादिना । न हि सृष्ट्यादिप्रपंचः प्रतिपिपादयिषितः । यथा लोक आख्यायिकया कश्चनार्थः सुखमववोध्यत एवमद्वयवेधनायार्थवादोयम् । एतच्च तत्र तत्राचार्यैर्व्यक्तं यथैतरेयके द्वितीयाध्यायआदौ ।

अतः संसारनाशाय कदाचित्परमा श्रुतिः । जगत्सर्वमिदं माया वदत्यत्यन्तनिर्मला ॥ १७ ॥

अतीव पक्वचित्तस्य चित्तपाकमपेक्ष्य सा । सर्वं ब्रह्मेति कल्याणी श्रुतिर्वदति सादरम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मैव केवलं शुद्धं विद्यते तत्त्वदर्शने ।

न च विद्या न चाविद्या न जगच्च न चापरम् ॥ १९ ॥

अतः परमनिर्वाणनिष्ठस्य परयोगिणः । यथा यथाऽवभासोऽयं शिव एव न चापरम् ॥ २०॥

भूतपूर्वानुसंधानात्कथ्यते न च वस्तुतः । यथा यथाऽवभासोऽयं शिव इत्यपि वेदनम् ॥ २१ ॥

न हि निर्वाणनिष्ठस्य शिवस्य परयोगिणः । यथा यथेति यत्किंचिद्भासते परमार्थतः ॥ २२ ॥

[1]तथा तथाऽवभासेन स्वेन रूपेण केवलम् ।

स्तिमितोदधिवद्योगी स्वयं तिष्ठति नान्यथा ॥ २३ ॥

परमा श्रुतिरिति । "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं परमेश्वरम्" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" "मायामात्रमिदं द्वैतम्"[2] इत्यादिका श्रुतिः ॥ १७ ॥ **सर्वं ब्रह्मे**ति । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यादिका श्रुतिः प्रतीयमानस्य कृत्स्नस्य जगतोऽखण्डैकरसब्रह्मात्मत्वं बोधयतीत्यर्थः ॥ १८ ॥ १९ ॥ **यथा यथाऽवभास** इति ब्रह्मनिष्ठस्य येन येन प्रकारेण जगत्प्रतिभासस्तेन तेन सर्वेणापि प्रकारेण तत्तत्साक्षिभूतः शिव एवावभासते न चान्यत्किंचिदित्यर्थः ॥ २० ॥ **भूतपूर्वे**ति । योऽयं सर्वजगद्विषयोऽवभासः स[3] एव शिव इत्येवंरूपा या बुद्धिः साऽपि भूतपूर्वगत्या, तदानीं सर्वस्य जगतोऽप्रतिभासनात् । भूतपूर्वगत्याश्रयणेनेदृशी बुद्धिः साऽपि तदानीं न संभवतीत्याह–**यथे**ति । ईदृग्विधस्य[4] वेदनस्याप्यविद्याकार्यत्वेन कारणनिवृत्त्या निवृत्तत्वादित्यर्थः । **स्तिमितोदधिवदि**ति । निस्तरङ्गसमुद्रवद्विक्षेपहेतोर्द्वैतस्याभावादत्यन्तनिर्विकल्पेन चिदानन्दैकरसस्वभावेन निश्चलं[5] तिष्ठतीत्यर्थः[6] ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

अपढ़ लोग 'विश्वं सत्त्यम्' इत्यादि अर्धवचनों के उद्धरण से घोषणा करते हैं कि जगत् सत्त्यत्व श्रौत है किन्तु मधुसूदनादि आचार्यों ने उन पूरे मंत्रों का उद्धरण कर स्पष्ट किया है कि 'विश्वं सत्यम्' का जगत् सत्य है अर्थ करने पर मंत्र में कोई अन्वय ही नहीं होता ! वहाँ तो 'कर्मफल अवश्य होता है' इतना ही 'विश्वं सत्यम्' का अर्थ है । बल्कि जहाँ कहीं 'प्राणा वै सत्त्यम्' आदि से प्रपंच सत्त्यत्व उक्त भी है वहाँ तुरंत श्रुति ने इस भ्रम के निवृत्त्यर्थ जोड़ दिया है 'तेषामेष सत्त्यम्' । समस्त श्रौत साहित्य में पारीण भाष्यकारादि समस्त आचार्यों की घोषणा है कि वेद में कहीं भी जगत्-सत्त्यत्व प्रतिपादित नहीं है, तात्पर्यविषयीभूत नहीं है ।) ॥ १५ ॥ जगत् का सत्यरूप से भान संसार का प्रवर्तक है तथा जगत्

---

१ यथा मोक्षस्थितिर्भवति तथोच्यतइत्याद्यतथाशब्दार्थः । द्वितीस्तथाशब्दश्चार्थः । 'तथाभ्युपगमे पृष्टप्रतिवाक्ये समुच्चये सदृशे निश्चयेऽपि स्यादि'ति मेदिनी । स्वेन रूपेण अवभासेन ज्ञानात्मना च केवलं तिष्ठतीत्यन्वयः । स्वेनेति प्रत्यक्सत्त्वमुच्यतेऽवभासेनेति चित्त्वम् । २ मायापदं प्रज्ञामप्याहेति श्रुतौ सन्देहसम्भावनायां स्मृतिसम्वलितोऽर्थस्तद्विरुद्धार्थाद्बलीयानिति 'स्मृत्यनुग्रहादपि अयमेव श्रुत्यर्थो ग्राह्य इत्याह-स्मर्यते चेति' (४.२.१४) इति भाष्यम् । अतोऽत्र गौडपादीयां स्मृतिमपि श्रुतिभ्यां सह पपाठ । ३ च. छ. स शिव एवेत्ये° । ४ झ. °धस्यास्य । ५ च. °श्चलस्तिष्ठ° । ६ यदि स्वकीयावस्थानिमित्त आग्रहः स्यात्ततश्च जीवन्मुक्तविदेहमुक्तयो र्भेद आदरः स्यात्तदाऽवभासवत्यवस्थाऽऽद्यस्य तद्रहितेतरस्येति व्यवस्थापनीयम् । वस्तुतस्तु स्वप्नोत्थितो बाधितमपि स्वप्नं यथा न पश्यत्येवं विद्वान्न जगद्भेदं पश्यतीति दिक् ।

परनिर्वाणनिष्ठस्य योगिनः परमां स्थितिम् ।

स्वयं च न विजानाति न हरिर्न महेश्वरः ॥ २४ ॥

न मया च परिज्ञातुं शक्यते योगिनः स्थितिः ।

नापि वेदेन मानेन न च स्मृतिपुराणकैः ॥ २५ ॥

अहो निर्वाणनिष्ठस्य योगिनः परमा स्थितिः ।

यादृशी परमा निष्ठा तादृश्येव हि केवलम् ॥ २६ ॥

एवंरूपा परा निष्ठा शिवस्यास्ति स्वभावतः । शिवायाश्चाम्बिकाभर्तुः प्रसादेन हरेरपि ॥ २७ ॥

स्वयं च न विजानातीति । स्वप्रकाशब्रह्मात्मनाऽवस्थितस्य विदुषो विज्ञानहेतूनामन्तःकरणादीनामविद्याकार्यत्वाद्विद्यया तन्निवर्तनात्स्वयं विद्वानपि तामवस्थां कर्मकर्तृभावेन न जानातीत्यर्थः ॥ २४–३६ ॥

असत्य है—सत्य नहीं है—ऐसा भान संसार निवृत्त करता है ॥ १६ ॥ अतः संसार समाप्त करने के लिये कभी अत्यन्त निर्मल सर्वश्रेष्ठ श्रुति 'यह सारा जगत् माया है' ऐसा कहती है ॥ १७ ॥ जिस साधक का चित्त सत्त्व को समझने के लिये तैयार हो चुका है उसके लिये श्रुति तात्पर्यतः बताती है 'सब ब्रह्म है' । तत्त्वतः केवल शुद्ध ब्रह्म ही है, न विद्या है, न अविद्या है, न जगत् है, न और कुछ ॥ १८–१९ ॥ परम-मोक्षरूप ब्रह्म में नितरां स्थित परयोगी को जैसा-जैसा अवभास होता है वह (अवभास) शिवरूप ही है, अन्य कुछ नहीं । किन्तु यह भी मोक्ष से पूर्व की स्थिति को दृष्टि में रख ही कहा गया है । मोक्षरूप ब्रह्म में स्थित स्वयं शिव ही है, उसे अवभास कहाँ ? परयोगी को परमार्थतः 'जैसा-जैसा' इत्यादि से कहा किसी भी चीज़ का भान नहीं होता । जैसा मोक्ष में होता वैसा यह है— वह केवल अपने स्वरूप से और अवभास से—ज्ञानात्मना—स्वयं ही रहता है । निस्तरंग समुद्र की तरह अन्य किसी भी 'प्रकार' से रहित वह रहता है ॥ २०–२३ ॥ परम मोक्ष को प्राप्त योगी की परा स्थिति न वह स्वयं जानता है, न विष्णु या महेश । योगी की स्थिति मेरे द्वारा भी नहीं जानी जा सकती । वेद, स्मृति, पुराण या अन्य प्रमाण भी उसे नहीं जानते । (शंका यह नहीं करनी चाहिये कि स्वयं अपनी स्थिति नहीं जानता तो मुक्त जडवत् हो जायेगा । यहाँ भेदेन ज्ञान का निषेध है । ज्ञानकी अवस्थिति तो पूर्वश्लोक में 'अवभासेन' द्वारा कही जा चुकी है । शाकल्य ब्राह्मण के अन्त में 'आनन्दम्ब्रह्म' आदि के आधार पर भाष्य में मुक्त के अनुभव की परीक्षा की गयी है, वहीं से इस विषय को स्पष्ट समझना चाहिये ।) ॥ २४–२५ ॥ अहो ! धन्य है मुक्त की स्थिति । वह जैसी है वैसी ही है (हमारे किसी अनुभूत से उसका तालमेल नहीं कि हम किसी दृष्टांत से समझ पायें, जैसे क्वारी बच्ची विवाह न होने तक स्त्रीसुख नहीं समझ पाती, सैकड़ों दृष्टान्तों से भी उसका पूर्ण बोध नहीं कराया जा सकता, ऐसे ही अमुक्त को मुक्त की स्थिति तब तक समझ नहीं आ सकती जब तक वह स्वयं मुक्त न हो ।) ॥ २६ ॥ यह परम स्थिति शिव की स्वाभाविक है । पति की कृपा से अम्बिका महादेवी को भी यह प्राप्त है । हरि, मुझे व अन्यों को भी इसकी प्राप्ति शिवकृपा से हुई है । महेश्वर निरुंकश हैं । नित्य, साक्षाद्रूप महादेव का स्वरूप ही ऐसा है (निरंकुश है, मुक्त है) ॥ २७–२८ ॥ ऐसी परम स्थिति तब अनायास मिलती है जब कर्म क्षीण होने पर गुरु

तथा ममापि चान्येषां न चोद्यार्हो महेश्वरः ।
तादृग्रूपो महादेवः खलु साक्षात्सनातनः ॥ २८ ॥
ईदृशी परमा निष्ठा गुरोः साक्षान्निरीक्षणात् ।
कर्मसाम्ये त्वनायासात्सिध्यत्येव न संशयः ॥ २९ ॥
देशिकं देवदेवेशं शिवं विद्याद्विचक्षणः । तदिष्टं सर्वयत्नेन प्रकुर्यात्सर्वदाऽऽदरात् ॥ ३० ॥
स्वस्यानिष्टमपि प्राज्ञः प्रकुर्याद्गुरुणोदितः । गुरोरिष्टं प्रकुर्वाणः परं निर्वाणमृच्छति ॥ ३१ ॥
स्वाश्रमं च स्वजातिं च स्वीकीर्तिं च तथैव च ।
स्वादृष्टं लोकविद्विष्टं बन्धुपुत्रादिसंगमम् ॥ ३२ ॥
गृहक्षेत्रधनादीनां हानिं क्लेशं सुखं तथा । अनवेक्ष्य गुरोरिष्टं कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥ ३३ ॥
गुरौ प्रीते शिवः साक्षात्प्रसन्नः प्रतिभासते ।
गुरोर्देहे महादेवः साम्बः संनिहितः सदा ॥ ३४ ॥
गुरोरनिष्टं मोहाद्वा न कुर्यात्कुरुते यदि । पच्यते नरके तीव्रे यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ३५ ॥
शिवे क्रुद्धे गुरुस्त्राता गुरौ क्रुद्धे न कश्चन ।
तस्मादिष्टं गुरोः कुर्यात्कायेन मनसा गिरा ॥ ३६ ॥

साक्षात् दृष्टिपात करते हैं । ('यत्कटाक्षशशिसान्द्रचन्द्रिका' (विवेकचूक. ४८८), 'त्वत्कटाक्षवरचान्द्रचन्द्रिका' (सर्ववे. ९३२) आदि अन्यत्र भी गुरु की कृपादृष्टि को मोक्षोपाय कहा है ।) ॥ २९ ॥ गुरु को महादेव शिव ही समझना चाहिये । हमेशा वही करने में तत्पर रहना चाहिये जो उन्हे इष्ट हो ॥ ३० ॥ गुरु कहे तो वे काम भी कर लेने चाहिये जो अपने को अनिष्ट हों । गुरु की इच्छानुसार कार्य करने वाला परममोक्ष पा जाता है ॥ ३१ ॥ अपने आश्रम, जाति, कीर्ति, पुण्यादि, लोकनिंदा, बन्धु पुत्रादि की संगति इत्यादि का विचार किये बिना सदा जागरूक हो गुरु की इच्छानुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ ३२–२३ ॥ गुरु प्रसन्न हो तो निश्चित है शिव ही प्रसन्न है । गुरु के शरीर में साम्ब सदाशिव हमेशा स्थित रहते हैं ॥ ३४ ॥ अज्ञान से भी गुरु का अनिच्छित कार्य नहीं करना चाहिये । यदि गुरु जो नहीं चाहते वह कार्य किसी शिष्य से हो जाये तो उसे दीर्घकाल तक नरकयातना भोगनी है इसमें संदेह नहीं ॥ ३५ ॥ शिव क्रुद्ध हो जाये तो गुरु रक्षा करने वाले हैं पर गुरु क्रुद्ध हो जाये तो कोई रक्षक नहीं । अतः देह, मन व वाणी से गुरु का इष्ट ही करना उचित है ॥ ३६ ॥ वस्तुतः गुरु अपने से अन्य नहीं है और अपना लाभ ही परम लाभ प्रसिद्ध है (अतः गुरु का लाभ–इष्टाचार–अपना ही लाभ है) ॥ ३७ ॥ अनात्मरूप शरीर देने वाला तो पिता

गुरुर्नामाऽऽत्मनो नान्यः सत्यमेव न संशयः ।
आत्मलाभात्परो लाभो नास्ति नास्ति न संशयः ॥ ३७ ॥
अनात्मरूपं देहादि यो ददाति पिता तु सः[1] ।
न गुरुः कथितः प्राज्ञैः क्लेशहेतुप्रदो हि सः ॥ ३८ ॥
अष्टैश्वर्यप्रदस्तद्वद्गन्धर्वादिपदप्रदः । सार्वभौमप्रदश्चापि न गुरुः क्लेशदो हि सः ॥ ३९ ॥
मन्त्रतन्त्रादिदस्तद्वल्लौकिकोपायदस्तथा ।
न गुरुः कथितः प्राज्ञैः क्लेशहेतुप्रदो हि सः ॥ ४० ॥
सत्यवत्सकलं भातं निश्चित्यासत्यरूपतः । सर्वसाक्षितयाऽऽत्मानं विभज्य परचेतनम् ॥ ४१ ॥
यस्त्वं तदिति वेदान्तप्रदीपेन स्वकं निजम् ।
शिवत्वं बोधयत्येष गुरुः साक्षान्न चापरः ॥ ४२ ॥

आत्मनो नान्य इति । परमात्मनो न व्यतिरिक्तः स एव गुरुमूर्तिमास्थायावतिष्ठते । उक्तं हि[2] तत्त्वप्रकाशे— "योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः" इति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ **सत्यवत्सकलमिति** । सन्घटः सन्पट इत्यादिना **सत्यवत्प्र**तिभातमपि कृत्स्नं द्वैतरूपम**सत्यरूपेण निश्चित्य** देहेन्द्रियादिसंघातसाक्षिचिन्मात्ररूप**मात्मानं** ततो विभज्यानवच्छिन्नचिदात्मकं यत्परं ब्रह्म **तदेव त्वम**सीति वेदान्तमहावाक्यलक्षणेन **प्रदीपेनैवं** ब्रह्मात्मतत्त्वं **बोधयत्येष** एव साक्षाद् गुरुर्नान्यः । निःशेषदुःखोच्छित्तिनिरतिशयानन्दावाप्तिलक्षणस्य पुरुषार्थस्य प्रापकत्वादित्यर्थः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

है, गुरु नहीं । पिता तो वस्तुतः देहादि देकर क्लेश देने वाला ही है ॥ ३८ ॥ आठों ऐश्वर्य, गंधर्वादि पद, सार्वभौमता आदि देने वाले भी इसी तरह वस्तुतः दुःख देने वाले हैं ॥ ३९ ॥ मंत्र, तंत्र आदि तथा लौकिक उपाय (शिक्षादि) प्रदान करने वाले भी फलतः क्लेशकारी ही हैं, गुरु नहीं ॥ ४० ॥ (सर्वस्व जिसके लिये न्यौछावर करना है उसका स्वरूप बताते हैं जिससे इन शंकाओं का निराकरण हो जाये कि 'गुरु बनाने के बाद पता चले कि वे योग्य नहीं हैं तो क्या करें ?' इत्यादि, क्योंकि यदि वक्ष्यमाण लक्षण है तो चाहे जितने वे अयोग्य लगें, हैं गुरु ही और यदि यह लक्षण न हो तो चाहे जितने योग्य लगें, गुरु नहीं हैं ।—) सारा संसार जो सत्य की तरह प्रतीत हो रहा है, उसके विषय में यह निश्चय करा कर कि वह असत्य ही है और परम चेतन आत्मा को अनात्मा से पृथक् कर सर्वसाक्षिरूप से समझाकर तत्त्वमस्यादि वेदान्तरूप दीपक से अपनी (साधक की) निजी शिवरूपता का बोध जो कराता है वही साक्षात् गुरु है, अन्य कोई नहीं ॥ ४१—४२ ॥ इस सारे दृश्यरूप वाले प्रपंच को दृग्रूप से विलीन करा कर जो दृग्रूप को ब्रह्म बताता है वही गुरु है । (दृग्रूप ही है दृश्यरूप नहीं—यही विलय है ।) ॥ ४३ ॥

---

१ घ. छ. झ. सः । गुरुर्हि क° । २ सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहेपि 'ईशः स्वयं साक्षाच्छ्रीगुरुरूपमेत्य तारयती'त्युक्तम् (श्लो. २५४) ।

दृश्यरूपमिदं सर्वं दृग्रूपेण विलाप्य च ।

दृग्रूपं ब्रह्म यो वक्ति स गुरुर्नापरः पुमान् ॥ ४३ ॥

परमाद्वैतविज्ञानं कृपयैव ददाति यः । सोऽयं गुरुगुरुः साक्षाच्छिव एव न संशयः ॥ ४४ ॥

तादृशं देशिकं साक्षाद्वेदान्ताम्बुजभास्करम्[1] । तोषयेत्सर्वयत्नेन श्रेयसे भूयसे नरः ॥ ४५ ॥

सर्ववेदान्तवाक्यानामर्थः संग्रहरूपतः । कथितश्च मया देवा मामाह[2] परमेश्वरः ॥ ४६ ॥

सर्वज्ञः सर्ववित्साक्षादाप्तकामः कृपाकरः । सर्वदोषविनिर्मुक्तः सत्यमेवाब्रवीन्मम ॥ ४७ ॥

यथाऽऽह सर्ववेदानामर्थं सर्वज्ञ ईश्वरः ।

तथैव कथितोऽस्माभिः सत्यमेव न संशयः ॥ ४८ ॥

स्वप्रकाशस्वरूपस्य स्वतःशुद्धस्य शूलिनः । करामलकवत्सर्वं प्रत्यक्षं हि न संशयः ॥ ४९ ॥

वेदानामन्यथैवार्थं ये वदन्ति विमोहिताः ।

महासाहसिका[3] एव ते नरा न हि संशयः ॥ ५० ॥

तदेव प्रपञ्चयति–दृश्यरूपमित्यादिना ॥ ४३ ॥ गुरुगुरुरिति । गुरवः पित्राद्यास्तेषामप्यसौ विद्वान्गुरुः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ प्रतिज्ञातमर्थमुपसंहरति–सर्ववेदान्तेति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ४६–५४ ॥

जो केवल कृपावश परम अद्वैत का विज्ञान प्रदान करता है वह गुरुओं का भी गुरु है, वह साक्षात् शिव ही है इसमें संदेह नहीं ॥ ४४ ॥ वेदान्तरूप मुकुलित कमल को विकसित करने वाले ऐसे गुरु को हर तरह से प्रसन्न करना चाहिये ताकि अपना अत्यधिक कल्याण हो (क्योंकि अभी हमें वेदान्तों का ज्ञान नहीं हो पा रहा इसलिये वे मानो बंद कमल हैं । गुरु रूप सूर्य ही उन्हें खिला सकते हैं, हमें साक्षात्कार करा सकते हैं । सर्वज्ञगुरु ने आश्चर्य व्यक्त किया है कि अनादिकाल से सारी श्रुतियों के रहते मुझे ज्ञान हुआ क्यों नहीं ? निदान यही है कि गुरु नहीं मिला था । गुरु मिलते ही बाकी सामग्री सार्थक हो गयी । 'आसीत्पुरेति किमिमाः श्रुतयो न पूर्वं येन द्वितीयमभवत् तिमिरप्रसूतम् ॥ ....त्वत्पादपद्मयुगलाश्रयणादिदानीं नासीन्न चास्ति न भविष्यति भेदबुद्धिः ॥' ४.५७–५८ ॥) ॥ ४५ ॥ सारी उपनिषदों के अर्थ का संग्रह मैंने आप को सुना दिया । मुझे परमेश्वर से यह ज्ञान मिला है ॥ ४६ ॥ सर्वज्ञ, सर्ववित्, अपरोक्ष, पूर्णकाम, कृपा की खान तथा सब दोषों से रहित शिव ने मुझे इस सत्य का उपदेश दिया ॥ ४७ ॥ जैसा शिव ने मुझे समझाया था वैसा ही मैंनें आपको सुनाया है (न कोई वक्तव्य छोड़ा है न अपनी बुद्धि से अन्यथा किया है) । ॥ ४८ ॥ स्वप्रकाश, स्वतःशुद्ध त्रिशूलधारी को सत्त्व वैसे ही प्रत्यक्ष है जैसे हाथ में रखा आँवला ॥ ४९ ॥ इससे अन्य तरह से जो व्याख्याता वेद का अर्थ करते हैं वे निःसंशय विचारशून्य

---

१ शिष्यधीपद्मिनी रवीनिति भट्टपादोऽपि गुरुं तुष्टाव । २ घ. ङ. ममाऽऽह । ३ 'साहसन्तु दमे दुष्कृतकर्मणि अविमृष्यकृतौ धाष्टर्ये' इति हैमः । ततश्च साहसमविमृष्यकारित्वमेषामस्तीति साहसिकाअविचारका अविवेकिन इत्यर्थः ।

मदुक्तार्थप्रकारेण विना ये प्रवदन्ति ते । अन्धकूपे निरालम्बे पतन्त्येव न संशयः ॥ ५१ ॥

वेदार्थः परमाद्वैतं नेतरत्सुरपुंगवाः । नो चेदत्रैव मे मूर्धा पतिष्यति न संशयः ॥ ५२ ॥

अन्यथा वेदवाक्यानामर्थ इत्यभिशङ्कया । अनिश्चितार्थाश्चेन्मूर्धा युष्माकं च पतिष्यति ॥ ५३ ॥

इतः परं न वक्तव्यं विद्यते सुरपुंगवाः ।

सत्यमेव मया प्रोक्तं शंभोः पादौ स्पृशाम्यहम् ॥ ५४ ॥

सूत उवाच– एवमुक्त्वा महातेजा ब्रह्मा च सुरपुंगवान् ।

प्रत्यग्भूतं परानन्दं पार्वतीपतिमीश्वरम् ॥ ५५ ॥

परमाद्वैतरूपं तं भवरोगस्य भेषजम् ।

स्मृत्वा नत्वा पुनः स्तुत्वा भक्त्या परवशोऽभवत् ॥ ५६ ॥

देवाश्च देवदेवेशं स्मृत्वा साम्बं त्रियम्बकम् । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ विवशा अभवन्मुदा ॥ ५७ ॥

देवदेवो महादेवो महाकारुणिकोत्तमः । तत्रैवाऽऽविरभूद्देव्या सह सत्यतपोधनाः ॥ ५८ ॥

एवमुक्त्वेत्यादि सूतवाक्यम् ॥ ५५–७५ ॥

हैं ॥ ५० ॥ मैंने जैसे सब श्रुतियों की एकवाक्यता समझाई है इससे यदि कोई विपरीत–एकवाक्यता न मानते हुए–व्याख्या करता है तो वह अवश्य ऐसे अँधेरे कुएँ में गिरता है जिसका कोई तल है ही नहीं (अतः गिरता ही जाता है) ॥ ५१ ॥ वेदों का प्रतिपाद्य अर्थ अद्वैत ही है और कुछ नहीं । यदि ऐसा न हो तो मेरा सिर अभी कट कर गिर जाये । (श्रुति, स्मृति, पुराण, महाभारत आदि सब सद्ग्रन्थों में पुनः पुनः सादर अद्वैत का नामतः प्रसंग सहस्रशः आया है । द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, आदि कपोलकल्पित मतवादों का कहीं उल्लेख नहीं । फिर भी जो उन पर विश्वास रखते हैं उनकी बुद्धि पर दया ही आती है ।) ॥ ५२ ॥ यदि आप लोग यह शंका कर कि शायद अन्य प्रकार का अर्थ ही वेदों का होगा, इस विषय में निश्चय वाले नहीं होंगे, संशयात्मा ही बने रहेंगे, तो आपका सिर कटकर गिर जायेगा, विनाश निश्चित है ॥ ५३ ॥ हे देवोत्तमो ! इससे अधिक अब कुछ वक्तव्य नहीं है । मैंने केवल सत्य का प्रतिपादन किया है । शंभु के चरण छूकर मैं इस गीता का उपेदश समाप्त करता हूँ ॥ ५४ ॥

सूत जी ने कहा–महातेजस्वी ब्रह्माजी ने देवताओं को यों विस्तार और संक्षेप से उपदेश देकर प्रत्यगात्मरूप, परमानंदात्मक, पार्वतीपति, ईश्वर, भवरोग की दवा, परम-अद्वैतस्वरूप शिव को स्मरण किया, उनकी स्तुति की और भक्ति-परवश हो गये ॥ ५५–५६ ॥ देवताओं ने भी त्रिलोचन को याद कर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ५७ ॥ परमकरुणामय महादेव भगवती उमा समेत वहीं प्रकट हुए ॥ ५८ ॥

विष्णुश्च पद्मया सार्धं तत्रैव[1] ब्रह्मवित्तमाः । आगतो भगवान्द्रष्टुमशेषसुरनायकम्[2] ॥ ५९ ॥

पुष्पवृष्टिरभवद्यथा पुरा स्वस्तिपूर्ववचनानि चाभवन् ।

तत्र भक्तिसहितेन विष्णुना पद्मया च परिपूजितः शिवः ॥ ६० ॥

शंकरोऽपि शशिशेखरः परस्त्वम्बयैव सहितः सनातनः ।

तत्र नृत्यमकरोदतिप्रभुः स्वस्वरूपपरवेदनप्रियात् ॥ ६१ ॥

सर्वलोकजननी शिवा परा पापनाशकरबोधदायिनी ।

ब्रह्मवज्रधरपूर्वकानिमान्स्वानुभूतिसहितेन[3] चक्षुषा ॥ ६२ ॥

विलोक्य कारुण्यबलेन केवलं प्रबोधयामास सुरोत्तमानिमान् ।

पुनः प्रजानाथपुरःसरा सुराः प्रनृत्यमानं तु शिवं शिवामपि ॥ ६३ ॥

त्वक्चक्षुषैव ददृशुः श्रुतिमस्तकोत्थविज्ञानरूपपरलोचनगोचरार्हम् ।

भक्त्या पुनः परमकारुणिकं महान्तं पञ्चाक्षरेण भवपाशहरेण पूज्य ॥ ६४ ॥

तुष्टुवुः श्रुतिवचोभिरादरान्नष्टकष्टभवपाशबन्धनाः ।

इष्टसिद्धिरभवद्धि वः सुरा इत्यवोचदशुभापहः शिवः ॥ ६५ ॥

उनका दर्शन करने को लक्ष्मी सहित नारायण भी वहाँ उपस्थित हो गये ॥ ५९ ॥ वहाँ पुष्पवर्षा और स्वस्तिवाचन होने लगा । लक्ष्मी नारायण ने महादेव का पूजन किया ॥ ६० ॥ स्वस्वरूप को परमात्मा समझने की प्रसन्नता से परमशिव ने नृत्य प्रारम्भ कर दिया ॥ ६१ ॥ पापों को नष्ट करने वाले ज्ञान को देने वाली सबकी परम माता शिवा ने ब्रह्मा, इन्द्र आदि सब देवताओं की ओर आत्मज्ञान-भरी दृष्टि से देखा तथा केवल करुणाकर उन्हें प्रबोधित किया । ब्रह्मादि देवों ने नाचते हुए शिव तथा भगवती हैमवती को चर्मचक्षुओं से ही देख लिया । वस्तुतः शिव उसी दृष्टि से देखे जाने योग्य है जो वेदान्तों से उत्पन्न अखण्डसाक्षात्काररूप परम लोचन है । (यह तो साम्बसदाशिव की करुणा ही थी कि देवों ने चर्मचक्षुओं से उनका दर्शन किया ।) फिर देवताओं ने भक्तिपूर्वक उनका भवपाशहारी पंचाक्षर मंत्र से पूजन किया ॥ ६२–६४ ॥ संसार के कष्टात्मक बंधन जिनके नष्ट हो चुके थे उन देवताओं ने वैदिक वचनों से शिवस्तुति की । अशुभनिवारक शंभु ने कहा कि आप लोगों का अभीष्ट सिद्ध हो चुका है ॥ ६५ ॥ शरण में

---

१ च. तथैव । २ ङ. छ. झ. °यकः । पु° । ३ शक्तिपाताध्याये (४ पूर्व. ३४-१३) गुरुरात्मदृष्ट्या शिष्यं पश्येदित्युक्तमिहानुसन्धेयम् ।

शांकरी च शरणागतप्रिया बन्धहेतुमलनाशकारिणी[1] ।
मत्प्रसादबललब्धवेदना इत्यवोचदभवन्नतिप्रिया[2] ॥ ६६ ॥
केशवोऽपि सुरपुंगवान्प्रति प्राह शंभुरयमद्भुतः[3] प्रभुः ।
सर्ववेदशिरसामगोचरः प्रीत एव भवतामिति द्विजाः ॥ ६७ ॥
देवोऽपि कारुण्यरसार्द्रमानसः सुरानशेषानजपूर्वकान्प्रति ।
उवाच गीतामतिशोभनामिमां ममानुकूलामपि यः पटेद् द्विजः ॥ ६८ ॥
स याति मामेव निरस्तबन्धनः परा शिवा वाचि सदैव वर्तते ।
दिवाकरेणापि समश्च तेजसा श्रिया मुकुन्देन समः सदा भवेत् ॥ ६९ ॥
एषा गीता ब्रह्मगीताभिधाना श्रुत्या युक्ता सर्वगीतोत्तमा च ।
वेदाकारा वेदनिष्ठैर्द्विजेन्द्रैर्भक्त्या पाठ्या नैव शूद्रादिभिश्च ॥ ७० ॥
इत्येवं परमशिवः प्रभाष्य नाथः शिष्टानामशुभहरः पुरत्रयारिः ।
भक्तानाममलसुखप्रबोधकारी तत्रैव स्फुरणसुखे तिरो बभूव ॥ ७१ ॥
देवी सा सकलजगद्विचित्रचित्रा कारुण्यादखिलसुरानजं विलोक्य ।
सुप्रीता परमसुखप्रबोधरूपा तत्रैव स्फुरणसुखे तिरो बभूव ॥ ७२ ॥

आये साधकों का सप्रेम कल्याण करने वाली तथा बन्धन के हेतुभूत मलों का नाश करने वाली भगवती पार्वती ने अत्यंत प्रसन्न होकर कहा कि मेरी कृपा से आप सभी को ज्ञान प्राप्त हो गया है ॥ ६६ ॥ केशव ने भी देवताओं से कहा कि ये शंभु अद्भुत प्रभु हैं । सारी उपनिषदें भी इनके निरूपण में अशक्त हैं, किन्तु आप पर ये प्रसन्न हैं (अतः इन्होंने आपको दर्शन दिया है ।) ॥ ६७ ॥ करुणा से द्रवित चित्त वाले महादेव ने भी ब्रह्मादि सब देवों से कहा 'जो द्विज इस शुभ 'ब्रह्मगीता' का–जो कि मेरी वास्तविकता के अनुकूल है– पाठ करेगा है वह सब बंधनों से छूट कर मुझे प्राप्त हो जायेगा । परा अम्बिका हमेशा उसकी वाणी पर रहेंगी । सूर्य के समान उसका तेज होगा तथा उसकी श्री सदा मुकुन्द के समान होगी ॥ ६८–६९ ॥ इस गीता का नाम है ब्रह्मगीता । सब गीताओं में यह उत्तम है तथा (बहुत स्थलों पर)

---

१ 'मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्ति हेतुश्च्युतिस्तथा । पशुत्वमूलं पञ्चैते तन्त्रे हेया विविक्तितः ॥' इत्यभियुक्ता मलानगादिषुः । २ ङ. छ. झ. "प्रियाः ॥ ६६ ॥ ३ 'अकिंचनः सन्प्रभवः स सम्पदामि'त्यादिना साहित्येप्यद्भुतत्वं शम्भोः प्रसिद्धतरम् ।

विष्णुर्लक्ष्म्या साकमाश्वास्य देवान्हृष्टस्तुष्टः स्वस्य वैकुण्ठमाप ।
ब्रह्मा देवानात्मविद्याभियुक्तांस्त्यक्त्वा रुद्रध्याननिष्ठो बभूव ॥ ७३ ॥
देवाः सर्वे दण्डवद्भूमिभागे भक्त्या सार्धं पद्मयोनिं प्रणम्य ।
हृष्टात्मानः सत्यबोधैकनिष्ठाः सद्यः स्वं स्वं देशमीयुर्द्विजेन्द्राः ॥ ७४ ॥
इत्थं साक्षाद् ब्रह्मगीता भवद्भिः शुद्धज्ञानैरादरेण श्रुतैव ।
मत्तः श्रद्धाभक्तियुक्तस्य विप्रा नित्यं देया नेतरस्यातिशुद्धा ॥ ७५ ॥
इति परशिवभक्त्या प्राप्तविद्यस्तु सूतः सुखघनशिवतत्त्वप्रापिकामेव गीताम् ।
मुनिगणहितबुद्ध्याऽऽभाष्य निर्वाणरूपं परतरमवलोक्य प्रज्ञया मौनमाप ॥ ७६ ॥
मुनयश्च गुरुं परवेदिनं प्रणिपत्य समस्तहितप्रदम् ।
हृदयस्थमहंपदलक्षितं परतत्त्वतयैव विदुः स्थिरम् ॥ ७७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु शिवस्याहंप्रत्ययाश्रयत्वं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इति परशिवभक्त्येति कविवाक्यम्[1] ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासश्रीक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीत्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थस्य यज्ञवैभवखण्डस्योपरिभागे ब्रह्मगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां शिवस्याहंप्रत्ययाश्रयत्त्वं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

समाप्तेयं ब्रह्मगीता

श्रुत्यक्षरों से ही यह घटित है । (अतः) इसका आकार वेद के समान ही है । वेदनिष्ठ उत्तम ब्राह्मण ही इसे पढ़ायें, शूद्रादि इसे न पढ़ाये ॥ ७० ॥' इतना कहकर परमशिव वहीं अंतर्धान हो गये । वे ही सबके नाथ हैं, शिष्टों के अशुभों को नष्ट करते हैं, त्रिपुरासुर के वे दुश्मन हैं, भक्तों को निर्मल व सुखात्मक ज्ञान देतें हैं । वे ज्ञानाभिन्नसुखस्वरूप में वहीं छिप गये ॥ ७१ ॥ ऐसे ही देवी भी करुणा से देवताओं की व ब्रह्मा की ओर देखकर स्वरूप में अंतर्हित हो गयीं । सारे विचित्र संसार को बनाने वाली वे हैं । परमानंद व परम ज्ञानरूप वे अत्यंत प्रसन्न थीं ॥ ७२ ॥ देवताओं को आश्वस्त कर लक्ष्मी सहित हरि भी वैकुण्ठ को चले गये । ब्रह्मा ने भी आत्मविद्या में प्रवीणता पा चुके देवों को छोड़ दिया और रुद्रध्यान में तत्पर हो गये ॥ ७३ ॥ देवताओं ने ब्रह्मा जी को दण्डवत् प्रणाम किया । सत्य ज्ञान में ही निष्ठा वाले तथा प्रसन्न हुए वे अपने-अपने स्थानों को चले गये ॥ ७४ ॥ हे ब्राह्मणो ! यों आप शुद्ध ज्ञान वाले लोगों ने मुझसे सादर यह ब्रह्मगीता सुन ली है । श्रद्धा-भक्ति वाले को ही यह सुनानी चाहिये अन्य को नहीं ॥ ७५ ॥

परमशिव की भक्ति से जिन्होंने विद्या पायी थी उन सूतजी ने सुखैकरूप शिवतत्त्व की प्राप्ति कराने वाली इस गीता को मुनिसमाज के हित की दृष्टि से सुनाया और मुक्तरूप परमतत्त्व का आलोचन कर मौन हो गये ॥ ७६ ॥ मुनियों ने भी परमात्मज्ञानी गुरु सूत जी को प्रणाम किया जिन्होंने समस्त हितों के साधक उपदेश दिये थे और हृदय में स्थित, 'मैं' शब्द से लक्षित प्रत्यगात्मा को ही परमतत्त्व जानकर वे सब उसी निश्चय पर स्थिर हुए ॥ ७७ ॥

---

१ कविर्व्यासः ।